समर्पण।

अनेक अनुपम गुणों के आधार,

रियासत कुर्री सुदौली (ज़िला रायबरेली) के

तअल्लुक़ेदार,

श्रीमान् माननीय राजा रामपालसिंहजी,
सी० आई० ई०

को

सादर और सानुराग

समर्पित।

सर्ग-सूची

—:०:—

———

भूमिका।

कालिदास का समय।

कालिदास कब हुए, इसका पता ठीक ठीक नहीं लगता। इस विषय में न तो कालिदास ही ने अपने किसी काव्य या नाटक में कुछ लिखा और न किसी और ही प्राचीन कवि या ग्रन्थकार ने कुछ लिखा। प्राचीन भारत के विद्वानों को इतिहास से विशेष प्रेम न था। इस लोक की लीला को अल्पकालिक जान कर वे उसे तुच्छ दृष्टि से देखते थे। परलोक ही का उन्हें विशेष ख़याल था। इस कारण पारलौकिक समस्याओं को हल करना ही उन्होंने अपने जीवन का सबसे बड़ा उद्देश समझा। ऐसी स्थिति में कवियों और राजाओं का चरित कोई क्यों लिखता और देश का इतिहास लिख कर कोई क्यों अपना समय खोता।

यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि कालिदास विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में थे। नौ पण्डित उनकी सभा के रत्नरूप थे; उन्हीं में कालिदास की गिनती थी। खोज से यह बात भ्रममूलक सिद्ध हुई है। "धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशङ्कु"—आदि पद्य में जिन नौ विद्वानों के नाम आये हैं वे सब समकालीन न थे। वराहमिहिर भी इन्हीं नौ विद्वानों में थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका में लिखा है कि शक ४२७, अर्थात् ५०५ ईसवी, में इसे मैंने समाप्त किया। अतएव जो लोग ईसा के ५७ वर्ष पूर्व उज्जैन के महाराज विक्रमादित्य की सभा में इन नौ विद्वानों का होना मानते हैं वे भूलते हैं। पुरातत्व-वेत्ताओं का मत है कि कालिदास विक्रमादित्य के समय में ज़रूर हुए; पर ईसा के ५७ वर्ष पहले नहीं। ईसा के चार पाँच सौ वर्ष बाद किसी और ही विक्रमादित्य के समय में वे हुए। इस राजा की भी राजधानी उज्जैन थी।

यह नया मत है। इसके पोषक कई देशी और विदेशी विद्वान् हैं। इन विद्वानों में कई एक का तो यह कथन है कि कालिदास किसी राजा या महाराजा के आश्रित ही न थे। वे गुप्तवंशी किसी विक्रमादित्य के शासनकाल में थे ज़रूर; पर उसका आश्रय उन्हें न था। हाँ, यह हो सकता है कि वे उज्जैन में बहुत दिनों तक रहे हों और उज्जयिनीनरेश से सहायता पाई हो। परन्तु उज्जयिनी के अधीश्वर के वे अधीन न थे। उनका नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल उज्जैन में महाकाल महादेव के किसी उत्सव-विशेष में विक्रमादित्य के सामने खेला गया था। यदि वे राजाश्रित थे तो इस नाटक को उन्होंने अपने आश्रयदाता को क्यों न समर्पण किया?

कालिदास के स्थिति-काल के विषय में, आज तक, भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न, न मालूम कितने, मत प्रकाशित किये हैं। उनमें से कौन ठीक है, कौन नहीं—इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। सम्भव है उनमें से एक भी ठीक न हो। तथापि, दो चार मुख्य मुख्य मतों का उल्लेख करना हम यहाँ पर उचित समझते हैं।

सर विलियम जोन्स और डाक्टर पीटर्सन का मत है कि कालिदास ईसवी सन् के ५७ वर्ष पूर्व उज्जयिनी के नरेश महाराज विक्रमादित्य के सभा-पण्डित थे। पूने के पण्डित नन्दर्गीकर का भी यही मत है और इस मत को उन्होंने बड़ी ही योग्यता और युक्तिपूर्ण कल्पनाओं से दृढ़ किया है। अश्वघोष ईसा की पहली शताब्दी में विद्यमान थे। उनके बुद्ध-चरित नामक महाकाव्य से अनेक अवतरण देकर नन्दर्गीकर ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास के काव्यों को देख कर अश्वघोष ने अपना काव्य बनाया है; क्योंकि उसमें कालिदास के काव्यों के पद ही नहीं, कितने ही श्लोकपाद भी ज्यों के त्यों पाये जाते हैं।

डाक्टर वेबर, लासन, जैकोबी, मानियर विलियम्स और सी० एच० टानी का मत है कि कालिदास ईसा के दूसरे शतक से लेकर चौथे शतक के बीच में विद्यमान थे। उनके काव्य इसके पहले के नहीं हो सकते। उनकी भाषा और उनके वर्णन-विषय आदि से यही बात सिद्ध होती है।

वत्सभट्टि की रची हुई एक कविता एक शिला पर खुदी हुई प्राप्त हुई है। उसमें मालव-संवत् ५२९, अर्थात् ४७२ ईसवी, अङ्कित है। यह

कविता कालिदास की कविता से मिलती जुलती है। अतएव अध्यापक मुग्धानलाचार्य्य का अनुमान है कि कालिदास ईसा की पाँचवीं शताब्दी के कवि हैं। विन्सेंट स्मिथ साहब भी कालिदास को इतना ही पुराना मानते हैं, अधिक नहीं।

डाकृर भाऊ दाजी ने बहुत कुछ भवति न भवति करने के बाद यह अनुमान किया है कि उज्जैन के अधीश्वर हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर पर शासन करने के लिए भेजे गये मातृगुप्त ही का दूसरा नाम कालिदास था। अतएव उनका स्थिति-काल ईसा की छठी सदी है। दक्षिण के श्रीयुत पण्डित के० बी० पाठक ने भी कालिदास का यही समय निश्चित किया है। डाक्टर फ्लीट, डाक्टर फर्गुसन, मिस्टर आर० सी० दत्त और पण्डित हरप्रसाद शास्त्री भी इस निश्चय या अनुमान के पृष्टपोषक हैं।

इसी तरह और भी कितने ही विद्वानों ने कालिदास के विषय में लेख लिखे हैं और अपनी तर्कना के अनुसार अपना अपना निश्चय सर्व-साधारण के सम्मुख रक्खा है। कालिदास के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक आधार तो है नहीं। उनके काव्यों की भाषा-प्रणाली, उनमें जिन ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख है उनके स्थिति-समय, और जिन पार-वर्ती कवियों ने कालिदास के ग्रंथों के हवाले या उनसे अवतरण दिये हैं उनके जीवनकाल के आधार पर ही कालिदास के समय का निर्णय विद्वानों को करना पड़ता है। इसमें अनुमान ही की मात्रा अधिक रहती है। अतएव जब तक और कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता, अथवा जब तक किसी का अनुमान औरों से अधिक युक्ति-सङ्गत नहीं होता, तब तक विद्वज्जन इस तरह के अनुमानों से भी तथ्य संग्रह करना अनुचित नहीं समझते।

दो तीन वर्ष पहले, विशेष करके १९०९ ईसवी में, लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में डाकृर हार्नले, मिस्टर विन्सेन्ट स्मिथ आदि कई विद्वानों ने कालिदास के स्थिति-काल के सम्बन्ध में कई बड़े ही गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। इन लेखों में कुछ नई युक्तियाँ दिखाई गईं। डाकृर हार्नले आदि ने और बातों के सिवा रघुवंश से कुछ पद्य ऐसे

उद्धृत किये जिनमें 'स्कन्द,' 'कुमार,' 'समुद्र' आदि शब्द पाये जाते हैं; यथा:—

(१) आसमुद्रक्षितीशानां—

(२) आकुमारकथोद्घातं—

(३) स्कन्देन साक्षादिव देवसेनां—

यहाँ 'स्कन्द' से उन्होंने स्कन्दगुप्त, 'कुमार' से कुमारगुप्त और 'समुद्र' से समुद्रगुप्त का भी अर्थ निकाला। उन्होंने कहा कि ये श्लिष्ट पद हैं, अतएव द्व्यर्थिक हैं—इनसे दो दो अर्थ निकलते हैं। एक तो साधारण, दूसरा असाधारण जो गुप्त राजाओं का सूचक है। इस पर सम्भलपुर के एक बङ्गाली विद्वान्, बी० सी० मजूमदार महाशय, ने इन लोगों की बड़ी हँसी उड़ाई। उन्होंने दिखलाया कि यदि इस तरह के दो दो अर्थ वाले श्लोक ढूँढ़े जायँ तो ऐसे और भी कितने ही शब्द और श्लोक मिल सकते हैं। परन्तु उनके दूसरे अर्थ की कोई सङ्गति नहीं हो सकती।

जबसे हार्नले आदि ने यह नई युक्ति निकाली तब से कालिदास के स्थिति-काल-निर्णायक लेखों का तूफ़ान सा आगया है। इसी युक्ति के आधार पर लोग आकाश-पाताल एक कर रहे हैं। कोई कहता है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में थे; कोई कहता है कुमारगुप्त के समय में थे; कोई कहता है स्कन्दगुप्त के समय में थे, कोई कहता है यशोधर्म्मा के समय में थे। इसी पिछले राजा ने हूण-नरेश मिहिरगुल को, ५३२ ईसवी में, मुलतान के पास कोरूर में परास्त करके हूणों को सदा के लिए भारत से निकाल दिया। इसी विजय के उपलक्ष्य में वह शकारि विक्रमादित्य कहलाया। इस विषय में, आगे और कुछ लिखने के पहले, मुख्य मुख्य गुप्तराजाओं की नामावली और उनका शासनकाल लिख देना अच्छा होगा। इससे पाठकों को पूर्वोक्त पण्डितों की युक्तियाँ समझने में सुभीता होगा। अच्छा अब इनके नाम आदि सुनिए:—

(१) चन्द्रगुप्त प्रथम, (विक्रमादित्य) मृत्यु ३२६ ईसवी

(२) समुद्रगुप्त—शासन-काल ३२६ से ३७५ ईसवी तक

(३) चन्द्रगुप्त द्वितीय, (विक्रमादित्य) शासन-काल ३७५ से ४१३ ईसवी तक

(४) कुमारगुप्त, प्रथम }
(५) स्कन्दगुप्त } शासन-काल ४१३ से ४८० ईसवी तक

(६) नरसिंह गुप्त }
(७) यशोधर्मा (विक्रमादित्य) } शासनकाल ईसा की पाँचवीं

शताब्दी के अन्त से छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक ।

इनमें से पहले ६ राजाओं की राजधानी कुसुमपुर या पटना थी । पर अन्तिम राजा यशोधर्म्मा की राजधानी उज्जैन थी । यह पिछला राजा गुप्त राजाओं का करद राजा था । पर गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर वह स्वतन्त्र हो गया था । इन राजाओं में से तीन राजाओं ने—पहले, तीसरे और सातवें ने—विक्रमादित्य की पदवी ग्रहण की थी । ये राजा बड़े प्रतापी थे । इसी से ये विक्रमादित्य उपनाम से अभिहित हुए ।

परन्तु डाक्टर हार्नली आदि की पूर्वोक्त युक्तियों के आविष्कार-विषय में एक झगड़ा है । बाबू बी० सी० मजूमदार कहते हैं कि इसका यश मुझे मिलना चाहिए । इस विषय में उनका एक लेख जून १९१२ के माडर्न रिव्यू में निकला है । उसमें वे कहते हैं कि १९०५ ईसवी में मैंने ही इन बातों को सबसे पहले ढूँढ़ निकाला था । बँगला के भारतसुहृद् नामक पत्र में "शीतप्रभात" नामक जो मेरी कविता प्रकाशित हुई है उसकी सूचना में मैंने ये बातें छः सात वर्ष पहले ही लिख दी थीं । १९०९ में इस विषय में मेरा जो लेख रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में निकल चुका है, उसमें इन बातों का मैंने विस्तार किया है । अब इनका मत सुनिए ।

डाक्टर हार्नली की राय है कि उज्जैन का राजा यशोधर्म्मा ही शकारि-विक्रमादित्य है और उसी के शासन काल या उसी की सभा में कालिदास थे । कारण यह कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही न था । जैसी कविता कालिदास की है वैसी कविता—वैसी भाषा, वैसी भावभङ्गी—उस ज़माने में थी ही नहीं * । ईसा की पाँचवीं और छठी

* कालिदास के पूर्ववर्ती भास कवि के स्वप्नवासवदत्ता आदि कई नाटक जो अभी हाल में प्रकाशित हुए हैं उनमें कालिदास ही की जैसी कविता और भाषा है । अतएव, जो लोग यह समझते थे कि ईसा के पूर्व पहले शतक में कालिदास के ग्रंथों की जैसी परिमार्जित संस्कृत का प्रचार ही न था उनके इस अनुमान को महाकवि भास के ग्रंथों ने निर्मूल सिद्ध कर दिया ।

सदी में, संस्कृत भाषा का पुनरुज्जीवन होने पर, वैसी कविता का प्रादुर्भाव हुआ था । इन सब बातों को मजूमदार महाशय मानते हैं । पर यशोधर्म्मा के समय में कालिदास का होना नहीं मानते । वे कहते हैं कि रघुवंश में जो इन्दुमती का स्वयंवर-वर्णन है उसमें उज्जेन के राजा का तीसरा नम्बर है । यदि कालिदास यशोधर्म्मा के समय में, या उसकी सभा में, होते तो वे कभी ऐसा न लिखते । क्योंकि यशोधर्म्मा उस समय चक्रवर्ती राजा था। मगध का साम्राज्य उस समय प्राय: विनष्ट हो चुका था । यशोधर्म्मा मगध की अधीनता में न था । अतएव, मगधाधिप के पास पहले और उज्जेन-नरेश के पास उसके बाद इन्दुमती का जाना यशोधर्म्मा को असह्य हो जाता । अतएव इस राजा के समय में कालिदास न थे । फिर किसके समय में थे ? बाबू साहब का अनुमान है कि कुमार-गुप्त के शासन के अन्तिम भाग में उन्होंने ग्रन्थरचना आरम्भ की और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के कुछ समय पहले इस लोक की यात्रा समाप्त की । इस अनुमान की पुष्टि में उन्होंने और भी कई बातें लिखी हैं। आपका कहना है कि रघुवंश में जो रघु का दिग्विजय है वह रघु का नहीं, यथार्थ में वह स्कन्दगुप्त का दिग्विजय-वर्णन है । आपने रघुवंश में गुप्तवंश के प्राय: सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओं के नाम ढूँढ़ निकाले हैं । यहाँ तक कि कुमारगुप्त को ख़ुश करने ही के लिए कालिदास के द्वारा कुमारसम्भव की रचना का अनुमान आपने किया है । इसके सिवा और भी कितनी ही बड़ी विचित्र कल्पनायें आपने की हैं । इनके अनुसार कालिदास ईसा की पाँचवीं सदी में विद्यमान थे ।

कुछ समय से साहित्याचार्य्य पाण्डेय रामावतार शर्म्मा भी इस तरह की पुरानी बातों की खोज में प्रवृत्त हुए हैं । आपने भी इस विषय में अपना मत प्रकाशित किया है । आपकी राय है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त और उसके पुत्र कुमारगुप्त के समय में थे । यह ख़बर जब मजूमदार बाबू तक पहुँची तब उन्होंने माडर्न-रिव्यू में वह लेख प्रकाशित किया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । उसमें आप कहते हैं कि कालिदास का स्थिति-काल ढूँढ़ निकालने का यश जो पाण्डेय जी लेना चाहते हैं वह उन्हें नहीं मिल सकता । उसके पाने का अधिकारी अकेला मैं ही हूँ । क्योंकि इस आविष्कार को मैंने बहुत पहले किया था । पाण्डेय जी कहते हैं कि जो

आविष्कार मैंने किया है उनका इशारा मुझे लिङ्ग, वाक्य और गुप्तवाचक-शब्दों से मिला था । उन्हीं इशारों पर मैंने उनकी अनुमान की इमारत खड़ी की है । मेरी सारी कल्पनायें और तर्कनायें मेरी निज की हैं । इनके अनुसार कालिदास ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य और पाँचवीं के आरम्भ में थे । श्रीराजेन्द्रनाथ विद्याभूषण प्रणीत 'कालिदास' नामक समालोचना-ग्रन्थ की भूमिका में श्रीयुत हरिनाथ दे महाशय ने भी पाण्डेय जी का मत लिया है । उसमें उन्होंने लिखा है कि:—

(१) तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः

(२) अन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः

(३) स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः

इत्यादि रघुवंश के श्लोकों में गोप्ता, गुप्त, गोप्त्रे आदि पद गुप्तवंशी राजाओं के सूचक हैं ।

प्रयाग में समुद्रगुप्त का जो स्तम्भ है उस पर उसके विजय की वार्ता खुदी हुई है । वह रघु के दिग्विजय से बहुत कुछ मिलती है । अर्थात् कालिदास ने रघु के दिग्विजय के बहाने समुद्रगुप्त का दिग्विजय-वर्णन किया है । मजुमदार महाशय ने रघु का दिग्विजय स्कन्दगुप्त का दिग्विजय बताया ! इन्होंने उसे समुद्रगुप्त का बताया !! आगे चल कर पाठकों को मालूम होगा कि एक और महाशय ने उसे ही यशोधर्म्मा का दिग्विजय समझा है !!! कुमारसम्भव के "कुमार-कल्पं सुषुवे कुमारं" और "न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः"—आदि में जो 'कुमार' शब्द है उसे आप लोग कुमारगुप्त का सूचक बतलाते हैं ।

पाण्डेयजी की यशःप्राप्ति में बड़ी बाधायें आ रही हैं । डाक्टर एन० बेक (Beckh) तिब्बती और संस्कृत भाषा के बड़े पण्डित हैं । कालिदास के समय-निर्णय के विषय में जिन तत्वों का आविष्कार पाण्डेयजी ने किया है प्रायः उन्हीं का आविष्कार डाक्टर साहब ने भी किया है । परन्तु पण्डितों की राय है कि दोनों महाशयों को एक दूसरे की खोज की कुछ भी खबर न थी । दोनों निरूपण या निर्णय यद्यपि मिलते हैं तथापि उनमें परस्पर आधार-आधेय भाव नहीं । पाण्डेयजी इस समय कालिदास के स्थिति-

काल-सम्बन्ध में एक बड़ा ग्रन्थ लिख रहे हैं। उनके मत का सारांश नीचे दिया जाता है।

ईसा के पहले, पहले शतक में, विक्रम नाम का कोई ऐतिहासिक राजा नहीं हुआ। उसके नाम से जो संवत् चलता है वह पहले मालवगणस्थित्यब्द कहलाता था। मन्दसौर में ५२९ संवत् का जो उत्कीर्ण लेख मिला है वह इस संवत् का दर्शक सब से पुराना लेख है। उसमें लिखा है:—

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये—इत्यादि

महाराज यशोधर्म्मा के बहुत काल पीछे इस संवत् का नाम विक्रम-संवत् हुआ। गणरत्नमहोदधि के कर्त्ता वर्धमान पहले ग्रन्थकार हैं जिन्होंने विक्रम-संवत् का उल्लेख किया है। देखिए:—

सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥

इसका पता नहीं चलता कि कब और किसने मालव-संवत् का नाम विक्रम-संवत् कर दिया।

कालिदास शुङ्ग-राजाओं से परिचित थे। वे गणित और फलित दोनों ज्योतिष जानते थे। मेघदूत में उन्होंने बृहत्कथा की कथाओं का उल्लेख किया है। हूण आदि सीमा-प्रान्त की जातियों का भी उन्हें ज्ञान था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में, पातञ्जल के अनुसार, कुछ व्याकरण-प्रयोग जान बूझ कर ऐसे किये हैं जो बहुत कम प्रयुक्त होते हैं। इन कारणों से कालिदास ईसवी सन् के पहले के नहीं माने जा सकते। पतञ्जलि ईसा के पूर्व दूसरे शतक में थे। उनके बाद पाली की पुत्री प्राकृत ने कितने ही रूप धारण किये। वह यहाँ तक प्रबल हो उठी कि कुछ समय तक उसने संस्कृत को प्रायः दबा सा दिया। अतएव जिस काल में प्राकृत का इतना प्राबल्य था उस काल में कालिदास ऐसे संस्कृत-कवि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। फिर, पैशाची भाषा में लिखी हुई गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा की कथाओं से कालिदास का परिचित होना भी यह कह रहा है कि वे गुणाढ्य के बाद हुए हैं, प्राकृत के प्राबल्य-काल में नहीं। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष-सम्बन्धिनी जो बातें लिखी हैं उनसे वे आर्यभट्ट और वराहमिहिर के समकालीन ही से जान पड़ते हैं। इन बातों से सूचित होता है कि कालिदास

ईसवी सन् के तीसरे शतक के पहले के नहीं। इसके साथ ही यह भी सूचित होता है कि वे ईसवी सन् के पाँचवें शतक के बाद के भी नहीं, क्योंकि सातवें शतक के कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास का नामोल्लेख किया है। दूसरे पुलकेशी की प्रशस्ति में रविकीर्त्ति ने भी भारवि के साथ कालिदास का नाम लिखा है। यह प्रशस्ति भी सातवें शतक की है। इस प्रशस्ति के समय भारवि को हुए कम से कम सौ वर्ष ज़रूर हो चुके होंगे। क्योंकि किसी प्रसिद्ध राजा की प्रशस्ति में उसी कवि का नाम लिखा जा सकता है जो स्वयं भी खूब प्रसिद्ध हो। और, प्राचीन समय में किसी की कीर्त्ति के प्रसार में सौ वर्ष से क्या कम लगते रहे होंगे। इधर बाण ने कालिदास का नामोल्लेख करने के सिवा सुबन्धु की वासवदत्ता का भी उल्लेख किया है। अतएव सुबन्धु भी बाण के कोई सौ वर्ष पहले हुए होंगे। इस हिसाब से भारवि और सुबन्धु का समय ईसवी सन् के छठे शतक के पूर्वार्द्ध में सिद्ध होता है। भारवि और सुबन्धु की रचना में भङ्गश्लेष आदि के कारण क्लिष्टता आ गई है। पर यह दोष कालिदास की कविता में नहीं है। अतएव वे भारवि और सुबन्धु के कोई सौ वर्ष ज़रूर पहले के हैं। अतएव वे गुप्त-नरेश द्वितीय चन्द्रगुप्त, उपनाम विक्रमादित्य, और तत्परवर्ती कुमारगुप्त के समय के जान पड़ते हैं। अर्थात् वे, अनुमान से, ३७५ से ४५० ईसवी के बीच में विद्यमान थे।

यह पाण्डेयजी की कल्पना-कोटियों का सारांश है। इसके बाद पाण्डेयजी ने और भी अनेक युक्तियों से अपने मत की पुष्टि की है। इन्दुमती के स्वयम्वर का उल्लेख कर के आप ने लिखा है कि कालिदास ने सब से पहले इन्दुमती को मगध-नरेश के ही पास खड़ा किया है, अवन्ती के अधीश्वर के पास नहीं। यदि वे अवन्ती (उज्जेन) के राजा के आश्रित होते तो वे इन्दुमती को पहले अपने आश्रयदाता के सामने ले जाते। पाण्डेयजी की राय में मगध-नरेश ही उस समय अवन्ती का भी स्वामी था। अतएव अवन्तिनाथ का जो वर्णन इन्दुमती के स्वयंवर में है उससे मगधेश्वर ही का बोध होता है। दोनों का स्वामी एकही था और वह द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिवा और कोई नहीं हो सकता।

अब एक और आविष्कारक के आविष्कृत तत्व सुनिए। कलकत्ते में ए०

सी० चैटर्जी, एम० ए०, बी० एल० एक वकील हैं। आपकी रचित कालिदास-विषयक ढाई सौ पृष्ठ की एक पुस्तक अभी कुछ दिन हुए प्रकाशित हुई है। पुस्तक अँगरेज़ी में है। उसमें कालिदास से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का वर्णन और विचार है। एक अध्याय उसमें कालिदास के स्थिति-समय पर भी है। चैटर्जी महोदय का मत है कि कालिदास मालव-नरेश यशोधर्म्मा के शासन-काल, अर्थात् ईसा की छठी सदी, में वर्तमान थे। इनकी एक कल्पना बिलकुल ही नई है। उसे थोड़े में सुन लीजिए।

बड़े बड़े पण्डितों का मत है कि कपिल के सांख्य-प्रवचन-सूत्र सब से पुराने नहीं। किसी ने उन्हें पीछे से बनाया है। ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकायें ही सांख्य-शास्त्र का सबसे पुराना ग्रन्थ है। और, ईश्वरकृष्ण ईसा के छठे शतक के पहले के नहीं। कालिदास ने कुमारसम्भव में जो लिखा है:—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥

वह सांख्यशास्त्र का सारांश है। जान पड़ता है कि उसे कालिदास ने ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ को अच्छी तरह देखने के बाद लिखा है। दोनों की भाषा में भी समानता है और सांख्यतत्व-निदर्शन में भी। इस बात की पुष्टि में चैटर्जी महाशय ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का एक पद्य, और रघुवंश तथा कुमारसम्भव में व्यवहृत 'सङ्घात' शब्द भी दिया है। आपकी राय है कि 'सङ्घात' शब्द भी कालिदास को ईश्वरकृष्ण ही के ग्रन्थ से मिला है। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि ईसा के छठे ही शतक में ईश्वरकृष्ण भी हुए और कालिदास भी। फिर किस तरह अपने समकालीन पण्डित की पुस्तक का परिशीलन करके कालिदास ने उसके तत्व अपने काव्यों में निहित किये। क्या मालूम ईश्वरकृष्ण छठी सदी में कब हुए और कहाँ हुए? यदि यह मान भी लिया जाय कि कालिदास छठी ही सदी में थे तो भी इसका क्या प्रमाण कि वे ईश्वरकृष्ण से दस बीस वर्ष पहले ही लोकान्तरित नहीं हुए? इसका भी क्या प्रमाण कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं के पहले सांख्य का और कोई ग्रन्थ

विद्यमान न था? सम्भव है कि कालिदास के समय में रहा हो और पीछे से नष्ट होगया हो। कुछ भी हो, चैटर्जी महाशय की सब से नवीन और मनोरञ्जक कल्पना यही है। आपकी राय में रघुवंश और कुमार-सम्भव ५८७ ईसवी के पहले के नहीं।

चैटर्जी महोदय ने अपने मत को और भी कई बातों के आधार पर निश्चित किया है। कालिदास के काव्यों में ज्योतिषशास्त्र-सम्बन्धिनी बातों के जो उल्लेख हैं उनसे भी आपने अपने मत की पुष्टि की है। कविकुलगुरु शैव थे; अथवा यों कहना चाहिए कि उनके ग्रन्थों में शिवोपासनाद्योतक पद्य हैं। ऐतिहासिक खोजों से आपने यह सिद्ध किया है कि इस उपासना का प्राबल्य, बौद्ध मत के ह्रास होने पर, छठी सदी में ही हुआ था। यह बात भी आपने अपने मत को पुष्ट करने वाली समझा है। आपकी सम्मति है कि रघु का दिग्विजय काल्पनिक है। यथार्थ में रघु सम्बन्धिनी सारी बातें यशोधर्म्मा विक्रमादित्य से ही सम्बन्ध रखती हैं। रघुवंश के :—

(१) प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः।
(२) ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्॥
(३) सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।
(४) मत्तेभरदनोत्कीर्णं व्यक्तविक्रमलक्षणम्॥

इत्यादि और भी कितने ही श्लोकों में जो 'रवि,' 'भानु' और 'भास्वान्' आदि शब्द आये हैं उनसे आपने विक्रमादित्य के 'आदित्य' का अर्थ लिया है और जहाँ 'विक्रम' और 'प्रताप' आदि शब्द आये हैं वहाँ उनसे 'विक्रम' का। इस तरह आपने सिद्ध किया है कि यशोधर्म्मा विक्रमादित्य ही को लक्ष्य करके कालिदास ने इन श्लिष्ट श्लोकों की रचना की है। अतएव वे उसी के समय में थे। उस ज़माने का इतिहास और कालिदास के ग्रन्थों की अन्तर्वर्त्ती विशेषतायें इस मत को पुष्ट करती हैं। यही चैटर्जी महाशय की गवेषणा का सारांश है। इन विद्वानों की राय में विक्रमादित्य कोई नाम-विशेष नहीं, वह एक उपाधिमात्र थी।

अश्वघोष के बुद्धचरित और कालिदास के काव्यों में जो समानता पाई जाती है उसके विषय में चैटर्जी महाशय का मत है कि दोनों कवियों के विचार लड़ गये हैं। अश्वघोष ने कालिदास के काव्यों को देखने के अनन्तर

अपना ग्रन्थ नहीं बनाया । दो कवियों के विचारों का लड़ जाना सम्भव है । पर क्या यह भी सम्भव है कि एक के काव्य के पद के पद, यहाँ तक कि प्राय: श्लोकार्द्ध के श्लोकार्द्ध तद्वत् दूसरे के दिमाग़ से निकल पड़ें ? अस्तु, इन बातों का निर्णय विद्वान् ही कर सकते हैं । हम तो यहाँ उनकी राय मात्र लिखे देते हैं ।

अच्छा यह तो सब हुआ । पर एक बात हमारी समझ में नहीं आई । यदि कालिदास को चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त या और किसी गुप्तनरेश किंवा यशोधर्म्मा का कीर्ति गान अभीष्ट था तो उन्होंने साफ़ साफ़ वैसा क्यों न किया ? क्यों न एक अलग ग्रन्थ में उनकी स्तुति की ? अथवा क्यों न उनका चरित या वंशवर्णन स्पष्ट शब्दों में किया ? गुप्त, स्कन्द, कुमार, समुद्र, चन्द्रमा, विक्रम और प्रताप आदि शब्दों का प्रयोग करके छिपे छिपे क्यों उन्होंने गुप्त-वंश का वर्णन किया ? इस विषय में बहुत कुछ कहने को जगह है ।

जैसा ऊपर, एक जगह, लिखा जा चुका है, पुरातत्व के अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व भारत में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही न था । उसके नाम से जो संवत् प्रचलित है वह पहले मालव-संवत् कहलाता था । पीछे से उसका नाम विक्रम-संवत् हुआ ।

सारांश यह कि कालिदास विक्रमादित्य के सभा-पण्डित ज़रूर थे; पर दो हज़ार वर्ष के पुराने काल्पनिक विक्रमादित्य के सभा-पण्डित न थे । ईसा के पाँच छ: सौ वर्ष बाद मालवा में जो विक्रमादित्य हुआ—चाहे वह यशोधर्म्मा हो, चाहे और कोई—उसी के यहाँ वे थे । पर प्रसिद्ध विद्वान् चिन्तामणिराव वैद्य, एम० ए०, ने विक्रम-संवत् पर एक बड़ाही गवेषणापूर्ण लेख लिख कर इन बातों का खण्डन किया है । उन्होंने ईसा के पहले एक विक्रमादित्य के अस्तित्व का ग्रंथ-लिखित प्रमाण भी दिया है और यह भी सिद्ध किया है कि इस नाम का संवत् उसी प्राचीन विक्रमादित्य का चलाया हुआ है । अतएव वैद्य महाशय के लेख का भी सार सुन लीजिए ।

डाक्टर कीलहार्न के मन में, नाना कारणों से, विक्रम-संवत् के विषय में एक कल्पना उत्पन्न हुई । उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इस संवत् का जो नाम इस समय है वह आरम्भ में न था । पहले वह मालव-

संवत् के नाम से उल्लिखित होता था। अनेक शिला-लेखों और ताम्रपत्रों के आधार पर उन्होंने यह दिखाया कि ईसा के सातवें शतक के पहले लेखों और पत्रों में इस संवत् का नाम मालव-संवत् पाया जाता है। उनमें अङ्कित "मालवानां गणस्थित्या" पद का अर्थ उन्होंने लगाया—मालव देश की गणना का क्रम। डाक्टर साहब का कथन है कि ईसा के छठे शतक में यशोधर्म्मा नाम का एक प्रतापी राजा मालवा में राज्य करता था। उसका दूसरा नाम हर्षवर्धन था। उसने ५४४ ईसवी में, हूणों के राजा मिहिरगुल को मुलतान के पास कोरूर में परास्त करके हूणों का बिलकुलही तहस नहस कर डाला। इस जीत के कारण उसने विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की। तबसे उसका नाम हुआ हर्षवर्धन विक्रमादित्य। इसी जीत की खुशी में उसने पुराने प्रचलित मालव-संवत् का नाम बदल कर अपनी उपाधि के अनुसार उसे विक्रम-संवत् कहे जाने की घोषणा दी। साथ ही उसने एक बात और भी की। उसने कहा, इस संवत् को ६०० वर्ष का पुराना मान लेना चाहिए, क्योंकि नये किंवा दो तीन सौ वर्ष के पुराने संवत् का उतना आदर न होगा। इसलिए उसने ५४४ में ५६ जोड़ कर ६०० किये। इस तरह उसने इस विक्रम-संवत् की उत्पत्ति ईसा के ५६ या ५७ वर्ष पहले मान लेने की आज्ञा लोगों को दी।

इस संवत् के सम्बन्ध में जितने वाद, विवाद और प्रतिवाद हुए हैं, सब का कारण डाक्टर कीलहार्न का पूर्वोक्त लेख है। पुराने ज़माने के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में "मालवानां गणस्थित्या" होने से ही क्या यह सिद्ध माना जा सकता है कि इस संवत् का कोई दूसरा नाम न था? इसका कोई प्रमाण नहीं कि जिस समय के ये लेख और पत्र हैं उस समय के कोई और ऐसे लेख या पत्र कहीं छिपे हुए नहीं पड़े जिनमें यही संवत् विक्रम-संवत् के नाम से उल्लिखित हो? देखना यह चाहिए कि ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले मालवा में कोई बड़ी घटना हुई थी या नहीं और विक्रमादित्य नाम का कोई राजा वहाँ था या नहीं।

ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि इसका आदिम नाम मालव-संवत् ही था। अच्छा तो इस नाम को बदल कर कोई 'विक्रम-संवत्' करेगा क्यों? कोई भी समझदार आदमी दूसरे की चीज़ का उल्लेख अपने नाम से नहीं

करता। किसी विजेता राजा को दूसरे के चलाये संवत् को अपना कहने में क्या कुछ भी लज्जा न मालूम होगी ? वह अपना एक नया संवत् सहज ही में चला सकता है। किसी के संवत् का नाम बदल कर उसे अपने नाम से चलाना और फिर उसे ६०० वर्ष पीछे फेंक देना बड़ी ही अस्वाभाविक बात है। भारतवर्ष का इतिहास देखने से मालूम होता है कि जितने विजेता राजाओं ने संवत् चलाया है सबने नया संवत् अपनेही नाम से चलाया है। पुराणों और भारतवर्ष की राजनीति-सम्बन्धिनी प्राचीन पुस्तकों में इस बात की साफ़ आज्ञा है कि बड़े बड़े नामी और विजयी नरेशों को अपना नया संवत् चलाना चाहिए। युधिष्ठिर, कनिष्क*, शालिवाहन और श्रीहर्ष आदि ने इस आज्ञा का पालन किया है। शिवाजी तक ने अपना संवत् अलग चलाने की चेष्टा की है। अतएव दूसरे के संवत् को अपना बनाने की कल्पना हास्यास्पद और सर्वथा अस्वाभाविक है।

पुरातत्ववेत्ता ईसा के पूर्व, पहले शतक, में किसी विक्रमादित्य का होना मानने से बेतरह सङ्कोच करते हैं। इसलिए कि उस समय का न कोई ऐसा सिक्का ही मिला है जिसमें इस राजा का नाम हो, न कोई शिलालेखही मिला है, न कोई ताम्रपत्रही मिला है। परन्तु उनकी यह युक्ति बड़ी ही निर्बल है। तत्कालीन प्राचीन इतिहास में इस राजा के नाम का न मिलना उसके अनस्तित्व का बोधक नहीं माना जा सकता। पुराने ज़माने के सारे ऐतिहासिक लेख प्राप्त हैं कहाँ ? यदि वे सब प्राप्त हो जाते और उनमें विक्रमादित्य का नाम न मिलता तो ऐसी शङ्का हो सकती थी। पर बात ऐसी नहीं है। विक्रमादित्य का नाम ज़रूर मिलता है। दक्षिण में शातवाहन-वंशीय हाल-नामक एक राजा हो गया है। विन्सेंट स्मिथ साहब ने उसका समय ६८ ईसवी निश्चित किया है। इस हाल ने गाथा-सप्तशती नाम की एक पुस्तक प्राचीन महाराष्ट्री भाषा में लिखी है। उसके पैंसठवें पद्य का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है:—

---

* केनडी नामक एक विलायती विद्वान् ने, कुछ समय हुआ, एक नवीन ही कल्पना कर डाली है। आप की राय है कि विक्रम-संवत् राजा कनिष्क का चलाया हुआ है। ईसा के ५६ वर्ष पहले काश्मीर में बौद्धों का दूसरा सम्मेलन कराने और अपने जन्मधर्म्म को छोड़ कर बौद्ध होने के उपलक्ष्य में उसी ने इस संवत् का प्रचार किया। पर इस अनुमान का पोषक एक भी अच्छा प्रमाण आपने नहीं दिया।

संवाहनसुखरसतोपितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

इस पद्य में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है—उसके द्वारा एक लाख रुपये दिये जाने का उल्लेख है। इससे इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि हाल-नरेश के पहले विक्रमादित्य नाम का दानशील राजा कोई ज़रूर था। अब इस बात का विचार करना है कि इस राजा ने शकों का पराभव किया था या नहीं? उसका शकारि होना यथार्थ है या अयथार्थ?

विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने अपने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि शक जाति के म्लेच्छों ने ईसा के कोई १५० वर्ष पहले उत्तर-पश्चिमाञ्चल से इस देश में प्रवेश किया। उनकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा के शकों ने तक्षशिला और मथुरा में अपना अधिकार जमाया और क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिक्कों से इनका पता ईसा के १०० वर्ष पहले तक चलता है। उसके पीछे उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं लगता। दूसरी शाखावालों ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ को अपने अधिकार में किया। धीरे धीरे इन लोगों ने उज्जैन को भी अपने अधीन कर लिया। इन्हें गुप्तवंशी राजाओं ने हरा कर उत्तर की ओर भगा दिया। अच्छा, तो इनके पराभवकर्त्ता तो गुप्त हुए। पहली शाखा के शकों का विनाश किसने साधन किया? क्या बिना किसी के निकाले ही वे इस देश से चले गये? अपना राज्य—अपना अधिकार—क्या कोई योंही छोड़ देता है? उनका पता पीछे के ऐतिहासिक लेखों से चलता क्यों नहीं? क्या इसके सिवा इसका और कोई उत्तर हो सकता है कि ईसा के ५७ वर्ष पहले विक्रमादित्यही ने उन्हें नष्ट-विनष्ट करके इस देश से निकाल दिया? इसी विजय के कारण उसको शकारि उपाधि मिली और संवत् भी इसी घटना की याद में उसने चलाया। मुल्तान के पास कोरूर वाला युद्ध इन्हीं तक्षशिला और मथुरा के शकों और विक्रमादित्य के मध्य हुआ था। इसके सिवा इसका अब और क्या प्रमाण चाहिए?

इस पर भी शायद कोई यह कहे कि यह सब सही है। पर कोई पुराना शिलालेख लाओ, कोई पुराना सिक्का लाओ, कोई पुराना ताम्रपत्र लाओ जिसमें विक्रम-संवत् का उल्लेख हो। तब हम आपकी बात मानेंगे, अन्यथा

नहीं। ख़ुशी की बात है कि इस तरह का एक प्राचीन लेख भी मिला है। यह पेशावर के पास तख़्तेबाही नामक स्थान में प्राप्त हुआ है। इसलिए उसी के नाम से यह प्रसिद्ध है। यह उत्कीर्ण लेख पार्थियन राजा गुडूफर्स के समय का है। यह राजा भारत के उत्तर-पश्चिमाञ्चल का स्वामी था। इस लेख में १०३ का अङ्क है; पर संवत् का नाम नहीं। गुडूफर्स के सिंहासन पर बैठने के छब्बीसवें वर्ष का यह लेख है। डाक्टर फ्लीट और मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने अनेक तर्कनाओं और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यह १०३ विक्रम-संवत् ही का सूचक है। राजा गुडूफर्स का नाम यहूदियों की एक पुस्तक में आया है। यह पुस्तक ईसा के तीसरे शतक की लिखी हुई है। इससे, और इस सम्बन्ध के और प्रमाणों से, यह निःसंशय प्रतीत होता है कि विक्रम-संवत् का प्रचार ईसा के तीसरे शतक के पहले भी था और मालवा ही में नहीं, किन्तु पेशावर और काश्मीर तक में उसका व्यवहार होता था। इस पर भी यदि कोई इस संवत् का प्रवर्तक मालवाधिपति शकारि विक्रमादित्य को न माने और उसकी उत्पत्ति ईसा के छठे शतक में हुई बतलाने की चेष्टा करे तो उसका ऐसा करना हठ और दुराग्रह के सिवा और क्या कहा जा सकता है।

वैद्य महाशय के कथन का सार-अंश इतना ही है। उनकी उक्तियों का आज तक किसी ने युक्तिपूर्ण खण्डन नहीं किया। और, किया भी हो तो हमारे देखने में नहीं आया। तथापि इस समय कितने ही विद्वान् पांडेयजी के मत की ओर विशेष खिंचे हुए हैं। परन्तु पांडेयजी की दो एक कल्पनायें किसी किसी को नहीं जँचती। प्राकृत-काल में कालिदास जैसे कवि का होना क्यों सम्भव नहीं? उर्दू और फ़ारसी के केन्द्र देहली और लखनऊ में क्या संस्कृत के पण्डित नहीं उत्पन्न हुए और संस्कृत के केन्द्र काशी में क्या उर्दू और फ़ारसी के विद्वान् नहीं हुए? अच्छा यदि द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में ही कालिदास का होना मान लिया जाय तो वे चन्द्रगुप्त के आश्रित कैसे हुए? वे तो उज्जेन में थे, चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटली-पुत्र थी। अवन्ती या उज्जेन चन्द्रगुप्त के अधीन थी तो क्या हुआ, वहाँ वह रहता तो था ही नहीं। रहता तो उसका सूबेदार था। एक बात और भी है। कालिदास ने मगध की राजधानी का नाम

पुष्पपुर लिखा है। यह पटना (पाटली-पुत्र) का प्राचीन नाम है। क्या ईसवी सन् के चौथे और पाँचवें शतक में भी पुष्पपुर ही मगध की राजधानी था? यदि नहीं, तो इससे कालिदास का द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में होना नहीं सिद्ध होता। अस्तु।

कालिदास के समयनिरूपण के सम्बन्ध में विद्वानों की जो सम्मतियाँ हैं उनमें से प्रधान प्रधान का उल्लेख यहाँ किया गया। अब इनमें से पाठकों को जो विशेष मनोनीत हो उसे वे स्वीकार कर सकते हैं।

कालिदास की जन्मभूमि।

कालिदास के काव्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह मालूम होता है कि वे काश्मीर के रहने वाले थे। मेघदूत में उन्होंने उज्जेन और विदिशा से अलका तक का आँखों देखा सा वर्णन किया है। उसे पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि जिन पर्वतों, नदियों, नगरों और देवस्थानों आदि का उल्लेख उन्होंने किया है उनसे उनका प्रत्यक्ष परिचय था। कुमार-सम्भव में हिमालय का जो वर्णन है उससे भी यही अनुमान होता है। साहित्याचार्य पण्डित रामावतार पाण्डेय, एम० ए०, का भी यही अनुमान है। उन्होंने इस अनुमान की पुष्टि में विक्रमाङ्कदेवचरित से विल्हण का यह श्लोक उद्धृत किया है :—

> सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
> न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

अर्थात् केसर और कविता-विलास काश्मीर में सहोदर की तरह उत्पन्न होते हैं। यदि बाण जैसे गद्य-काव्य-प्रणेता और कालिदास जैसे पद्य-रचना-निपुण महाकवि काश्मीर के निवासी न होते तो विल्हण को ऐसी गर्वोक्ति कहने का साहस न होता।

जान पड़ता है कि कालिदास प्रौढ़ वय में उज्जेन आये, क्योंकि कुमार-सम्भव और मालविकाग्निमित्र में, जो उनकी युवावस्था के ग्रन्थ हैं, उज्जेन-सम्बन्धिनी कोई बातें नहीं हैं। पर मेघदूत में सिप्रा, विदिशा और उज्जेन के मन्दिर, प्रासाद और उद्यान आदि का ऐसा अच्छा वर्णन है जैसे उन्होंने उनको प्रत्यक्ष देखा हो।

कालिदास की कविता।

कालिदास ने यद्यपि अपने जन्म से भारत ही को अलङ्कृत किया, तथापि वे अकेले भारत के ही कवि नहीं। उन्हें भूमिमण्डल का महाकवि कहना चाहिए। उनकी कविता से भारतवासियों ही की आनन्द-वृद्धि नहीं होती। उसमें कुछ ऐसे गुण हैं कि अन्य देशों के निवासियों को भी उसके पाठ और परिशीलन से वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि भारतवासियों को मिलता है। जिसमें जितनी अधिक सहृदयता है, जिसने प्रकृति के प्रसार और मानव-हृदय के भिन्न भिन्न भावों का जितना ही अधिक ज्ञान-सम्पादन किया है उसे कालिदास की कविता से उतना ही अधिक प्रमोदानुभव होता है। कवि-कुल-गुरु की कविता में प्रमोदोत्पादन की जो शक्ति है वह अविनाशिनी है। हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी न उसमें कमी हुई है, न उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हुआ है और न आगे होने की सम्भावना ही है। जब तक जगत् के साक्षर जन सच्ची और सरस, स्वाभाविक और सुन्दर कविता का आदर करते रहेंगे तब तक कालिदास के विषय में उनकी पूज्य बुद्धि भी अक्षुण्ण रहेगी। प्रमोद-जनक और शिक्षादायक वस्तुओं को जब तक मनुष्य-समुदाय अपने लिए हितकर समझेगा तब तक कालिदास की कीर्त्ति, यदि उत्तरोत्तर बढ़े भी नहीं, तो कम भी न होगी।

कालिदास को संस्कृत-कवितारूपी आकाश का पूर्ण चन्द्र कहना चाहिए। उनके किस किस गुण की प्रशंसा की जाय। संस्कृत-भाषा पर उनका अधिकार असामान्य था। उन्होंने अपनी कविता में चुन चुन कर सरल, पर सरस और प्रसङ्गानुरूप शब्दों की ऐसी योजना की है जैसी कि आज तक और किसी कवि की कविता में नहीं पाई जाती। उनकी प्रतिभा विश्वतोमुखी थी। उनकी कल्पनाओं की पहुँच पृथ्वी, आकाश, पाताल सब कहीं थी। उनके वर्णन का ढंग बड़ा ही सुन्दर और हृदय-स्पर्शी है। व्याकरण, ज्योतिष, अलङ्कारशास्त्र, नीतिशास्त्र, वेदान्त, सांख्य, पदार्थ-विज्ञान, इतिहास, पुराण आदि जिस शास्त्र और जिस विषय में उन्हें जो बात अपने मतलब की देख पड़ी है उसी को वहाँ से खींच कर उसके उप-

योग द्वारा उन्होंने अपने मनोभावों को मनोहर से मनोहर रूप देकर व्यक्त किया है।

श्रीयुत अरविन्द घोष ने कालिदास पर एक निबन्ध लिखा है। उसमें उन्होंने कालिदास की कविता के विषय में जो राय दी है उसका आशय नीचे दिया जाता है:—

"कालिदास की तर्कना-शक्ति बहुत ही अच्छी थी। शृङ्गार और करुण रस के वर्णन में वे सिद्धहस्त थे। कालिदास में प्रधान गुण यह था कि वे प्रत्येक काव्योपयोगी सामग्री को—काव्य के प्रत्येक अंश को—बड़े ही कौशल से सुन्दर बना देते थे। अपने वर्णनीय विषय की मूर्त्ति पाठकों के सामने खड़ी कर देने की जैसी शक्ति कालिदास में थी वैसी और किसी कवि में नहीं पाई जाती।

"बड़े बड़े कवि जब बहुत उत्तेजित होकर किसी बात का वर्णन करने लगते हैं तभी उनमें उस बात को प्रत्यक्षवत् दिखा देने की शक्ति आती है। पर कालिदास में यह विलक्षण शक्ति सब समय वर्त्तमान रहती थी। इसी शक्ति के साथ अपनी सौन्दर्य्य-कल्पना की सर्वश्रेष्ठ शक्ति को मिला कर वे काव्यचित्र बनाया करते थे। वे जैसे उत्तम विषय की कल्पना कर सकते थे वैसे ही उसे ख़ूबसूरती के साथ सम्पन्न भी कर सकते थे। भाषा और शब्दों के सौन्दर्य्य तथा उनकी ध्वनि और अर्थ आदि का भी वे बड़ा ख़याल रखते थे। उन्होंने संस्कृत-भाषा के भाण्डार से बहुत ही ललित छन्दों और भावपूर्ण सरस शब्दों को चुन चुन कर अपनी कविता के काम में लगाया है। इससे उनकी रचना देववाणी की तरह मालूम होती है। कालिदास की भावोद्बोधन-शक्ति ऐसी अच्छी थी कि पिछले हज़ार वर्ष के संस्कृत-साहित्य में सर्वत्र उसी की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इनकी कविता में संक्षिप्तता, गम्भीरता और गौरव—तीनों बातें पाई जाती हैं। भाषा की सुन्दरता और प्रसङ्गानुकूल शब्दों की योजना से इनकी रचना का सौन्दर्य और माधुर्य और भी बढ़ गया है। यों तो कालिदास ने सभी विषयों का वर्णन बड़े ही ललित पद्यों में किया है; पर इनके ऐतिहासिक काव्य और नाटक बहुत ही अच्छे हैं। ऐतिहासिक काव्य-रचना में कालिदास मिल्टन से भी बढ़ गये हैं। इनके नाटकों की भाषा में असाधारण

सुन्दरता और मधुरता है। वह भाषा बोल-चाल में व्यवहार करने लायक़ है। कालिदास को इन्हीं श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर ऐसे समय में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिस के साथ इनकी स्वाभाविक सहानुभूति थी।

"कालिदास ने अपने अपूर्व कवि-कौशल से अनूठे अनूठे पौराणिक दृश्यों पर नये नये बेलबूटे लगा कर उनकी सुन्दरता और भी बढ़ा दी है। आँख, कान, नाक, मुँह आदि ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति के विषय, तथा कल्पना और प्रवृत्ति, यही बातें काव्यरचना के मुख्य उपादान हैं। कालिदास ने इन सामग्रियों से एक आदर्श-सौन्दर्य की सृष्टि की है। कालिदास के काव्यों से स्वर्गीय सौन्दर्य्य की आभा झलकती है। वहाँ सभी विषय सौन्दर्य्य के शासन के अधीन हैं। धार्म्मिक भाव और बुद्धि भी सौन्दर्य्य-शासन में रक्खी गई है। परन्तु इतने पर भी, अन्यान्य सौन्दर्य्य-उपासना-पूर्ण कविताओं के स्वाभाविक दोषों से कालिदास की कविता बची हुई है। अन्य कविताओं की तरह इनकी कविता धीरे धीरे कमज़ोर नहीं होती गई। उसमें दुराचार की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। इनकी कविता अपनी नायिकाओं की काली कुटिल अलकों और भ्रू-भङ्गियों में भी अत्यन्त उलझी हुई नहीं जान पड़ती। कालिदास की रचना इन सब दोषों से बची हुई है। समुचित शब्दों के प्रयोग और काव्य के चमत्कार की ओर ही इनका अधिक ध्यान था।"

अरविन्द बाबू की इस सम्मति से हम पूर्णतया सहमत हैं।

कालिदास और शेक्सपियर।

रचनानैपुण्य और प्रतिभा के विकाशसम्बन्ध में कालिदास की बराबरी का यदि और कोई कवि हुआ है तो वह शेक्सपियर ही है। भिन्न भिन्न देशों में जन्म लेकर भी सारे संसार को अपने कवित्व-कौशल से एक सा मुग्ध करनेवाले यही दो कवि हैं। इनकी रचनायें इस बात का प्रमाण हैं कि इन दोनों के हृदय-क्षेत्र में एकही सा कवित्व-बीज वपन हुआ था। इनके विचार, इनके भाव, इनकी उक्तियाँ अनेक स्थलों में परस्पर लड़ गई हैं। जिस वस्तु को जिस दृष्टि से कालिदास ने देखा है प्रायः उसी दृष्टि से शेक्सपियर ने भी देखा है। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में भिन्न भिन्न

स्वभाववाले मनुष्यों के भिन्न भिन्न चित्र अङ्कित किये हैं। कालिदास ने भी ठीक वैसाही किया है। जिसका जैसा स्वभाव है उसका वैसाही चित्र उन्होंने उतारा है। जिस कार्य्य का जैसा परिणाम होना चाहिए उसका वैसाही निदर्शन उन्होंने किया है। प्रेमियों की जो दशा होती है, उनके हृदय में जिन विकारों का प्रादुर्भाव होता है, वे अपने प्रेमपात्र को जिस दृष्टि से देखते हैं—कालिदास और शेक्सपियर दोनों के नाटको में—इन बातों का सजीव चित्र देखने को मिलता है। शेक्सपियर के मैकवेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट, मिरंडा और देसदेमोना आदि के चित्रों का मिलान कालिदास के दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरूरवा, शकुन्तला, प्रियंवदा आदि के चित्रों से करने पर यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि इन दोनों महाकवियों को मानवी स्वभाव का कितना तलस्पर्शी ज्ञान था। कहीं कहीं पर तो इन महाकवियों के नाटक-पात्रों ने, तुल्य प्रसङ्ग आने पर, ठीक एकहीसा व्यवहार किया। शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त कहता है:—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकथोदयम्

रोमियो भी जूलियट के विषय में प्रायः यही कहता है:—

She will not stay the siege of loving terms,
Nor bide the encounter of assailing eyes.

शेक्सपियर और कालिदास में यदि कुछ भेदभाव है तो यह है कि कालिदास प्रकृति-ज्ञान में अद्वितीय थे और शेक्सपियर मानवमनोभाव-ज्ञान में। मानव-जाति के मनोभावों का जैसा सजीव चित्र शेक्सपियर ने चित्रण किया है वैसाही सजीव चित्र कालिदास ने प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण किया है। कालिदास बहिर्जगत् के चित्रकार या व्याख्याता थे, शेक्सपियर अन्तर्जगत् के। मानवी मनोविकारों का कोई भेद शेक्सपियर से छिपा नहीं रहा। उसी तरह सृष्टि में जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं—जितने प्राकृतिक दृश्य हैं—उनका कोई भी रहस्य कालिदास से छिपा नहीं रहा। कवित्वशक्ति दोनों में ऊँचे दरजे की थी; परन्तु एक की शक्ति अन्तर्जगत् के रहस्यों का विश्लेषण करने की तरफ़ विशेष झुकी हुई थी, दूसरे की बहिर्जगत् के। इस निष्कर्ष से सब लोग सहमत हों या न हों; परन्तु

इन दोनों महाकवियों की रचनाओं को ख़ूब ध्यान से पढ़ने और उन पर विचार करनेवाले इस बात से अवश्य सहमत होंगे कि कालिदास की तुलना यदि किसी महाकवि से की जा सकती है तो शेक्सपियर ही से की जा सकती है।

कालिदास और भवभूति।

भवभूति भी नाटक-रचना में सिद्धहस्त थे। करुण-रस का जैसा परिपाक उनकी कविता में देखा जाता है वैसा किसी अन्य कवि की कविता में नहीं देखा जाता। मानवी हृदय के अन्तर्गत भावों को जान लेने और उनके शब्द-चित्र बनाकर तद्द्वारा उन्हें सामाजिकों को हृदयङ्गम करा देने की विद्या भवभूति को ख़ूब ही साध्य थी। करुण-रस का—यत्र तत्र शृङ्गार और वीर का भी—भवभूति ने जहाँ जहाँ उत्थान किया है वहाँ वहाँ घटनाक्रम के अनुसार उस रस का धीरे धीरे तूफ़ान सा आ गया है। कालिदास ने जिस बात को बड़ी ख़ूबी के साथ थोड़े में कह दिया है उसी को भवभूति ने बेहद बढ़ाया है। मनोभावों को बढ़ा कर वर्णन करना कहीं अच्छा लगता है, कहीं नहीं अच्छा लगता। देश, काल, पात्र और अवस्था का ख़याल रख कर प्रसङ्गोपात्त विषय का आकुञ्चन किंवा प्रसारण किया जाना चाहिए। युद्ध के लिए किसी को उत्तेजित करने के लिए वीररसपरिपोषक लम्बी वक्तृता असामयिक और अशोभित नहीं होती। परन्तु जो मनुष्य इष्ट-वियोग अथवा अन्य किसी कारण से व्यथित है उसके मुख से निकली हुई धाराप्रवाही वक्तृता अप्राकृतिक मालूम होती है। थोड़े में अपनी व्यथा-कथा कह कर चुप हो जाना ही व्यथा की गम्भीरता का दर्शक है। शकुन्तला के वियोग में दुष्यन्त ने, और मालती के वियोग में माधव ने, जो कुछ कहा है वह इस बात का प्रमाण है कि जिस बात को भवभूति बड़े बड़े श्लोकों, लम्बे लम्बे समासों और चुने हुए शब्दों में कह कर भी पाठकों का उतना मनोरञ्जन न कर सकते थे उसी को कालिदास थोड़े में इस ख़ूबी से कह सकते थे कि वह दर्शकों या पाठकों के चित्त में चुभी सी जाती थी। शब्दचित्रण में भवभूति बढ़े चढ़े थे, भावोद्बोधन में कालिदास। एक उदाहरण लीजिए। भवभूति का एक शब्दचित्र है:—

सन्तानवाहीण्यपि मानुषाणां दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते॥

अर्थात्—प्रेमी जन को देखने से बन्धु-वियोग-जन्य दुःख माने हज़ार गुना अधिक हो जाता है। वह इतना बढ़ जाता है माने उससे हज़ारों सोतें फूट निकलते हैं। इसी बात को—इसी भाव को—देखिए, कालिदास थोड़े ही शब्दों में, पर किस खूबी से, कहते हैं:—

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।

अर्थात्—स्वजनों के आगे छिपे हुए दुःख को बाहर निकल आने के लिए हृदय का द्वार सा खुल जाता है।

इसी से कहते हैं कि भवभूति के भाव शब्द-समूह के सघन वेष्टन से वेष्टित हैं। कालिदास के भावों का शब्द-वेष्टन इतना बारीक और इतना थोड़ा है कि वे उसके भीतर झलकते हुए देख पड़ते हैं। यही इन दोनों नाट्यकारों की कविता में विशेषता है।

कालिदास की उपमायें।

सुन्दर, सर्व्वाङ्गपूर्ण और निर्दोष उपमाओं के लिए कालिदास की जो इतनी ख्याति है वह सर्वथा यथार्थ है। किसी देश और किसी भाषा का अन्य कोई कवि इस विषय में कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। इनकी उपमायें अलौकिक हैं। उनमें उपमान और उपमेय का अद्भुत सादृश्य है। जिस भाव, जिस विचार, जिस उक्ति को स्पष्टतर करने के लिए कालिदास ने उपमा का प्रयोग किया है उस उक्ति और उपमा का संयोग ऐसा बन पड़ा है जैसा कि दूध-बूरे का संयोग होता है। उपमा को उक्ति से अलग कर देने से वह अत्यन्त फीकी किंवा नीरस हो जाती है। यह बात केवल उपमाओं ही के लिए नहीं कही जा सकती। उपमाओं के सिवा उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त और निदर्शनालङ्कारों का भी प्रायः यही हाल है। अन्य कवियों की उपमाओं में उपमान और उपमेय के लिङ्ग और वचन में कहीं कहीं विभिन्नता पाई जाती है; पर कालिदास की उपमाओं में शायद ही कहीं यह दोष हो। देखिए:—

(१) प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः।
(२) नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।

(३) समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्।
(४) विभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्।
(५) पर्य्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।
(६) नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्।

कैसी सुन्दर उपमायें हैं; कैसी श्रुतिसुखद और प्रसाद-गुणपूर्ण पदावली है। किसकी प्रशंसा की जाय? उपमा की "कोमल-कान्त-पदावली" की अथवा हृदयहारिणी उक्ति की?

कालिदास की कुछ उपमायें बहुत छोटी हैं; अनुष्टुप् छन्द के एक ही चरण में वे कही गई हैं। ऐसी उपमाओं में भी वही ख़ूबी है जो लम्बे लम्बे श्लोकों में गुम्फित उपमाओं में है। ये छोटी छोटी उपमायें नीति, सदाचार और लोक-रीति-सम्बन्धिनी सत्यता से भरी हुई हैं। इसी से पण्डितों के कण्ठ का भूषण हो रही हैं। साधारण बात-चीत और लेख आदि में इनका बेहद व्यवहार होता है:—

(१) आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।
(२) त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।
(३) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।
(४) हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्ज्ययत्यपः।
(५) उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः।

आदि ऐसी ही उपमायें हैं।

कालिदास का शास्त्र-ज्ञान।

कालिदास के काव्य और नाटक इस बात का साक्ष्य दे रहे हैं कि कालिदास केवल महाकवि ही न थे। कोई शास्त्र ऐसा न था जिसमें उनकी गति न हो। वे असामान्य वैयाकरण थे। अलङ्कार-शास्त्र के वे पारगामी थे। संस्कृत-भाषा पर उनकी निःसीम सत्ता थी। जो बात वे कहना चाहते थे उसे कविता द्वारा व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक सुन्दर और भाव-व्यञ्जक शब्दों के समूह के समूह उनकी जिह्वा पर नृत्य सा करने लगते थे। कालिदास की कविता में शायद ही कुछ शब्द ऐसे होंगे जो असुन्दर और अनुपयोगी अथवा भावोद्बोधन में असमर्थ समझे जा सकें। वेदान्त के वे ज्ञाता थे; आयुर्वेद के वे ज्ञाता थे; सांख्य, न्याय और योग के वे ज्ञाता थे; ज्योतिष के वे ज्ञाता थे; पदार्थ-विज्ञान के वे ज्ञाता

थे। लोकाचार, राजनीति, साधारण नीति आदि में भी उनकी असामान्य गति थी। प्रकृति-परिज्ञान के तो वे अद्भुत पण्डित थे। प्रकृति की सारी करामातें—उसके सारे कार्य—उनकी प्रतिभा के मुकुर में प्रतिविम्बित होकर उन्हें इस तरह देख पड़ते थे जिस तरह कि हथेली पर रक्खा हुआ आमला देख पड़ता है। वे उन्हें हस्तामलक हो रहे थे। उनकी इस शास्त्रज्ञता के प्रमाण उनकी उक्तियों और उपमाओं में जगह जगह पर रत्नवत् चमक रहे हैं।

दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान।

ग्रंथारम्भ में कही गई कालिदास की उक्तिओं से यद्यपि यह सूचित होता है कि वे शैव थे, किंवा शिवोपासना की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक थी, तथापि वे पूरे वेदान्ती थे। वेदान्त के तत्वों को वे अच्छी तरह जानते थे। ईश्वर और जीव, माया और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को वे वैसा ही मानते थे जैसा कि शङ्कराचार्य्य ने पीछे से माना है। ईश्वर की सर्व-व्यापकता भी उन्हें मान्य थी। अभिज्ञान-शाकुन्तल का पहला ही श्लोक—"या सृष्टिः स्रष्टुराद्या"—इस बात का साक्षी है। इसमें उन्होंने यह स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया है कि ईश्वर की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। परमात्मा की अनन्तता का प्रमाण रघुवंश के इस श्लोक में है:—

> तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
> विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥

पुनर्जन्म अथवा आत्मा की अविनश्वरता का प्रमाण रघुवंश के निम्नोद्धृत पद्यार्ध में पाया जाता है:—

> मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

कालिदास की योग-शास्त्र-सम्बन्धिनी विज्ञता उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है:—

> तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।

माया का आवरण हट जाने और सञ्चित कर्म्म क्षीणता को प्राप्त होने से आत्मा का योग परमात्मा से हो जाता है। यह वेदान्त-तत्त्व है। इसे कालिदास जानते थे, यह बात भी उनकी पूर्वोक्त उक्ति से सिद्ध है। वेदान्तियों का सिद्धांत है कि कर्म्मों या संस्कारों का बीज नष्ट नहीं होता। कालिदास ने:—

(१) प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः

और

(२) भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि

कह कर इस सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है। सांख्य-शास्त्रसम्बन्धिनी उनकी अभिज्ञता के दर्शक एक श्लोक का अवतरण पृष्ठ १० में पहले ही दिया जा चुका है।

ज्योतिष का ज्ञान।

इस में तो कुछ भी सन्देह नहीं कि कालिदास ज्योतिष-शास्त्र के पण्डित थे। इस बात के कितने ही प्रमाण उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उज्जयिनी बहुत काल तक ज्योतिर्विद्या का केन्द्र थी। जिस समय इस शास्त्र की बड़ी ही ऊर्ज्जितावस्था थी उसी समय, अथवा उसके कुछ काल आगे पीछे, कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ। अतएव ज्योतिष से उनका परिचय होना बहुत ही स्वाभाविक था:—

(१) दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे।
(२) ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंस्थैर्ग्राह्ये मुहूर्त्ते किल तस्य देवी।
(३) मैत्रे मुहूर्त्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
(४) हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।
(५) तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।

इत्यादि ऐसी कितनी ही उक्तियाँ कालिदास के ग्रन्थों में विद्यमान हैं जो उनकी ज्योतिष-शास्त्रज्ञता के कभी नष्ट न होनेवाले सर्टिफ़िकेट हैं।

ग्रहण के यथार्थ कारण को भी कालिदास अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने रघुवंश में लिखा है:—

छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।

पदार्थविज्ञान से परिचय।

कुमारसम्भव के:—

हरस्तु किंचित्प्रविलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।

इस श्लोक से सूचित होता है कि समुद्र में ज्वार-भाटा आने का प्राकृतिक कारण भी उन्हें अच्छी तरह मालुम था।

ध्रुव-प्रदेश में दीर्घ-काल तक रहनेवाले उषःकाल का भी उन्हें ज्ञान था। उन्होंने लिखा है:—

मेरोरुपान्तेष्विव वर्त्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ।

उनके उष:काल-सम्बन्धी ज्ञान का यह दृढ़ प्रमाण है ।

सूर्य की उष्णता से पानी भाफ बन कर उड़ जाता है । वही बरसता है । इस बात को भी वे जानते थे । कुमारसम्भव का चैाथा सर्ग इस की गवाही दे रहा है:—

रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ।

रघुवंश के: —

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।

इस पद्यार्द्ध से भी यही बात सिद्ध होती है ।

"अयस्कान्तेन लोहवत्"—लिख कर उन्होंने यह सूचना दी है कि हम चुम्बक के गुणों से भी अनभिज्ञ नहीं ।

आयुर्वेद-ज्ञान ।

कालिदास चाहे अनुभवशील वैद्य न रहे हों; चाहे उन्होंने आयुर्वेद का विधिपूर्वक अभ्यास न किया हो; परन्तु इस शास्त्र से भी उनका थोड़ा बहुत परिचय अवश्य था । और, सभी सत्कवियों का परिचय प्रधान प्रधान शास्त्रों से अवश्यही होना चाहिए । बिना सर्वशास्त्रज्ञ हुए—बिना प्रधान प्रधान शास्त्रों का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किये—कवियों की कविता सर्वमान्य नहीं हो सकती । महाकवियों के लिए तो इस तरह के ज्ञान की बड़ी ही आवश्यकता होती है । क्षेमेन्द्र ने इस विषय में जो कुछ कहा है बहुत ठीक कहा है । वैद्य-विद्या के तत्वों से कालिदास अनभिज्ञ न थे । कुमारसम्भव के दूसरे सर्ग में तारक के दैारात्म्य और पराक्रम आदि का वर्णन है । उस प्रसङ्ग में कालिदास ने लिखा है :—

तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ॥

मालविकाग्निमित्र में सर्पदंशचिकित्सा के विषय में कविकुलगुरु की उक्ति है:—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतस्यारक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥

इन अवतरणों से यह सूचित होता है कि कालिदास की इस शास्त्र में भी बहुत नहीं तो थोड़ी गति अवश्य थी ।

राजनीति-ज्ञान।

इस विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। रघुवंश में राजाओं ही का वर्णन है। उसमें ऐसी सैकड़ों उक्तियाँ हैं जो इस बात की घोषणा दे रही हैं कि कालिदास बहुत बड़े राजनीतिज्ञ थे। राजा किसे कहते हैं, उसका सबसे प्रधान धर्म्म या कर्तव्य क्या है, प्रजा के साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए—इन बातों को कालिदास जैसा समझते थे वैसा शायद आज कल के बड़े से भी बड़े राजे-महाराजे और राजनीतिनिपुण अधिकारी न समझते होंगे। कालिदास की—"स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः"—सिर्फ़ यह एक उक्ति इस कथन के समर्थन के लिए यथेष्ट है।

भूगोल-ज्ञान।

मेघदूत में कालिदास ने जो अनेक देशों, नगरों, पर्वतों और नदियों आदि का वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि उन्हें भारत का भौगोलिक ज्ञान भी बहुत अच्छा था। चोल, केरल और पाण्ड्य देश का उन्होंने जैसा वर्णन किया है; विन्ध्यगिरि, हिमालय और काश्मीर के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है; रघुवंश के तेरहवें सर्ग में भारतीय समुद्र के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ उन्होंने कहीं हैं—वे सब प्रायः ठीक हैं।

कालिदास के ग्रन्थ।

रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत, ये तीन काव्य और शकुन्तला, विक्रमोर्व्वशीय और मालविकाग्निमित्र, ये तीन नाटक कालिदास के प्रधान ग्रन्थ हैं। इनके सिवा ऋतुसंहार, शृङ्गारतिलक, श्यामलादण्डक आदि और भी कई छोटी छोटी पुस्तकें उनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

कुमारसम्भव।

कुमारसम्भव में शिव-पार्व्वती के विवाह की कथा है। श्रीयुत बाबू अरविन्द घोष की राय है कि कवि ने उसमें पुरुष और प्रकृति के संयोग का चित्र दिखाया है। इसी संयोग से इस संसार की सृष्टि हुई है। इस काव्य में कवि ने यह भी स्पष्टतापूर्व्वक दिखाया है कि जीवात्मा किस तरह ईश्वर की खोज करता है और कैसे उसे प्राप्त करता है। इस तरह कवि ने धर्म-सम्बन्धी दो बड़े भारी आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों को

स्त्री-पुरुष के चरित्र के व्याज से प्रकट कर दिखाया है। सांसारिक विषयों के वर्णन का यह बहुत ही अच्छा ढँग है।

मेघदूत।

मेघदूत में कालिदास ने आदर्श प्रेम का चित्र खींचा है। उसको सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक बनाने के लिए यक्ष को नायक कल्पना करके कालिदास ने अपने कवित्व-कौशल की पराकाष्ठा करदी है। निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम का जैसा चित्र मेघदूत में देखने को मिलता है वैसा और किसी काव्य में नहीं। मेघदूत के यक्ष का प्रेम निर्दोष है। और, ऐसे प्रेम से क्या नहीं हो सकता ? प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है; प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य्य प्राप्त हो सकता है; प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम की भी उत्पत्ति हो सकती है। अतएव कालिदास का मेघदूत शृङ्गार और करुण-रस से परिप्लुत है तो क्या हुआ, वह उच्च-प्रेम का सजीव उदाहरण है।

विक्रमोर्व्वशीय और मालविकाग्निमित्र।

विक्रमोर्व्वशीय में राजा पुरूरवा और उर्व्वशी की और मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र और मालविका की कथा है। अभिनय की दृष्टि से और कविता की भी दृष्टि से ये दोनों ही नाटक अच्छे हैं। पर इनमें समाज के हित की कोई बात नहीं। केवल प्रणय और प्रणयोन्माद-वर्णन का ही इनमें प्राबल्य है। कालिदास ने शायद जान बूझ कर इनमें आदर्श चरित्रों का चित्रण नहीं किया। उन्होंने शायद समाज की तात्कालिक अवस्था का चित्र खींचने के लिए ही इन नाटकों की रचना की है। अतएव समाज की जैसी दशा थी वैसा चित्र उन्हों ने खींच दिया और दिखा दिया कि उस समय के प्रणय का यह हाल था।

अभिज्ञान-शाकुन्तल।

कालिदास का यह नाटक उनके पूर्वोक्त दोनों नाटकों से अच्छा है। ऐसा अच्छा नाटक शायद ही और किसी भाषा में हो। कलकत्ते के संस्कृत कालेज के अध्यापक श्रीयुत राजेन्द्रनाथ-देव शर्म्मा विद्याभूषण ने इस नाटक के विषय में जो सम्मति दी है उसका सारांश सुन लीजिए:—

अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास की विश्वतोमुखी प्रतिभा, ब्रह्माण्डव्या

पिनी कल्पना और सर्वातिशायिनी रचना की सर्वोत्तम कसौटी है। विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र में कवि ने जिन दिव्य दृश्यों और दिव्य मूर्तियों का अङ्कण किया है वे सब तो शाकुन्तल में हैं ही; परन्तु उसमें ऐसी और भी अनेक मूर्तियाँ और अनेक चीज़ें हैं जिनका मनही मन केवल अनुभव किया जा सकता है, दूसरे को उनका अनुभव नहीं कराया जा सकता। वे केवल आत्मसंवेद्य हैं; भाषा की सहायता से वे दूसरे पर प्रकट नहीं की जा सकतीं। इसी से अभिज्ञान-शाकुन्तल कवि-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है। सहृदय जनों ने यथार्थ ही कहा है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान-शाकुन्तलम्"। अभिज्ञान-शाकुन्तल कालिदास का सर्वस्व है; उनकी अपार्थिव कल्पनारूपिणी उद्यान-वाटिका की अमृतमयी पारिजात-लता है। धर्म और प्रेम, इन दोनों के सम्मेलन से जगत् में जिस मधुर आनन्द की उत्पत्ति होती है, अभिज्ञान-शाकुन्तल-रूपी स्वच्छ दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। शकुन्तला महाकवि की चरम सृष्टि है—वाणी के वर-पुत्र का अक्षय आलेख्य है!

बँगला के सर्वश्रेष्ठ कवि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शकुन्तला-रहस्य नामक एक प्रबन्ध में अभिज्ञान-शाकुन्तल की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है वह भी सुनने लायक़ है। अतएव उसके भी कुछ अंश का अनुवाद नीचे दिया जाता है:—

इस नाटक में दो संयोगात्मक घटनायें हैं। नाटक के आदि में दुष्यन्त और शकुन्तला, पारस्परिक सौन्दर्य्य से मोहित होकर, आपस में मिलते हैं। यह मिलाप विषय-वासना-जन्य है। यह इस नाटक की पहली संयोगात्मक घटना है। दूसरी घटना नाटक के अन्त में है। यह उस समय की है जब विषयवासना से रहित होकर सच्चे ईश्वरीय प्रेम की प्रेरणा से मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों मिलते हैं। इस समूचे नाटक का उद्देश पहली संयोगात्मक घटना को दूसरी में परिणत कर देना है। अथवा यों कहिए कि प्रेम को सांसारिक सौन्दर्य्य के गढ़े से निकाल कर धार्म्मिक सौन्दर्य्य के अविनश्वर स्वर्ग में स्थापित करना ही कालिदास का मुख्य उद्देश है।

इस उद्देश की पूर्त्ति, अर्थात् पृथ्वी और स्वर्ग का संयोग, कालिदास

ने बहुत ही अच्छी तरह से किया है। कालिदास की पृथ्वी ऐसी सुगमता से स्वर्ग में जा मिलती है कि पाठकों को दोनों की सीमा का मेल मालूम ही नहीं पड़ता। पहले अङ्क में कवि ने विषय-वासना-विवश शकुन्तला के अधःपतन को छिपाने की चेष्टा नहीं की। युवावस्था के कारण नई नई बातें जो होती हैं उन सबका कवि ने चित्र सा खींच दिया है। यह शकुन्तला के भोलेपन का प्रमाण है। दुष्यन्त को देखने से उसके हृदय में प्रेम-सम्बन्धी जो जो भाव आविर्भूत हुए उनसे सामना करने के लिए वह तैयार न थी। वह यह न जानती थी कि ऐसे अवसर पर अपने चित्त की वृत्तियों को मैं कैसे रोकूँ, और अपने हृद्गत भावों को मैं कैसे छिपाऊँ। वह प्रेम के प्रपञ्च से बिलकुल ही अपरिचित थी। ऐसे मौक़े के लिए जो शस्त्रास्त्र दरकार होते हैं वे उसके पास न थे। इससे उसने न तो अपने हृदय के भावों पर ही अविश्वास किया और न अपने प्रेमी दुष्यन्त के व्यवहार ही पर। जैसे उसके आश्रम की मृगियाँ भय से एकदम अपरिचित थीं वैसे ही वह आश्रमवासिनी कन्या भी इस तरह की आपत्तियों से बिलकुल अनजान थी।

प्रथम अङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच कामुक और कामिनी के नाते जो प्रीति हुई है उसकी असारता, और अन्तिम अङ्क में भरत के माता-पिता के रूप में जो प्रीति हुई है उसकी सारता कवि ने दिखाई है। पहला अङ्क चमक-दमक से भरा हुआ है। कहीं एक संन्यासी की कन्या खड़ी है; कहीं उसकी दो सखियाँ इधर उधर दौड़ रही हैं; कहीं वन की लतायें नवीन पल्लवों और कलियों से युक्त अपूर्व शोभा धारण कर रही हैं; कहीं वृक्ष की ओट से राजा इन सब दृश्यों को देख रहा है। परन्तु, अन्तिम अङ्क में, मरीचि के आश्रम का दृश्य कुछ और ही है। वहाँ पर शकुन्तला भरत की माता और धर्म्म की प्रत्यक्ष-मूर्त्ति की तरह निवास करती है। वहाँ कोई सखी-सहेली वृक्षसेचनादि नहीं करती और न कोई हरिण के छोटे छोटे बच्चों ही को खिलाती है। वहाँ केवल एक छोटा लड़का अपने भोले भाले अनोखे ढंग से आश्रम को सुशोभित कर रहा है। वह उस आश्रम के वृक्ष, लता, फल, फूल आदि सब के सौन्दर्य्य और माधुर्य्य को अपने में ही एकत्र सा कर लेता है। वहाँ की स्त्रियाँ

भी उसी चञ्चल बालक के लाड़-प्यार में लगी रहती हैं। जब शकुन्तला रङ्गशाला में आती है तब शुद्धहृदया, प्रायश्चित्तपरायणा, पीतवदना और मलिनवसना देख पड़ती है। बहुत दिनों के प्रायश्चित्त ने दुष्यन्त के पहले मिलाप के कलङ्क को एकदम धो डाला है। अब वह वात्सल्य-भाव से पूर्ण है। अब वह माता और गृहिणी में परिणत हो गई है। ऐसी दशा में कौन उसको अस्वीकार कर सकता था?

शकुन्तला और कुमारसम्भव दोनो में कवि ने साफ़ साफ़ यह दिखा दिया है कि धर्मावलम्बी होने से सौन्दर्य्य चिरस्थायी होता है; संयम-शील और हितवर्द्धक प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है; निग्रह न होने से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। महाकवि कालिदास ने केवल विषय-विलास को ही प्रेम का उद्देश नहीं माना। उन्होंने साफ़ कह दिया है कि प्रेम का यथार्थ उद्देश परोपकार है। इस नाटक से यह शिक्षा मिलती है कि दाम्पत्य-प्रेम जब तक अपने ही में संकुचित रहता है; जब तक वह परोपकारी नहीं होता; जब तक समाज, पुत्र, कन्या आदि पर उसका असर नहीं पड़ता—तब तक उसे निष्फल और क्षणभङ्गुर समझना चाहिए।

भारतवासियों के दो अनोखे सिद्धान्त हैं—एक हितकारी गृहस्थाश्रम का बन्धन, दूसरा आत्मा की स्वतन्त्रता। संसार की कई एक जातियों, धर्मों और देशों से भारतवर्ष का सम्बन्ध है। वह किसी को अलग नहीं कर सकता। परन्तु तपस्या के उच्च आसन पर वह अकेले ही शोभित है। कालिदास ने इन दोनों सिद्धान्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध अच्छी तरह दिखाया है। उन्होंने मरीचि के आश्रम के छोटे छोटेलड़कों का सिंह के बच्चों के साथ खेलना लिखा है। संन्यास और गृहस्थाश्रम का मेल, कालिदास से अच्छा और शायद ही किसी ने दिखाया हो।

संन्यासियों की कुटी के आधार पर कालिदास ने गृहस्थ का घर बनाया है। उन्होंने दाम्पत्य-प्रेम को विषय के पञ्जे में जाने से बचाया है और उसे संन्यासोचित ऊँचा आसन दिया है। हमारे धर्मशास्त्रों में भी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कठिन नियमों से जकड़ा हुआ है। कालिदास ने उस बन्धन के सम्बन्ध को सौन्दर्य्य के तत्व से भी सही सिद्ध किया है। कालिदास ने नम्रता, धर्म और माधुर्य्य मिले हुए सौंदर्य्य को ही पूज्य

माना है, केवल वाहरी सौन्दर्य्य को नहीं। कालिदास का सौन्दर्य्य घनिष्ठता में एकाङ्गी, किन्तु व्यापकता में सारे संसार को अपनी गोद में लिये हुए है। जैसे द्रुतप्रवाहा नदी समुद्र में मिल कर अखंड शान्ति लाभ करती है, वैसे ही स्त्री-पुरुषों का प्रेम सौन्दर्य की गोद में पहुँच कर असीम शान्ति-सुख पाता है। ऐसा निग्रह-युक्त प्रेम निग्रहहीन प्रेम से उत्तम ही नहीं होता, किन्तु आश्चर्य्यकारक भी होता है।

रवीन्द्र वाबू की सम्मति के इस अल्पांश से यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि अभिज्ञान-शाकुन्तल कैसा नाटक है और उससे क्या शिक्षा मिलती है।

कालिदास का रघुवंश।

कालिदास के ग्रन्थों में रघुवंश सर्वश्रेष्ठ है। उसकी सर्व्वोत्तमता का कारण यह है कि उसमें महाकवि ने नैसर्गिक वर्णन का सवसे अच्छा चित्र उतारा है। और, सृष्टि-चातुर्य्य का सूक्ष्म और सच्चा ज्ञान होना ही कवि का सब से वड़ा गुण है। इस गुण के सम्बन्ध में श्रीयुत राजेन्द्रनाथ-देव शर्म्मा ने अपने "कालिदास" नामक ग्रन्थ में वहुत कुछ लिखा है। उसका आशय नीचे दिया जाता है:—

कवि का प्रधान गुण सृष्टिनैपुण्य है। सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश, काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है। यह कौशल जिसमें नहीं उसमें अन्य गुण चाहे जितने हों उसकी रचना उत्कृष्ट नहीं हो सकती। सृष्टिवर्णन स्वभावानुरूप होने से मनोरम होता है; स्वभाव-प्रतिकूल होने से विरक्तिजनक हो जाता है। इसी से आरव्योपन्यास की अधिकांश घटनायें सहृदय-सम्मत नहीं। स्वभाव के अनुसार जो व्यापार होते हैं, कवि की सष्टि में तदनुयायी व्यापारों ही का होना उचित है। यदि कवि अपने सृष्टि-कौशल में सांसारिक व्यापार-समूह को स्वाभाविक व्यापार की अपेक्षा अधिकतर मनोहर और वैचित्र्य-विभूषित बना सके तो उसका काव्य और भी सुन्दर हो। मनुष्य के प्रधान गुणों में आत्मत्याग भी एक गुण है। वह एक प्रकार की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। संसार में इस आत्मत्याग के अनेक उदाहरण देखे जाते हैं। यदि कवि अपने काव्य में इस आत्म-

त्याग की उत्तम मूर्ति बना सके तो उसका काव्य निःसन्देह बहुत ही हृदयहारी होगा। किन्तु आत्मत्याग के जैसे दृष्टान्त संसार में दृष्टिगोचर होते हैं उनकी अपेक्षा यदि कवि ऐसे दृष्टान्तों को अधिकतर मनोज्ञ बना सके तो उसकी सृष्टि स्वाभाविक सृष्टि की अपेक्षा समधिक चमत्कारिणी और आह्लाददायिनी होगी। इस चमत्कारिणी कवि-सृष्टि में यदि कुछ भी स्वभाव-विरुद्ध, अर्थात् अस्वाभाविक, न होगा तभी वह सृष्टि सर्व्वांश में निरवद्य होगी। स्वभाव में जो बात सोलह आने पाई जाती है उसे कवि अठारह आने कर सकता है। परन्तु स्वभाव में जिस वस्तु का अस्तित्व एक आना भी नहीं उसकी रचना करने से यही सूचित होगा कि कवि में नैपुण्य का सर्वथा अभाव है। स्वभावानुरूप चरित्र-सृष्टि करने से भी कवि की तादृश प्रशंसा नहीं। क्योंकि, ऐसी सृष्टि से कवि-सृष्टि का उत्कर्ष नहीं सूचित होता। उससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। जो व्यवहार हम लोग प्रति दिन संसार में अपनी आँखों से देखते हैं उन्हीं का प्रतिबिम्ब यदि कवि-सृष्टि में देखने को मिला—उन्हीं का यदि पुनर्दर्शन प्राप्त हुआ—तो उसमें विशेषता ही क्या हुई? जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन न हुआ वह काव्य उत्तम नहीं कहा जा सकता। समुद्र के किनारे बैठ कर अस्तगमनोन्मुख सूर्य्य की शोभा देखना बहुत ही आनन्ददायक दृश्य है। पर्वत के शिखर से अधोगामिनी नदी या अधोदेश-वर्तिनी हरितवसना पृथ्वी का दर्शन सचमुच बड़ा ही आह्लादकारक व्यापार है। अपनी प्रतिभा के बल पर कवि इन दोनों प्रकार के दृश्यों की तद्वत् मूर्तियाँ निर्मित कर सकता है। परन्तु उनके अवलोकन से क्षणस्थायी आनन्द के सिवा दर्शकों और पाठकों का और कोई हितसाधन नहीं हो सकता। उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। जिस सृष्टि से आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं। संसार में ऐसे संख्यातीत पदार्थ हैं जिनसे क्षण भर के लिए चित्त का विनोदन हो सकता है—हृदय को आह्लाद प्राप्त हो सकता है। फिर काव्य की क्या आवश्यकता? अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि पाठकों के आमोद-विधान के सिवा काव्य का और भी कुछ उद्देश है। परन्तु वह उद्देश काव्य-शरीर के अन्तर्गत इतना छिपा हुआ होता है कि पाठकों को

उसकी उपलब्धि सहसा नहीं होती। देवशक्ति जिस प्रकार अज्ञात-भाव-पूर्वक अपना काम करती है उसी तरह कवि का वह गूढ़ उद्देश भी पाठकों के हृदय पर असर करता है; पर उनको उसके अस्तित्व की कुछ भी खबर नहीं होती। इस प्रकार का गूढ़ उद्देश पाठकों के अन्तःकरण में चिर-स्थायी संस्कार उत्पन्न किये विना नहीं रहता। कवि का वह प्रच्छन्न उद्देश है—पाठकों के हृदय का उत्कर्ष-साधन और शुद्धि-विधान, तथा जगत् को शिक्षा-प्रदान। कवि-जन पहले तो सौन्दर्य्य की पराकाष्ठा दिखलाते हैं। फिर, उसी प्रत्यक्ष-सौन्दर्य्य-सृष्टि के द्वारा परोक्षभाव से पाठकों के हृदय को भी सौन्दर्य्य-पूर्ण कर देते हैं। सुन्दर फूल को देख कर नेत्रों को अवश्य तृप्ति होती है; पर यदि ऐसे फूल में सौरभ भी हो तो साथही मन भी तृप्त हो जाता है। नेत्रों की तृप्ति क्षणस्थायिनी होती है; परन्तु मन की तृप्ति चिरस्थायिनी। इसी से कवि-जन लोकशिक्षोपयोगी आदर्शों को सौन्दर्य्यरूपी हृदयरञ्जक आवेष्टन से आवृत करके संसार में शिक्षा का प्रचार करते हैं। धीरता और सत्यप्रियता सर्वश्रेष्ठ गुण हैं। अतएव सबको धीर और सत्यप्रिय होना चाहिए। भीष्म और युधिष्ठिर की सृष्टि करके महाभारत में कवि ने बड़ी ही ख़ूबी से इन गुणों की शिक्षा दी है। सैकड़ों वाग्मी हज़ारों वर्ष तक वक्तृता देकर भी जो काम इतनी अच्छी तरह नहीं कर सकते, जो काम राजशासन द्वारा भी सुन्दरतापूर्वक नहीं हो सकता, वही काम कवि अपने सृष्टि-कौशल द्वारा सहजही में कर सकता है। आत्म-त्याग अच्छी चीज़ है, स्वार्थपरता बुरी। इस तत्व को धर्म्मोपदेष्टा सौ वर्ष तक प्रयत्न करके शायद लोगों के हृदय पर उतनी सुन्दरता से खचित न कर सकेंगे जितनी सुन्दरता से कि कवि ने राम के द्वारा सीता का निर्वासन कराकर खचित किया है। इसी से यह कहना पड़ता है कि कवि संसार के सर्व-प्रधान शिक्षक और सर्व-प्रधान उपकारक हैं।

काव्य का सृष्टि-सौन्दर्य्य किसी निर्दिष्ट विषय से ही सम्बन्ध नहीं रखता। क़ेवल रूप, गुण या किसी अवस्था-विशेष के वर्णन में ही सौन्दर्य्य परि-स्फुट नहीं होता। देश, काल, पात्र, रूप, गुण, अवस्था, कार्य आदि की समष्टि के द्वारा यदि किसी सुन्दर वस्तु की सृष्टि की जाय तो उस सृष्ट

वस्तु के सौन्दर्य्य को ही यथार्थ सौन्दर्य्य कह सकते हैं। वही कवि-सृष्टि का परमोत्कर्ष है। अन्यथा, यदि और बातों की उपेक्षा करके नायिका के चिकुर-वर्णन से ही सर्ग का अधिकांश भर दिया जाय तो उसमें सौन्दर्य्य आ कैसे सकेगा ? उससे तो उलटा विरक्ति उत्पन्न होगी।

सृष्टि-नैपुण्यही कवि का प्रथम और प्रधान गुण है। उस सृष्टि-नैपुण्य के किसी अंश में त्रुटि आजाने से काव्य की जैसे अङ्गहानि होती है वैसे ही लोक-शिक्षारूपी जिस उच्च उद्देश-साधन के इरादे से कवि काव्य-प्रणयन करता है उसकी सिद्धि में भी व्याघात आता है। जो कवि केवल दस पाँच श्लोकों की रचना करके किसी पदार्थ का केवल बाहरी सौन्दर्य्य दिखाता है उसका आसन अधिकांश निरापद रहता है। जो लोग बाहरी सौन्दर्य्य के बीच में वर्णनीय पदार्थ को स्थापित करके, इसी बाहरी सौन्दर्य्य के प्रकाश द्वारा उसे प्रकाशित करते हैं उनका काम भी उतना दुष्कर नहीं। किन्तु जो कवि बाहरी सौन्दर्य्य को दूर रख कर, वर्णनीय वस्तु के केवल भीतरी भाग पर दृष्टि रखता है—वेशभूषा के विषय में उदासीन रह कर भूषित व्यक्ति के हृदय की ही तरफ़ दृष्टि-क्षेप करता है, अर्थात् जो एक सम्पूर्ण विराट मूर्ति की सृष्टि करके तद्द्वारा समाज को शिक्षा देना चाहता है—उसका आसन बड़ा ही समस्या-पूर्ण समझा जाता है। उसे बात बात पर, पद पद पर, अक्षर अक्षर पर, समाज की अवस्था की भावना करनी पड़ती है—लोकहितैषणा से प्रणोदित होना पड़ता है। जो बात समाज के लिए असङ्गलकर है, जिसकी आलोचना से समाज का प्रकृत हित-साधन नहीं होता, उसका वह परित्याग करता है। इसी से हमारे आर्य्य-साहित्य में लेडी मैकवेथ और ओथेलो का चित्र नहीं पाया जाता। जिस वस्तु का सर्वांश उत्तम है—जो सर्वथा सत् है—उसी की सृष्टि होनी चाहिए।

महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ काव्य, अथवा संस्कृत भाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य, रघुवंश के प्रत्येक अक्षर में यह सत्य विद्यमान है। लोक-शिक्षोपयोगी बातों से रघुवंश आद्यन्त परिपूर्ण है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरु के वाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी धेनु की परिचर्य्या, भिक्षार्थी अतिथि की अभिलाषपूर्त्ति के लिए धराधीश राजा की व्याकुलता,

लोकरञ्जन और राजसिंहासन निष्कलङ्क रखने के लिए राजा के द्वारा अपनी प्राणोपमा पत्नी का निर्वासनरूपी आत्मत्याग आदि अनेक लोक-हितकर और समाजशिक्षोपयोगी विषयों से रघुवंश अलंकृत है।

श्रीयुत राजेन्द्रनाथजी की यह सम्मति बहुत ही ठीक है। रघुवंश सचमुच ही सर्वश्रेष्ठ काव्य है। इसी से संस्कृत के और सैकड़ों काव्यों के रहते उसका इतना आदर है और इसी से हमने उसका भावार्थ हिन्दी में लिखने की आवश्यकता समझी।

रघुवंश के नाम ही से यह सूचित होता है कि उसमें रघुवंशी राजाओं की कथा है। इस कथा को काव्य का रूप देने में महाकवि ने सब कहीं वाल्मीकि-रामायण का अनुधावन नहीं किया। रघुवंश में कितने ही स्थल ऐसे हैं जहाँ की कथा वाल्मीकि-रामायण से नहीं मेल खाती। यहाँ तक कि रामायण में दी हुई वंशावली से भी रघुवंश की राज-वंशावली नहीं मिलती। कुश के उत्तरवर्ती जिन बीस पचीस राजाओं का संक्षिप्त वर्णन रघुवंश में है उनका वृत्तान्त तो कालिदास को अवश्य ही और कहीं से मिला होगा। अध्यात्म-रामायण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण और पद्मपुराण के पाताल-खण्ड, रामाश्वमेध आदि में भी रामचन्द्र और रघुवंशी राजाओं का वृत्तान्त है। विद्वानों की राय है कि ये पुराण कालिदास के समय में भी, किसी न किसी रूप में, अवश्य वर्तमान थे। अतएव, वाल्मीकि-रामायण के सिवा अन्यत्र से भी रघुवंश की कथा-सामग्री प्राप्त करने के लिए कालिदास को सुभीता अवश्य था।

रघुवंश में कालिदास ने जिन रघुवंशी राजाओं का चरित लिखा है उनके नाम ये हैं:—

१—दिलीप	८—निषध
२—रघु	९—नल
३—अज	१०—नभ
४—दशरथ	११—पुण्डरीक
५—रामचन्द्र	१२—क्षेमधन्वा
६—कुश	१३—देवानीक
७—अतिथि	१४—अहीनगु

१५—पारियात्र
१६—शिल
१७—उन्नाभ
१८—वज्रनाभ
१९—शङ्खण
२०—व्युषिताश्व
२१—विश्वसह
२२—हिरण्यनाभ
२३—कौशल्य
२४—ब्रह्मिष्ठ
२५—पुत्र
२६—पुष्य
२७—ध्रुवसन्धि
२८—सुदर्शन
२९—अग्निवर्ण

इनमें से रघु और रामचन्द्र का चरित्र कवि ने बड़े विस्तार से लिखा है। रामचन्द्र के लिए तो कालिदास ने दसवें से लेकर पंद्रहवें सर्ग तक, ६ सर्ग, ख़र्च किये हैं। दिलीप, अज, दशरथ, कुश और अतिथि का चरित भी अच्छा लिखा है। परन्तु निषध से लेकर ध्रुवसन्धि तक का चरित, जो अठारहवें सर्ग में है, बहुत ही संक्षिप्त है। उसमें प्रत्येक के लिए एकही दो पद्य हैं। चरित क्या है, राजाओं की नामावली मात्र है। जान पड़ता है, इन राजाओं के राजत्व-काल में अयोध्या की दशा अच्छी न थी और इन लोगों ने कोई महत्व के काम नहीं किये। इसी से इनके चरित की विशेष सामग्री कालिदास को उपलब्ध नहीं हुई। अठारहवें सर्ग के अन्त में बालक-नरेश सुदर्शन की बाल्यावस्था का वर्णन दस पाँच पद्यों में करके उन्नीसवें सर्ग में कालिदास ने अग्निवर्ण की कामुकता का वर्णन किया है और उस सर्ग की समाप्ति के साथही पुस्तक की भी समाप्ति कर दी है। जिस समय अग्निवर्ण राजयक्ष्मा रोग से मरा उस समय उसकी प्रधान रानी गर्भवती थी। अग्निवर्ण के मंत्रियों ने उसी को सिंहासन पर बिठा कर अयोध्या की अनाथ प्रजा को सनाथ किया। बस, यहीं तक का वृत्तान्त लिख कर कालिदास चुप हो गये हैं। न उन्होंने अगले राजाओं ही का कुछ हाल लिखा और न रघुवंश की समाप्ति के सम्बन्ध ही में कुछ कहा। इसका यथार्थ कारण अनुमान द्वारा जानना बहुत कठिन है।

रघुवंश के हिन्दी-अनुवाद।

जहाँ तक हमें मालूम है, इस समय हिन्दी में रघुवंश के चार अनुवाद विद्यमान हैं। उनमें से दो पद्य में हैं, दो गद्य में। पहला पद्यबद्ध अनुवाद

लाला सीताराम, बी० ए०, का है, और दूसरा पण्डित सरयूप्रसाद मिश्र का। उनके विषय में यहाँ पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे पद्य में हैं और यहाँ केवल गद्य में किये गये अनुवादों की विशेषता का उल्लेख करने की आवश्यकता है।

रघुवंश का गद्यात्मक अनुवाद पहले पहल राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। इस अनुवाद को उन्होंने—"विद्यार्थियों के उपकार के लिए हिन्दी बोली में किया।" इसमें उन्होंने संस्कृत के प्रत्येक पद का अर्थ चुने हुए शब्दों में ज्यों का त्यों हिन्दी में कर दिया है। न उन्होंने कोई पद अपनी तरफ़ से बढ़ाया और न कोई घटाया। उन्होंने अपने अनुवाद में मूल का यहाँ तक अनुगमन किया है कि संस्कृत के जिस पद में जो विभक्ति थी, उसके हिन्दी-अनुवाद में भी, यथासम्भव, वही विभक्ति रक्खी है। अर्थात् संस्कृत के मूल शब्दों को उन्होंने तद्वत् हिन्दी में रख दिया है। रघुवंश का पहला श्लोक है:—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

इसका अनुवाद राजा साहब ने किया है:—

वाणी और अर्थ की सिद्धि के निमित्त (वागर्थप्रतिपत्तये) मैं वन्दना करता हूँ (वन्दे) वाणी और अर्थ की नाईं (वागर्थाविव) मिले हुए (संपृक्तौ) जगत् के (जगतः) माता-पिता (पितरौ) शिव पार्वती को (पार्वतीपरमेश्वरौ)।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि राजा साहब ने जो यह अर्थ किया कि:—

"वाणी और अर्थ की सिद्धि के निमित्त मैं वन्दना करता हूँ वाणी और अर्थ की नाईं मिले हुए जगत् के माता-पिता शिव पार्वती को।"

वह संस्कृत के प्रत्येक पद का शब्दार्थ हुआ और संस्कृत के जिस पद में जो विभक्ति थी वही हिन्दी में भी रही। इसी तरह राजा साहेब ने सारे रघुवंश का अनुवाद किया है। यह अनुवाद विद्यार्थियों के सचमुच ही बड़े काम का है और इसे प्रकाशित करके राजा साहब ने विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया।

राजा साहब के अनुवाद के बाद, दूसरा गद्यात्मक अनुवाद पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र का है। इस अनुवाद में अनुवादक महोदय ने ऊपर तो मूल श्लोक दिया है, उसके नीचे संस्कृत में अन्वय, उसके नीचे संस्कृत ही में वाच्यपरिवर्त्तन और उसके भी नीचे संस्कृत ही में श्लोक का भावार्थ। अन्त में आपने हिन्दी अनुवाद भी दिया है। पर यह हिन्दी अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंहजी के अनुवाद के ही ढंग का है। ऊपर राजा साहब के किये हुए रघुवंश के पहले श्लोक का अनुवाद दिया जा चुका है। अब उसी का अनुवाद, मिश्र जी का किया हुआ, देखिए:—

"मैं वाणी और अर्थ की सिद्धि के निमित्त वाणी और अर्थ के समान मिले हुए जगत् के माता-पिता पार्वती शिव को प्रणाम करता हूँ।"

राजा साहब और मिश्रजी के अनुवाद में भेद इतना ही है कि मिश्रजी के अनुवाद में 'नाईं' की जगह 'समान' शब्द है और 'वन्दना' की जगह 'प्रणाम' है। इसके सिवा शब्दों का क्रम भी कुछ बदला हुआ है। अतएव उनकी भाषा राजा साहब की भाषा से कुछ अच्छी होगई है। बस, और कोई भेद नहीं। मिश्रजी ने भी अन्वय के अनुसार ही अनुवाद किया है। और, आपका भी अनुवाद "भाषा के ज्ञाता तथा परीक्षा देनेवाले विद्यार्थियों के निमित्त" है। विद्यार्थियों के सुभीते के लिए आपने पहले सात सर्गों के आवश्यक पदों की व्याकरण-प्रक्रिया भी लिख दी है।

अच्छा, तो जो लोग न तो विद्यार्थी ही हैं और न भाषा के ज्ञाता ही हैं (ज्ञाता का अर्थ हम यहाँ पर धात्वर्थ से अधिक व्यापक लेते हैं) उनके लिए फिर भी एक अनुवाद की आवश्यकता शेष रहती है—ऐसे अनुवाद की जिसे थोड़ी हिन्दी जाननेवाले लोग भी आसानी से पढ़ कर कालिदास का आशय समझ जायँ। इसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए यह अनुवाद प्रकाशित किया जाता है।

इस अनुवाद के सम्बन्ध में निवेदन।

इस अनुवाद में प्रत्येक पद्य का आशय विस्तारपूर्वक लिखा गया है। आवश्यकता के अनुसार कहीं विस्तार अधिक है, कहीं कम है। जहाँ थोड़े ही शब्दों से कवि का आशय अच्छी तरह समझाया जा सका है वहाँ विशेष विस्तार नहीं किया। पर जहाँ विस्तार की आवश्यकता थी वहाँ

अधिक शब्द प्रयोग करने में सङ्कोच भी नहीं किया गया। उदाहरण के लिए पहले ही पद्य का अनुवाद देखिए। राजा साहेब और मिश्रजी ने उसका जैसा शब्दार्थ लिखा है वह ऊपर उद्धृत हो चुका है। उसी का भावार्थ, जैसा कि इस अनुवाद में है, नीचे दिया जाता है:—

जिस तरह वाणी और अर्थ एक दूसरे को छोड़ कर कभी अलग अलग नहीं रहते उसी तरह संसार के माता-पिता, पार्वती और परमेश्वर, भी अलग अलग नहीं रहते; सदा साथ ही साथ रहते हैं। इसीसे मैं उनको नमस्कार करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे शब्दार्थ का अच्छा ज्ञात हो जाय। मुझ में लिखने की शक्ति भी आ जाय और जो कुछ मैं लिखूँ वह सार्थक भी हो —मेरे प्रयुक्त शब्द निरर्थक न हों। इस इच्छा को पूर्ण करने वाला उमा-महेश्वर से बढ़ कर और कौन हो सकता है ? यही कारण है जो मैं और देवताओं को छोड़ कर, इस ग्रन्थ के आरम्भ में, उन्हीं की वन्दना करता हूँ।

यह विस्तार इसलिए किया गया है जिसमें पढ़ने वाले कालिदास का भाव अच्छी तरह समझ जायँ। इस उद्देश की सिद्धि के लिए सारे रघुवंश का मतलब कथा के रूप में लिख दिया गया है; पर प्रत्येक सर्ग की कथा अलग अलग रक्खी गई है। यदि कोई पद्य अपने पास के किसी पद्य से कुछ असंलग्न सा मालूम हुआ है तो उसका भावार्थ लिखने में दो चार शब्द अपनी तरफ़ से बढ़ा भी दिये गये है।

इस अनुवाद में एक बात और भी की गई है। रघुवंश में कालिदास की कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जिनमें शृङ्गार रस की मात्रा बहुत अधिक है। उनका अनुवाद या तो छोड़ दिया गया है या कुछ फेर फार के साथ कर दिया गया है। परन्तु उन्नीसवें सर्ग को छोड़ कर शेष ग्रन्थ में ऐसे स्थल दो ही चार हैं, अधिक नहीं। अतएव, इससे कालिदास के कथन के रसास्वादन में कुछ भी व्याघात नहीं आ सकता। यह इसलिए किया गया है जिसमें आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी इस अनुवाद को सङ्कोच-रहित होकर पढ़ सकें।

ऊपर जिन दो अनुवादों का उल्लेख किया गया उनसे इस अनुवाद में कहीं कहीं कुछ भेद भी है। एक उदाहरण लीजिए। रघुवंश के सातवें सर्ग का अट्ठाईसवाँ श्लोक यह है:—

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा
पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।

कन्याकुमारौ कनकासनस्थौ
आर्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥

इसका अर्थ राजा साहब ने लिखा है:—

सोने के आसन पर बैठे हुए उन दूल्हा-दुलहिन ने स्नातकों का और बान्धवों सहित राजा का और पति-पुत्र वालियों का बारी बारी से आले धान बोना देखा।

और, पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने लिखा है:—

सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वह वर और वधू स्नातकों और कुटुम्बियों सहित राजा का तथा पति और पुत्र वालियों का क्रम क्रम से गीले धान बोना देखते हुए।

इसी श्लोक का भावार्थ इस अनुवाद में इस प्रकार लिखा गया है:—

इसके अनन्तर सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर और वधू के सिर पर (रोचनार-ञ्जित) गीले अक्षत डाले गये। पहले स्नातक गृहस्थों ने अक्षत डाले, फिर बन्धु-बान्धवों सहित राजा ने, फिर पति-पुत्रवती पुरवासिनी स्त्रियों ने।

इसी तरह के भेदभावदर्शक सातवें ही सर्ग के एक और स्थल को देखिए। इस सर्ग का सत्तावनवाँ श्लोक है:—

स दक्षिणं तूणमुखे न वामं
व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धु—
मौर्वीव बाणान् सुषुवे रिपुघ्नान् ॥

राजा साहब ने इसका शब्दार्थ इस तरह लिखा है:—

वह निषङ्ग के मुख पर सुन्दर दाहना हाथ रखता हुआ युद्ध में दिखलाई दिया; एक बार कान तक खेंची हुई उस योद्धा की प्रत्यञ्चा ने मानो वैरियों के मारने-वाले बाण उत्पन्न किए।

और, पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने लिखा है:—

वह संग्राम में सुघड दक्षिण हाथ को तरकस के मुख पर रखता हुआ दीखा, और इस युद्ध करनेवाले की एक बार खेंची हुई प्रत्यंचा ने शत्रु के संहार करने हारे मानों शर उत्पन्न किये।

इसी श्लोक का भावार्थ इस अनुवाद में इस तरह लिखा गया है:—

बाणविद्या में अज इतना निपुण था कि वह अपना दाहना अथवा बाँयाँ हाथ बाण निकालने के लिए कब अपने तूणीर में डालता और बाण निकालता था, यही किसी को मालूम न होता था। उस अलौकिक योद्धा के हस्त-लाघव का यह हाल था कि उसके दाहने और बायें, दोनों हाथ, एक से उठते थे। धनुष की डोरी जहाँ उसने एक दफे कान तक तानी तहाँ यही मालूम होता था कि शत्रुओं का संहार

करनेवाले असंख्य बाण उस डोरी से ही निकलते से—उससे ही उत्पन्न होते से—चले जाते हैं।

मतलब यह कि इस अनुवाद में शब्दार्थ पर कम ध्यान दिया गया है, भावार्थ पर अधिक। स्पष्ट शब्दों में कालिदास का आशय समझाने की चेष्टा की गई है; शब्दों का अर्थ लिख देने ही से सन्तोष नहीं किया गया। महाकवियों के प्रयुक्त किसी किसी शब्द में इतना अर्थ भरा रहता है कि उस शब्दार्थ का वाचक हिन्दी शब्द लिख देने ही से उसका ठीक ठीक बोध नहीं होता। उसे स्पष्टतापूर्वक प्रकट करने के लिए कभी कभी एक नहीं, अनेक शब्द लिखने पड़ते हैं। अनुवादक को इस कठिनता का पद पद पर सामना करना पड़ा है। यद्यपि उसे हल करने की उसने यथाशक्ति चेष्टा की है, तथापि वह नहीं कह सकता कि कहाँ तक उसे सफलता हुई है। उसकी सफलता अथवा विफलता का निर्णय इस अनुवाद के विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे।

दौलतपुर, डाकख़ाना भोजपुर, रायबरेली—
६ अगस्त, १९१२

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

रघुवंश।

—:०:—

पहला सर्ग।

—:०:—

सन्तान-प्राप्ति के लिए राजा दिलीप का वशिष्ठ के आश्रम को जाना।

जिस तरह वाणी और अर्थ एक दूसरे को छोड़ कर कभी अलग अलग नहीं रहते उसी तरह संसार के माता-पिता, पार्वती और परमेश्वर भी, अलग अलग नहीं रहते; सदा साथ ही साथ रहते हैं। इसीसे मैं उनको नमस्कार करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे शब्दार्थ का अच्छा ज्ञान हो जाय। मुझमें लिखने की शक्ति भी आ जाय और जो कुछ मैं लिखूँ वह सार्थक भी हो—मेरे प्रयुक्त शब्द निरर्थक न हों। इस इच्छा को पूर्ण करने वाला उमा-महेश्वर से बढ़ कर और कौन हो सकता है ? यही कारण है जो मैं और देवताओं को छोड़ कर इस ग्रन्थ के आरम्भ में उन्हीं की वन्दना करता हूँ।

प्रत्यक्ष सूर्य्य से उत्पन्न हुआ सूर्य्य-वंश कहाँ ? और, अज्ञान से घिरी हुई मेरी बुद्धि कहाँ ? सूर्य्य-वंश इतना विशाल और मेरी बुद्धि इतनी अल्प! दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। एक छोटी सी डोंगी पर सवार होकर महासागर को पार करने की इच्छा रखने वाले मूढ़मति मनुष्य का साहस जिस प्रकार उपहासास्पद होता है, ठीक उसी प्रकार सूर्य्य वंश का वर्णन करने के विषय में मेरा साहस भी उपहासास्पद है।

मन्द-मति होकर भी बड़े बड़े कवियों को मिलने वाली कीर्ति पाने की मैं इच्छा कर रहा हूँ। फिर भला क्यों न मेरा उपहास हो? ऊँचा-पूरा मनुष्य ही जिस फल को हाथ से तोड़ सकता है, लोभ के वशीभूत होकर उसी को तोड़ने के लिए यदि बावन अंगुल का एक बौना आदमी अपना हाथ ऊपर को उठावे तो देखने वाले अवश्य ही उसकी हँसी करेंगे। मेरा भी हाल ठीक ऐसे ही बौने का जैसा है। तथापि एक बात अवश्य है। देखिए, धागा बहुत ही पतला और नाजुक होता है और मणि महा कठिन। तथापि हीरे की सुई के द्वारा मणियों में छेद किये जाने पर उनके भीतर भी धागे का सहज ही में प्रवेश हो जाता है। इसी तरह वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों ने बड़े बड़े ग्रन्थों में जो इस वंश का पहले ही से वर्णन कर रक्खा है वह इस वंश-वर्णन में मुझे बहुत काम देगा। उसकी बदौलत मैं इसमें उसी तरह प्रवेश प्राप्त कर सकूँगा जिस तरह कि हीरे की सुई से छेदे गये रत्नों में धागे को प्रवेश प्राप्त हो जाता है। मुझे विश्वास है कि प्राचीन कवियों की रचना की सहायता से मैं भी, किसी न किसी तरह, इस वंश का वर्णन कर ले जाऊँगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरी वाणी में बहुत ही थोड़ी शक्ति है। तथापि प्राचीन कवियों के ग्रन्थों की सहायता से रघुवंशियों के वंश-वर्णन में जो मैं प्रवृत्त हुआ हूँ उसका कारण इस वंश के राजाओं के गुण ही हैं। यदि उनके गुणों को सुन कर मैं मुग्ध न हो जाता तो मैं ऐसा अनुचित साहस करने के लिए कभी तैयार भी न होता। रघुवंशियों में अनेक गुण हैं। यथा:—

रघु-कुल में उत्पन्न हुए पुरुषों के गर्भाधान आदि सब संस्कार उचित समय में होने के कारण वे जन्म से ही शुद्ध हैं। जिस काम का वे आरम्भ करते हैं उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ते। समुद्र के तटों तक सारी पृथ्वी के वे स्वामी हैं। उनके रथों की गति का रोकने वाला त्रैलोक्य में कोई नहीं। स्वर्ग-लोक तक वे आनन्द-पूर्वक अपने रथों पर बैठे हुए जा सकते हैं। वे यथा-शास्त्र अग्नि की सेवा करते हैं; याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं; अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देते हैं; समय का मूल्य जानते हैं; सत्पात्रों को दान करने ही के लिए धन का संग्रह करते हैं। कहीं मुँह

से असत्य न निकल जाय, इसी डर से वे थोड़ा बोलते हैं। कीर्त्ति की प्राप्ति के लिए ही वे दिग्विजय और सन्तान की प्राप्ति के लिए ही वे गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य्य का पालन करके वे विद्याभ्यास करते हैं; युवावस्था प्राप्त होने पर विवाह करके विषयों का उपभोग करते हैं; वृद्धावस्था आने पर वन में जाकर वानप्रस्थ हो जाते हैं; और, अन्तकाल उपस्थित होने पर समाधिस्थ होकर योगद्वारा शरीर छोड़ देते हैं।

सज्जन ही गुण-दोषों का अच्छी तरह विवेचन कर सकते हैं। अतएव वे ही मेरे इस रघुवंश-वर्णन को सुनने के पात्र हैं, और कोई नहीं। क्योंकि, सोना खरा है या खोटा, इसकी परीक्षा उसे आग में डाल कर तपाने ही से हो सकती है।

वेदों में ओङ्कार के समान सब से पहला राजा वैवस्वत नाम का एक प्रसिद्ध मनु हो गया है। बड़े बड़े विद्वान् तक उसका सम्मान करते थे। उसी वैवस्वत मनु के पवित्र वंश में, क्षीर-सागर में चन्द्रमा के समान, नृपश्रेष्ठ दिलीप नाम का एक राजा हुआ। उसकी छाती बेहद चौड़ी थी। उसके कन्धे बैल के कन्धों के सदृश थे। ऊँचाई उसकी साल वृक्ष के समान थी। भुजायें उसकी नीचे घुटनों तक पहुँचती थीं। शरीर उसका सशक्त और नीरोग—अतएव सब तरह के काम करने योग्य था। क्षत्रियों का वह मूर्तिमान् धर्म था। जिस तरह उसका शरीर सब से ऊँचा था उसी तरह बल भी उसमें सब से अधिक था। यही नहीं, तेजस्वियों में भी वह सब से बढ़ा चढ़ा था। इस प्रकार के उस राजा ने, सुमेरु-पर्वत की तरह, सारी पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया था।

जैसा उसका डील डौल था, वैसी ही उसकी बुद्धि भी थी। जैसी उसकी बुद्धि थी, शास्त्रों का अभ्यास भी उसने वैसा ही विलक्षण किया था। शास्त्राभ्यास उसका जैसा बढ़ा हुआ था, उद्योग भी उसका वैसा ही अद्भुत था। और, जैसा उसका उद्योग था, कार्यों में फल-प्राप्ति भी उसकी वैसी ही थी।

समुद्र में महाभयङ्कर जल-जन्तु रहते हैं; इससे लोग उसके पास जाते डरते हैं। परन्तु साथही इसके उसमें अनमोल रत्न भी होते हैं; इससे

प्रसन्नतापूर्वक लोग उसका आश्रय भी स्वीकार करते हैं । राजा दिलीप भी ऐसे ही समुद्र के समान था । उसके शौर्य्य, वीर्य्य आदि गुणों के कारण उसके आश्रित जन उससे डरते भी रहते थे और उसके दयादाक्षिण्य आदि गुणों के कारण उस पर प्रीति भी करते थे ।

सारथी अच्छा होने से जैसे रथ के पहिए पहले के बने हुए मार्ग से एक इञ्च भी इधर उधर नहीं जाते उसी तरह, प्रजा के आचार का उपदेष्टा होने के कारण उसकी प्रजा वैवस्वत मनु के समय से चली आने वाली आचार-परम्परा का एक तिल भर भी उल्लङ्घन नहीं कर सकती थी । अपने उपदेशों और आज्ञाओं के प्रभाव से राजा दिलीप ने अपनी प्रजा को पुराने आचार-मार्ग से ज़रा भी भ्रष्ट नहीं होने दिया । प्रजा के ही कल्याण के निमित्त वह उससे कर लेता था—सूर्य्य जो पृथ्वी के ऊपर के जल को अपनी किरणों से खींच लेता है वह अपने लिए नहीं; उसे वह हज़ार गुना अधिक करके फिर पृथ्वी ही पर बरसा देने के लिए खींचता है । पृथ्वी ही के कल्याण के लिए वह उसके जल का आकर्षण करता है, अपने कल्याण के लिए नहीं ।

वह राजा इतना पराक्रमी और इतना शूरवीर था कि सेना से काम लेने की उसे कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी । छत्र और चामर आदि राज-चिह्न जैसे केवल शोभा के लिए वह धारण करता था वैसे ही सेना को भी वह केवल राजसी ठाठ समझ कर रखता था । उसके पुरुषार्थ के दो ही साधन थे—एक तो प्रत्येक शास्त्र में उसकी अकुण्ठित बुद्धि; दूसरे उसके धनुष पर जब देखो तब चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा अर्थात् डोरी । इन्हीं दो बातों में उसका सारा पुरुषार्थ ख़र्च होता था । उसके चढ़े हुए धनुष को देख कर ही उसके वैरी काँपा करते थे । अतएव कभी उसे युद्ध करने का मौक़ा ही न आता था । इसीसे उसका प्रायः सारा समय शास्त्राध्ययन में ही व्यतीत होता था ।

जो काम वह करना चाहता था उसे वह गुप्त रखता था, अपने विचारों को वह पहले से नहीं प्रकट कर देता था । अपने हर्ष-शोक आदि विकारों को भी वह अपने चेहरे पर परिस्फुट नहीं होने देता था । उसकी क्रियमाण बातें और आन्तरिक इच्छायें मन की मन ही में रहती थीं । पूर्व जन्म के

संस्कारों की तरह जब उसका अभीष्ट कार्य्य सफल हो जाता था तब कहीं लोगों को इसका पता चलता था कि इस राजा के अमुक कार्य्य का कभी आरम्भ भी हुआ था।

धर्म, अर्थ और काम–इन तीनों का नाम त्रिवर्ग है। इनका साधन एक मात्र शरीर ही है। शरीर के बिना इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। यही सोच कर वह निर्भयतापूर्वक अपने शरीर की रक्षा करता था। बिना किसी प्रकार के क्लेश या दुःख का अनुभव किये ही वह धर्म्माचरण में रत रहता था। बिना ज़रा भी लोभ की वासना के वह धनसञ्चय करता था। और, बिना कुछ भी आसक्ति के वह सुखोपभोग करता था।

दूसरे की गुप्त बातें जान कर भी वह चुप रहता था, कभी मर्म्म-भाषण न करता था। यद्यपि हर प्रकार का दण्ड देने की उसमें शक्ति थी, तथापि क्षमा करना उसे अधिक पसन्द था—परकृत अपराधों को वह चुपचाप सहन कर लेता था। यद्यपि वह बड़ा दानी था, तथापि दान देकर कभी उस बात को अपने मुँह से न निकालता था। ये ज्ञान, मैान आदि गुण यद्यपि परस्पर विरोधी हैं तथापि उस राजा में ये सारे के सारे सगे भाई की तरह वास करते थे।

अपनी प्रजा को वह सन्मार्ग में लगाता था, भय से उनकी सदा रक्षा करता था; अन्न-वस्त्र आदि देकर उनका पालन पोषण करता था। अतएव प्रजा का वही सच्चा पिता था। प्रजाजनों के पिता केवल जन्म देने वाले थे। जन्म देने ही के कारण वे पिता कहे जा सकते थे और किसी कारण से नहीं।

सब लोगों को शान्तिपूर्वक रखने ही के लिए वह अपराधियों को दंड देता था, किसी लोभ के वश होकर नहीं। एक मात्र सन्तान के लिए ही वह विवाह की योजना करता था, विषयोपभोग की वासना से नहीं। अतएव उस धर्मज्ञ राजा के अर्थ और काम—ये दोनों पुरुषार्थ भी धर्म्म ही का अनुसरण करने वाले थे। धर्म्म ही को लक्ष्य मान कर वह इन दोनों की योजना करता था।

राजा दिलीप ने यज्ञ ही के निमित्त पृथ्वी को, और इन्द्र-देवता ने धान्य ही की उत्पत्ति के निमित्त आकाश को, दुहा। इस प्रकार उन दोनों ने अपनी

अपनी सम्पत्ति का बदला करके पृथ्वी और स्वर्गलोक, दोनों, का पालन किया । अर्थात् यज्ञ करने में जो ख़र्च पड़ता है उसकी प्राप्ति के लिए ही राजा ने कर लेकर पृथ्वी को दुहा—उसे ख़ाली कर दिया । उधर उसके किये हुए यज्ञों से प्रसन्न होकर इन्द्र ने पानी बरसा कर पृथ्वी को धान्यादि से फिर परिपूर्ण कर दिया ।

धर्मपूर्वक प्रजापालन करने से उसे जो यश प्राप्त हुआ उसका अनुकरण और किसी से न करते बना—उसके सदृश प्रजापालक राजा और कोई न हो सका । उस समय उसके राज्य में कभी, एक बार भी, चोरी नहीं हुई । चोर-कर्म्म का सर्वथा अभाव होगया । 'चोरी' शब्द केवल कोश में ही रह गया ।

ओषधि कड़वी होने पर भी रोगी जिस तरह उसका आदर करता है उसी तरह उस राजा ने शत्रुता करने वाले भी सज्जनों का आदर किया। और, कुमार्ग से जानेवाले मित्रों का भी, साँप से काटे गये अँगूठे के समान, तत्काल ही परित्याग किया । भलों ही का वह साथी बना; बुरों को कभी उसने अपने पास तक नहीं फटकने दिया ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश–इन पाँचों तत्वों का नाम पञ्च महाभूत है । जिस सामग्री से ब्रह्मा ने इन पाँच महाभूतों को उत्पन्न किया है, जान पड़ता है, उन्हीं से उसने उस राजा को भी उत्पन्न किया था । क्योंकि, पाँच महाभूतों के शब्द, स्पर्श आदि गुणों की तरह उसके भी सारे गुण दूसरों ही के लाभ के लिए थे । जो कुछ वह करता था सदा परोपकार का ध्यान रख कर ही करता था । समुद्र-पर्यन्त फैली हुई इस सारी पृथ्वी का अकेला वही एक सार्वभौम राजा था । उसका पालन और रक्षण वह विना किसी प्रयास या परिश्रम के करता था । उसके लिए यह विस्तीर्ण धरणी एक छोटी सी नगरी के समान थी ।

यज्ञावतार विष्णु भगवान् की पत्नी दक्षिणा के समान उसकी भी पत्नी का नाम सुदक्षिणा था । वह मगधदेश के राजा की बेटी थी । उसमें दाक्षिण्य, अर्थात् उदारता या नम्रता, बहुत थी । इसीसे उसका नाम सुदक्षिणा था । यद्यपि राजा दिलीप के और भी कई रानियाँ थीं, तथापि उसके मन के अनुकूल वर्त्ताव करने वाली सुदक्षिणा ही थी । इसीसे वह

एक तो उसे और दूसरी राज्यलक्ष्मी को ही अपनी सच्ची रानियाँ समझता था। राजा की यह हृदय से इच्छा थी कि अपने अनुरूप सुदक्षिणा रानी के एक पुत्र हो। परन्तु दुर्दैववश बहुत काल तक उसका यह मनोरथ सफल न हुआ। इस कारण वह कुछ उदास रहने लगा। इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर उसने यह निश्चय किया कि सन्तान की प्राप्ति के लिए अब कुछ यत्न अवश्य करना चाहिए। यह विचार करके उसने प्रजा-पालनरूपी गुरुतर भार अपनी भुजाओं से उतार कर अपने मन्त्रियों के कन्धों पर रख दिया। मन्त्रियों को राज्य का कार्य्य सौंप कर भार्य्या-सहित उसने ब्रह्मदेव की पूजा की। फिर उन दोनों पवित्र अन्तःकरण वाले राजा-रानी ने, पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से, अपने गुरु वशिष्ठ के आश्रम को जाने के लिए प्रस्थान कर दिया।

एक बड़े ही मनोहर रथ पर वह राजा अपनी रानी-सहित सवार हुआ। उसके रथ के चलने पर मधुर और गम्भीर शब्द होने लगा। उस समय ऐसा मालूम होता था मानों वर्षा-ऋतु के सजल मेघ पर बिजली को लिये हुए अभ्र-मातङ्ग ऐरावत सवार है। उसने अपने साथ यह सोच कर बहुत से नौकर चाकर नहीं लिये कि कहीं उनके होने से ऋषियों के आश्रमों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। परन्तु वे दोनों राजा-रानी इतने तेजस्वी थे कि तेजस्विता के कारण बिना सेना के भी वे बहुत सी सेना से घिरे हुए मालूम होते थे। इस प्रकार जिस समय वे मार्ग में चले जा रहे थे उस समय शरीर से छू जाने पर विशेष सुख देनेवाला, शाल-वृक्षों की सुगन्धि और वन के फूलों के पराग को अपने साथ लाने वाला और जङ्गली वृक्षों के पत्तों और टहनियों को हिलानेवाला शीतल, मन्द और सुगन्धिपूर्ण पवन उनकी सेवा सी करता चलता था। रथ के गम्भीर शब्द को सुन कर मयूरों को यह धोखा होता था कि यह रथ के पहियों की ध्वनि नहीं, किन्तु मेघों की गर्जना है। इससे वे अत्यन्त उत्कण्ठित होकर और गर्दन को ऊँची उठा कर आनन्दपूर्वक "केका" (मयूर की बोली) करते थे। उन षडज-स्वर के समान मनोहर केका-ध्वनि को सुनते हुए वे दोनों चले जाते थे। राजा को देख कर हिरनों और हिरनियों के हृदय में ज़रा भी भय का सञ्चार न होता था। उन्हें विश्वास सा था

कि राजा उन्हें नहीं मारेगा। इस कारण बड़े कुतूहल से वे मृग, मार्ग के पास आकर, रथ की तरफ़ एकटक देखने लगते थे। ऐसा दृश्य उपस्थित होने पर सुदक्षिणा तो मृगों और राजा के नेत्रों के सादृश्य पर आश्चर्य्य करने लगती थी और राजा मृगियों और सुदक्षिणा के नेत्रों के सादृश्य पर। उस समय सारस पक्षियों का समूह पंक्ति बाँध कर राजा के मस्तक के ऊपर उड़ता हुआ जाता था। इससे ऐसा मालूम होता था कि वह सारसों की पंक्ति नहीं, किन्तु पूजनीय पुरुषों की शुभागमनसूचक माङ्गलिक पुष्प-माला किसी ने, आसमान में, विना खम्भों के बाँध दी है। उन पक्षियों के श्रुति-सुखद शब्दों को बारबार सिर ऊपर उठा कर वे सुनते थे। जिस दिशा की ओर वे जा रहे थे, पवन भी उसी दिशा की ओर चल रहा था। वायु की गति उनके लिए सर्वथा अनुकूल थी। इससे यह सूचित होता था कि उन दोनों का मनोरथ अवश्य ही सिद्ध होगा। वायु अनुकूल होने से घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल भी आगे ही को जाती थी। न रानी की पलकों ही को वह छू जाती थी और न राजा की पगड़ी ही को। सरोवरों के जल की लहरों के स्पर्श से शीतल हुए, अपने श्वास के समान अत्यन्त सुगन्धित, कमलों का सुवास प्राप्त होने से, मार्ग का श्रम उन्हें ज़रा भी कष्टदायक नहीं मालूम होता था।

राजा दिलीप ने याज्ञिक ब्राह्मणों के निर्वाह के लिए न मालूम कितने गाँव दान किये थे। उनमें वध्य पशुओं के बाँधने के लिए गाड़े गये यूप नामक खूँटे यह सूचित करते थे कि याज्ञिक ब्राह्मणों ने, समय समय पर, वहाँ अनेक यज्ञ किये हैं। ऐसे गाँवों में जब रानी सहित राजा पहुँचता था तब वह ब्राह्मणों की सादर पूजा करता था, जिससे प्रसन्न होकर वे लोग राजा को अवश्यमेव सफल होनेवाले आशीर्वाद देते थे।

जब लोग यह सुनते थे कि राजा इस रास्ते से जा रहा है तब बूढ़े बूढ़े गोप ताज़ा मक्खन लेकर उसे भेंट देने आते थे। उन लोगों की भेंट स्वीकार करके राजा उनसे मार्गवर्ती जङ्गली पेड़ों के नाम पूँछ पूँछ कर उन पर अपना अनुराग प्रकट करता था।

शीतकाल बीत जाने पर वसन्तऋतु में चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग होने से जैसी दर्शनीय शोभा होती है, वैसी ही शोभा जङ्गल की

राह से जानेवाले और अत्यन्त देदीप्यमान शुद्ध वेषवाले सुदक्षिणा-सहित उस राजा की हो रही थी। वनवर्ती मार्ग में जो जो चीज़ें देखने योग्य थीं उनको वह राजा अपनी रानी को दिखाता जाता था। इस कारण ज्ञाता होने पर भी उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं हुआ कि कितना मार्ग मैं चल आया और कितना अभी और चलने को है। उसके शरीर की शोभा ऐसी दिव्य थी कि जो लोग उसे मार्ग में देखते थे उन्हें बड़ा ही आनन्द होता था। उसके यश की सीमा ही न थी; औरों के लिए उतने यश का पाना सर्वथा दुर्लभ था। चलते चलते उसके घोड़े तो थक गये; परन्तु मार्ग के मनोहर दृश्य देखने और अपनी रानी से बात-चीत करते रहने के कारण उसे मार्ग-जनित कुछ भी श्रम न हुआ। इस प्रकार चलते चलते सायङ्काल वह अपनी रानी-सहित परम तपस्वी महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में जा पहुँचा।

वशिष्ठ-ऋषि का वह आश्रम बहुत ही मनोरम और पवित्र था। अनेक वनों में घूम फिर कर समिध, कुश और फल-फूल लिये हुए जब आश्रमवासी तपस्वी आश्रम को लौटते थे तब उनकी अभ्यर्थना तीनों प्रकार के अग्नि—दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय—अदृश्य रूप से करते थे। ऐसे तपस्वियों से वह आश्रम भरा हुआ था। आश्रम की मुनि-पत्नियों ने बहुत से हिरन पाल रक्खे थे। उन पर ऋषि-पत्नियों का इतना प्रेम था और वे उनसे इतने हिल गये थे कि मुनियों की पर्णशालाओं का द्वार रोक कर वे खड़े हो जाया करते थे। जब तक ऋषियों की पत्नियाँ साँवा और कोदों के चावल उन्हें खाने को न दे देती थीं तब तक वे वहीं द्वार पर खड़े रहते थे। वे उनका उतना ही प्यार करती थीं जितना कि अपनी निज की सन्तति का करती थीं। आश्रम में ऋषियों ने बहुत से पौधे लगा रक्खे थे। उन्हें सींचने का काम मुनि-कन्याओं के सिपुर्द था। वे कन्यायें पौधों के थाले में पानी डाल कर तुरन्त ही वहाँ से दूर हट जाती थीं, जिसमें आस पास के पक्षी वह पानी आनन्द से पी सकें। उन्हें किसी प्रकार का डर न लगे—विश्वस्त और निःशङ्क होकर वे जलपान करें। वहाँ ऋषियों की जो पर्णशालायें थीं उनके अग्रभाग में जब तक धूप रहती थी तब तक ऋषियों का भोजनोपयोगी तृण-धान्य सूखने के लिए डाल रक्खा जाता

था। धूप चली जाने पर वह सब धान्य वहीं आँगन में एक जगह एकत्र कर दिया जाता था। उसी धान्य के ढेर के पास बैठे हुए हिरन आनन्द से पागुर किया करते थे। आश्रम के यज्ञ-कुण्डों से जो धुआँ निकलता था वह सर्वत्र फैल कर दूर दूर तक मानों सबको यह सूचना देता था कि यहाँ यज्ञ हो रहा है। जिन अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थों की आहुतियाँ दी जाती थीं उनकी सुगंध चारों ओर धुयें के साथ फैल जाती थी। उस आश्रम को आनेवाले अतिथि उस धुयें के स्पर्श से पवित्र हो जाते थे।

आश्रम में पहुँच जाने पर राजा ने सारथि को आज्ञा दी कि रथ से घोड़ों को खोल कर उन्हें आराम करने दो। तदनन्तर रानी सुदक्षिणा को उसने रथ से उतारा। फिर वह आप भी रथ से उतर पड़ा। प्रजा का पुत्रवत् पालन करने के कारण परम-पूजनीय और नीति-शास्त्र में परम निपुण उस रानी सहित राजा दिलीप के पहुँचते ही आश्रम के बड़े बड़े सभ्यों और जितेन्द्रिय तपस्वियों ने उसका सप्रेम आदर-सत्कार किया।

सायङ्कालीन सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र, हवन आदि धार्मिक कृत्य कर चुकने पर उस राजा ने, पीछे बैठी हुई अपनी पत्नी अरुन्धती के सहित उस तपोनिधि ऋषि को आसन पर बैठे हुए देखा। उस समय ऋषि और ऋषि-पत्नी दोनों ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे स्वाहा नामक अपनी भार्य्या के सहित अग्निदेव शोभायमान होते हैं। दर्शन होते ही मगध-नरेश की कन्या रानी सुदक्षिणा और दिलीप ने महर्षि वशिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती के पैर छुए। इस पर उन दोनों पति-पत्नी ने राजा और रानी को आशीर्वाद देकर उनका सत्कार किया। रथ पर सवार होकर इतनी दूर आने से राजा को जो परिश्रम हुआ था वह महर्षि वशिष्ठ के आतिथ्य-सत्कार से जाता रहा। राज्य-रूपी आश्रम के महामुनि उस राजा को शान्त-श्रम देख कर ऋषि ने उसके राज्य के सम्बन्ध में कुशल-समाचार पूँछे। ऋषि का प्रश्न सुन कर शत्रुओं के नगरों के जीतनेवाले और बातचीत करने में परम कुशल उस राजा दिलीप ने अथर्व-वेद के वेत्ता अपने कुल-गुरु वशिष्ठ के सामने नम्र होकर नीचे लिखे अनुसार सार्थक भाषण आरम्भ किया:—

"हे गुरुवर! आप मेरी दैवी और मानुषी आदि सभी आपत्तियों के

नाश करने वाले हैं। फिर भला मेरे राज्य में सब प्रकार कुशल क्यों न हो? मैं, मेरे मन्त्री, मेरे मित्र, मेरा खज़ाना, मेरा राज्य, मेरे क़िले और मेरी सेना—सब अच्छी दशा में हैं। शस्त्रास्त्र-मन्त्रों के प्रयोग में आप सब से अधिक निपुण हैं। उन मन्त्रों की बदौलत, बिना आँख से देखे, दूर ही से, आपने मेरे शत्रुओं का नाश कर दिया है। इस दशा में आँख से देखे गये निशाने पर लगने वाले मेरे ये बाण व्यर्थ से हो रहे हैं। उनका सारा काम तो आपकी कृपाही से हो जाता है। मेरी मानुषी आपत्तियों का तो नाश आपने इस प्रकार कर दिया है। रहीं दैवी आपत्तियां, सो उनका भी यही हाल है। हे गुरुवर! यज्ञ करते समय होता, अर्थात् हवनकर्त्ता, बन कर अग्नि में घृत आदि हवन सामग्री की जो आप विधिवत् आहुतियाँ देते हैं वही वृष्टि-रूप हो कर सूखते हुए सब प्रकार के धान्यों का पोषण करती हैं। मेरे जितने प्रजा-जन हैं उनमें से किसी को भी अकाल-मृत्यु नहीं आती। वे सब अपनी पूरी आयु तक जीवित रहते हैं। रोग आदि पीड़ा कभी किसी को नहीं सताती। अति-वृष्टि और अनावृष्टि से भी किसी को भय नहीं। इन सब का कारण केवल आपकी तपस्या और आपका वेदाध्ययन-सम्बन्धी तेज है। जब प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव के पुत्र आपही मेरे कुल-गुरु हैं और जब आप स्वयं ही मेरे कल्याण के लिए निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं तब फिर क्यों न सारी आपदायें मुझसे दूर रहें और क्यों न मेरी सम्पदाओं की सदा वृद्धि होती रहे?

"किन्तु, आपकी वधू इस सुदक्षिणा के अब तक कोई आत्मकुलोचित पुत्र नहीं हुआ। अतएव द्वीप-द्वीपान्तरों के सहित यह रत्न-गर्भा पृथ्वी मुझे अच्छी नहीं लगती—वह मेरे लिए सुखदायक नहीं। क्योंकि, जितने रत्न हैं सब में पुत्र-रत्न ही श्रेष्ठ है।

"निर्धन और सञ्चयशील मनुष्य वर्तमान काल में किसी प्रकार अपना निर्वाह कर के भविष्यत् के लिए धन-संग्रह करने की सदा चेष्टा करते हैं। मेरे पितरों का हाल भी, इस समय, ऐसेही मनुष्यों के सदृश हो रहा है। वे देखते हैं कि मेरे अनन्तर उनके लिए पिण्ड-दान देने वाला, मेरे कुल में, कोई नहीं। इस कारण मेरे किये हुए श्राद्धों में वे यथेष्ट भोजन नहीं करते। श्राद्ध के समय उच्चारण किये गये स्वधा-शब्द के संग्रह करनेही में वे अधिक

लगे रहते हैं। वे मन ही मन सोचते हैं कि श्राद्ध में जो अन्न मैं उन्हें देता हूँ वह यदि सारा का सारा ही वे खा डालेंगे तो आगे उन्हें कहाँ से अन्न मिलेगा। अतएव, इसी में से थोड़ा थोड़ा संग्रह कर के आगे के लिए रख छोड़ना चाहिए। इसी तरह, तर्पण करते समय जब मैं पितरों को जलाञ्जलि देता हूँ तब उन्हें यह ख़याल होता है कि हाय! दिलीप की मृत्यु के अनन्तर यह जल हम लोगों के लिए सर्वथा दुर्लभ हो जायगा। यह सोचते समय उन्हें बड़ा दुःख होता है और वे दीर्घ तथा उष्णनिःश्वास छोड़ने लगते हैं। इस कारण मेरा दिया हुआ वह जल भी उष्ण हो जाता है और उन बेचारों को वही पीना पड़ता है।

"मेरी दशा इस समय उत्तर की तरफ़ प्रकाश-पूर्ण और दक्षिण की तरफ़ अन्धकार-पूर्ण लोकालोक पर्वत के समान हो रही है; क्योंकि अनेक यज्ञ करने के कारण मेरी आत्मा तो पवित्र, अतएव तेजस्क है; परन्तु सन्तति न होने के कारण वह निस्तेज भी है। देवताओं का ऋण चुकाने के कारण तो मैं तेजस्वी हूँ; पर पितरों का ऋण न चुका सकने के कारण तेजोहीन हूँ। आप शायद यह कहेंगे कि तपस्या और दान आदि पुण्य-कार्य जो मैंने किये हैं उन्हीं से मुझे यथेष्ट सुख की प्राप्ति हो सकती है। सन्तति की इच्छा रखने से क्या लाभ? परन्तु, बात यह है कि तपश्चरण और दानादि के पुण्य से परलोक ही में सुख प्राप्त होता है, पर विशुद्ध सन्तति की प्राप्ति से इस लोक और परलोक, दोनों, में सुख मिलता है। अतएव हे सर्व-समर्थ गुरुवर! मुझे सन्तति-हीन देख कर क्या आपको दुःख नहीं होता? आपने अपने आश्रम में जो वृक्ष लगाये हैं, और अपने ही हाथ से प्रेम-पूर्वक सींच कर जिन्हें आपने बड़ा किया है, उनमें यदि फूल-फल न लगें, तो क्या आपको दुःख न होगा? सच समझिए, मेरी दशा, इस समय, ऐसे ही वृक्षों के सदृश हो रही है। हे भगवन्! जिस हाथी के पैरों को कभी ज़ंजीर का स्पर्श नहीं हुआ वह यदि उसके द्वारा खम्भे से बाँध दिया जाय तो वह खम्भा उसके लिए जैसे अत्यन्त वेदनादायक होता है वैसे ही पितरों के ऋण से मुक्त न होने के कारण उत्पन्न हुआ मेरा दुःख मेरे लिए अत्यन्त असह्य हो रहा है। अतएव, इस पीड़ादायक दुःख से मुझे, जिस तरह हो

सके, कृपा कर के आप बचाइए; क्योंकि इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न हुए पुरुषों के लिए दुर्लभ पदार्थ भी प्राप्त करा देना आप ही के अधीन है।"

राजा की इस प्रार्थना को सुन कर वशिष्ठ ऋषि अपनी आँखें बन्द कर के कुछ देर के लिए ध्यान-मग्न हो गये। उस समय वे ऐसे शोभायमान हुए जैसे कि मत्स्यों का चलना फिरना बन्द हो जाने पर, कुछ देर के लिए शान्त हुआ, सरोवर शोभायमान होता है। इस प्रकार ध्यान-मग्न होते ही उस विशुद्धात्मा महामुनि को राजा के सन्तति न होने का कारण मालूम हो गया। तब उसने राजा से इस प्रकार कहा:—

"हे राजा! तुझे याद होगा, इन्द्र की सहायता करने के लिए एक बार तू स्वर्ग-लोक को गया था। वहाँ से जिस समय तू पृथ्वी की तरफ़ लौट रहा था उस समय, राह में, कामधेनु बैठी हुई थी। उसी समय तेरी रानी ने ऋतु-स्नान किया था। अतएव धर्मलोप के डर से उसी का स्मरण करते हुए बड़ी शीघ्रता से तू अपना रथ दौड़ाता हुआ अपने नगर को जा रहा था। इसी जल्दी के कारण उस पूजनीया सुरभी की प्रदक्षिणा और सत्कार आदि करना तू भूल गया। इस कारण वह तुझ पर बहुत अप्रसन्न हुई। उसने कहा—'तूने मुझे नमस्कार भी न किया। मेरा इतना अपमान! जा, मैं तुझे शाप देती हूँ कि मेरी सन्तति की सेवा किये विना तुझे सन्तति की प्राप्ति ही न होगी।' इस शाप को न तू ने ही सुना और न तेरे सारथि ही ने। कारण यह हुआ कि उस समय आकाश-गङ्गा के प्रवाह में अपने अपने बन्धनों से खुल कर आये हुए दिग्गज क्रीड़ा कर रहे थे। जल-विहार करते समय वे बड़ा ही गम्भीर नाद करते थे। इसी से कामधेनु का शाप तुझे और तेरे सारथि को न सुन पड़ा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामधेनु का सत्कार तुझे करना चाहिए था। परन्तु तूने ऐसा नहीं किया; इसीसे पुत्र-प्राप्ति-रूप तेरा मनोरथ अब तक सफल नहीं हुआ। पूजनीयों की पूजा न करने से कल्याण का मार्ग अवश्य ही अवरुद्ध हो जाता है।

"अब, यदि उस कामधेनु की आराधना कर के तू उसे प्रसन्न करना चाहे तो यह बात भी नहीं हो सकती। कारण यह है कि इस समय पाताल में वरुण-देव एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। उनके लिए अनेक

प्रकार की सामग्रियाँ प्रस्तुत कर देने के निमित्त कामधेनु भी वहाँ वास करती है। उसके शीघ्र लौट आने की भी आशा नहीं; क्योंकि वह यज्ञ जल्द समाप्त होने वाला नहीं। तेरा वहाँ जाना भी असम्भव है; क्योंकि पाताल के द्वार पर बड़े बड़े भयङ्कर सर्प, द्वारपाल बन कर, द्वार-रक्षा कर रहे हैं। अतएव वहाँ मनुष्य का प्रवेश नहीं हो सकता। हाँ, एक बात अवश्य हो सकती है। उस कामधेनु की कन्या यहीं है। उसे कामधेनु ही समझ कर शुद्धान्तःकरण से पत्नी-सहित तू उसकी सेवा कर। प्रसन्न होने से वह निश्चय ही तेरी कामना सिद्ध कर देगी।"

यज्ञों के करने वाले महामुनि वशिष्ठ यह कह ही रहे थे कि कामधेनु की नन्दिनी नामक वह अनिन्द्य कन्या भी जङ्गल से चर कर आश्रम को लौटी। यज्ञ और अग्नि-होत्र के लिए घी, दूध आदि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए वशिष्ठ ने उसे आश्रमही में पाल रक्खा था। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़े ही कोमल थे। उसका रङ्ग वृक्षों के नवीन पत्तों के समान लाल था। उसके माथे पर सफ़ेद बालों का कुछ कुछ टेढ़ा एक चिह्न था। उस शुभ्र चिह्न को देख कर यह मालूम होता था कि आरक्त सन्ध्या ने नवोदित चन्द्रमा को धारण किया है। उसका ऐन घड़े के समान बड़ा था। उसका दूध अवभृथ-नामक यज्ञ के अन्तिम स्नान से भी अधिक पवित्र था। बछड़े को देखते ही वह थन से टपकने लगता था। जिस समय उसने आश्रम में प्रवेश किया उस समय उसके थन से निकलते हुए धारोष्ण दूध से पृथ्वी सींची सी जा रही थी। उसके खुरों से उड़ी हुई धूल के कारण समीप ही बैठे हुए राजा के शरीर पर जा गिरे। उनके स्पर्श से राजा ऐसा पवित्र हो गया जैसा कि त्रिवेणी आदि तीर्थों में स्नान करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है।

जिसके दर्शन ही से मनुष्य पवित्र हो जाता है ऐसी उस नन्दिनी नामक धेनु को देख कर शकुनशास्त्र में पारङ्गत भूत-भविष्यत् के ज्ञाता तपोनिधि वशिष्ठ मुनि के मनोरथ सफल होने के प्रार्थी उस यजमान—यज्ञ कराने वाले—राजा से इस प्रकार कहा:—

"हे राजा! तू अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझ। तेरी इच्छा पूर्ण होने में देर नहीं। क्योंकि नाम लेते ही यह कल्याणकारिणी धेनु

यहाँ आकर उपस्थित हो गई है। विद्या की प्राप्ति के लिए जैसे उसका निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है वैसे ही फलसिद्धि होने तक तुझे इसकी सेवा करनी चाहिए। वर-प्रदान से जब तक यह तेरा मनोरथ सफल न करे तब तक तू, वन के कन्द-मूल-फल आदि पर अपना निर्वाह करके, सेवक के समान इसके पीछे पीछे घूमा कर। यह चलने लगे तो तू भी चल; खड़ी रहे तो तू भी खड़ा रह; बैठ जाय तभी तू भी बैठ; पानी पीने लगे तभी तू भी पानी पी। इसी तरह तू इसका अनुसरण कर। इसकी सेवा में अन्तर न पड़ने पावे। प्रति दिन प्रातःकाल उठकर तेरी पत्नी भी शुद्धान्तःकरण से भक्तिभाव-पूर्वक इसकी पूजा करे। फिर तपोवन की सीमा तक इसके पीछे पीछे जाय। और, सायङ्काल जब यह आश्रम को लौटे तब कुछ दूर आगे जाकर इसे ले आवे। जब तक यह तुझ पर प्रसन्न न हो तब तक तू बराबर इसी तरह इसकी सेवा-शुश्रूषा करता रह। परमेश्वर करे तेरे इस काम में कोई विघ्न न उपस्थित हो और जैसे तेरे पिता ने तुझको अपने सदृश पुत्र पाया है वैसे ही तू भी अपने सदृश पुत्र पावे।"

यह सुन कर देश और काल के जानने वाले वशिष्ठ के शिष्य उस राजा ने पत्नी-सहित नम्र होकर मुनीश्वर को आदरपूर्वक नमस्कार किया और कहा—"बहुत अच्छा। आपकी आज्ञा को मैं सिर पर धारण करता हूँ। आपने जो कहा मैं वही करूँगा।"

इसके अनन्तर,रात होने पर सत्य, और मधुर-भाषण करने वाले ब्रह्मा के पुत्र परम विद्वान् वशिष्ठ ने श्रीमान् राजा दिलीप को जाकर आराम से सोने की आज्ञा दी।

वशिष्ठ मुनि महा तपस्वी थे। उन्हें सब तरह की तपःसिद्धि प्राप्त थी। यदि वे चाहते तो अपनी तपःसिद्धि के प्रभाव से राजा के लिए सब तरह की राजोचित सामग्री प्रस्तुत कर देते। परन्तु वे व्रतादि प्रयोगों के उत्तम ज्ञाता थे। अतएव उन्होंने ऐसा नहीं किया। व्रत-नियम पालन करने के लिए उन्होंने वनवासियों के योग्य वन में ही उत्पन्न हुई कुश-समिध आदि चीज़ों के दिये जाने का प्रबन्ध किया। और चीज़ों की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी। व्रत-निरत राजा को भी वनवासी ऋषियों ही की तरह

रहना उन्होंने उचित समझा । इसीसे महामुनि वशिष्ठ ने उसे पत्तों से छाई हुई एक पर्णशाला में जाकर सोने को कहा । मुनि की आज्ञा से राजा ने, अपनी रानी सुदक्षिणा-सहित, उस पर्णकुटीर में, कुशों की शय्या पर, शयन किया । प्रातःकाल मुनिवर के शिष्यों के वेद-घोष को सुन कर राजा ने जाना कि निशावसान होगया । अतएव वह शय्या से उठ बैठा ।

दूसरा सर्ग।

—:o:—

नन्दिनी से राजा दिलीप का वर पाना।

प्रातःकाल हुआ। नन्दिनी दुही गई। दूध पी चुकने पर उसका बछड़ा अलग बाँध दिया गया। सुदक्षिणा ने चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से उसकी पूजा की; उसे माला धारण कराया। तदनन्तर प्रजा-जनों के स्वामी कीर्त्तिमान् राजा दिलीप ने, वन में ले जाकर चराने के लिए, वशिष्ठ मुनि की उस धेनु को बन्धन से खोल दिया। उसे वह चराने ले चला।

नन्दिनी ने वन का मार्ग लिया। उसके खुरों के स्पर्श से मार्ग की धूलि पवित्र होगई। पतिव्रता स्त्रियों की शिरोभूषण सुदक्षिणा उस धेनु के पीछे पीछे उसी मार्ग से इस तरह जाने लगी जिस तरह कि श्रुति के पीछे पीछे स्मृति जाती है। श्रुति (वेद) में जो बात कही गई है उसी के आश्रय पर स्मृति चलती है—अर्थात् वह वेद-वाक्यों का अनुसरण करती है। सुदक्षिणा ने भी तद्वत् ही नन्दिनी के पीछे पीछे उसके मार्ग का अनुसरण किया। नन्दिनी के कुछ दूर जाने पर उस दयार्द्रहृदय राजा ने अपनी रानी को लौटा दिया। रानी के लौट पड़ने पर, परम यशस्वी होने के कारण अत्यन्त मनोज्ञ रूप वाला दिलीप, चारों समुद्रों के समान चार स्तनों वाली धेनुरूपिणी पृथ्वी के सदृश, उस कामधेनु-कन्या नन्दिनी की रखवाली करने लगा। उसके साथ उस समय तक भी दो चार नौकर चाकर थे। अब उनको भी उसने लौट जाने की आज्ञा दे दी। उसने कहा—"मैंने स्वयं ही नन्दिनी की सेवा करने का व्रत धारण किया है। मुझे नौकरों से क्या काम?" उन्हें इस तरह लौटा कर वह अकेला ही नन्दिनी की रक्षा में तत्पर हुआ। सच पूछिए तो उसे नौकरों और शरीर-

रक्षकों की आवश्यकता भी न थी। क्योंकि वैवस्वत मनु की सन्तान अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं ही समर्थ थी। दूसरों से सहायता पाने की उसने कभी अपेक्षा नहीं की।

उस सार्वभौम राजा ने नन्दिनी को वन में विना किसी रोक टोक के फिरने दिया। उसे अच्छी अच्छी हरी घास खिला कर, उसका वदन खुजला कर और उस पर बैठी हुई मक्खियों तथा मच्छड़ों का निवारण करके उसकी सेवा करने में उसने कोई कसर नहीं की। उसके खड़ी होने पर वह भी खड़ा हो जाता था; उसके बैठ जाने पर धीरतापूर्वक आसन लगा कर वह भी बैठ जाता था; जब वह चलने लगती थी तब वह भी उसी के पीछे पीछे चलने लगता था; जब वह पानी पीने लगती थी तब वह भी पीने लगता था। सारांश यह कि जिस तरह मनुष्य की छाया चलते फिरते सदा ही उसके साथ रहती है, कभी उसे नहीं छोड़ती, उसी तरह दिलीप भी परछाईं के समान नन्दिनी के साथ साथ फिरता रहा। उस दशा में यद्यपि दिलीप के पास छत्र और चामर आदि कोई राज-चिह्न न थे तथापि उसका शरीर इतना तेजःपुञ्ज था कि उन चिह्नों से रहित होने पर भी उसे देखने से यही अनुमान होता था कि यह कोई बड़ा प्रतापी राजा है। मद की धारा प्रकट होने के पहले अन्तर्मद से पूर्ण गज-राज की जैसी शोभा होती है वैसी ही शोभा, उस समय, दिलीप की थी। अपने केशों को लताओं से मज़बूती के साथ बाँध कर और धन्वा पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उस गाय के पीछे पीछे उसने घने वन में प्रवेश किया। उसे इस वेश में विचरण करते देख, जान पड़ता था कि यज्ञ के निमित्त पाली हुई नन्दिनी की रक्षा के बहाने वह वन के हिंस्र जीवों का शासन करने के लिए ही वहाँ घूम रहा है।

नौकरों को वह पहले हो छोड़ चुका था। परन्तु, वरुण के समान पराक्रमी होने के कारण, उनके विना उसे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। वह अकेला ही नन्दिनी की सानंद सेवा करता रहा। जहाँ जहाँ वह उसके साथ साथ वन में फिरता था वहाँ वहाँ उसके मार्ग के दोनों तरफ़ वाले वृक्ष, उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा, उसका जय-जयकार सा करते थे। वृक्ष ही नहीं, लतायें भी उसके आगमन से प्रसन्न थीं। बाहर से नगर

में प्रवेश करते समय पुरवासिनी कन्यायें जिस तरह राजा पर खीलों की वृष्टि करती हैं उसी तरह, उस अग्नि समान तेजस्वी और परम पूजनीय दिलीप को अपने आस पास चारों तरफ़ फिरते देख, नवीन लताओं ने पवन की प्रेरणा से उस पर फूल बरसाये। यद्यपि राजा के हाथ में धनुर्बाण था, तथापि उसकी मुखचर्य्या से यह साफ़ मालूम हो रहा था कि उसका हृदय बड़ा ही दयालु है। इस कारण हरिण-नारियाँ उससे ज़रा भी नहीं डरीं। उन्होंने उसके दयालुतादर्शक शरीर का पास से अवलोकन करके अपने नेत्रों की विशालता को अच्छी तरह सफल किया—उसे ख़ूब टकटकी लगाकर उन्होंने देखा। वृक्षों, लताओं और मृग-महिलाओं तक को राजा के शुभागमन के कारण आनन्द मनाते और उसका समुचित पूजोपचार करते देख वन-देवताओं से भी न रहा गया। छेदों में वायु भर जाने के कारण बाँसुरी के समान शब्द करने वाले बाँसों से उन्होंने बड़े ऊँचे स्वर से दिलीप को सुना सुना कर लतागृहों के भीतर उसका यशोगान किया। अब पवन की बारी आई। उसने देखा कि व्रतस्थ होने के कारण राजा छत्ररहित है और तेज़ धूप उसे सता रही है। अतएव पर्वतों पर बहने वाले झरनों के कणों के स्पर्श से शीतल और वृक्षों के हिलते हुए फूलों के सुवास से सुगन्धित होकर उसने भी उस सदाचार-शुद्ध राजा की सेवा की।

उस धेनु-रक्षक राजा का वन में प्रवेश होने पर, बिना वृष्टि के ही सारी दावाग्नि बुझ गई; फलों और फूलों की बेहद वृद्धि हुई; यहाँ तक कि प्रबल प्राणियों ने निर्बलों को सताना तक छोड़ दिया।

अपने भ्रमण से सारी दिशाओं को पवित्र करके, नये निकले हुए कोमल पत्तों के समान लाल रङ्ग वाली सूर्य्य की प्रभा और वशिष्ठ मुनि की धेनु, दोनों ही, सायङ्काल घर जाने के लिए लौटीं—सूर्य्यास्त के समय नन्दिनी ने आश्रम की ओर प्रस्थान किया।

देवताओं के लिए किये जानेवाले यज्ञ, पितरों के लिए किये जाने वाले श्राद्ध और अतिथियों के लिए दिये जाने वाले दान के समय काम आने वाली उस सुरभि-सुता के पीछे पीछे पृथ्वी का पति दिलीप भी आश्रम को चला। अपने शुद्ध आचरण के कारण श्रेष्ठजनों के द्वारा सम्मान पाये हुए

उस राजा के साथ जाती हुई नन्दिनी ने, उस समय, ऐसी शोभा पाई जैसी कि धर्म्म-कार्य्य करते समय शास्त्र-सम्मत विधि के साथ श्रद्धा, अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धि, शोभा पाती है। उस समय, सायङ्काल, वन का दृश्य बहुत ही जी लुभानेवाला था। शूकरों के यूथ के यूथ छोटे छोटे जलाशयों से निकल रहे थे; मोर पक्षी अपने अपने बसेरे के वृक्षों की तरफ़ उड़ते हुए जा रहे थे; कोमल घास उगी हुई भूमि पर जहाँ तहाँ हिरन बैठे हुए थे। ऐसे मनोहर दृश्योंवाले श्यामवर्ण वन की शोभा देखता हुआ राजा, वशिष्ठ के आश्रम के पास पहुँच गया। नन्दिनी पहले ही पहल व्याई थी। उसका ऐन बहुत बड़ा था। उसका बोझ सँभालने में उसे बहुत प्रयास पड़ता था। उधर राजा का शरीर भी भारी था। उसकी भी गुरुता कम न थी। अतएव अपने अपने शरीर के भारीपन के कारण दोनों को धीरे धीरे चलना पड़ता था। उनकी उस मन्द और सुन्दर चाल से तपोवन के आने जाने के मार्ग की रमणीयता और भी बढ़ गई।

महामुनि वशिष्ठ की धेनु के पीछे वन से लौटते हुए दिलीप को, उसकी रानी सुदक्षिणा ने, बड़े ही चाव से देखा। सारा दिन न देख पाने के कारण उसके नेत्रों को उपास सा पड़ रहा था। अतएव उसने अपने तृषित नेत्रों से राजा को पी सा लिया। बिना पलकें बन्द किये, बड़ी देर तक टकटकी लगाये, वह पति को देखती रही। अपनी पर्णशाला से कुछ दूर आगे बढ़ कर वह नन्दिनी से मिली। वहाँ से वह उसे आश्रम को ले चली। वह आगे हुई, नन्दिनी उसके पीछे, और राजा नन्दिनी के पीछे। उस समय राजा और रानी के बीच नन्दिनी, दिन और रात के बीच सन्ध्या के समान, शोभायमान हुई।

गाय के घर आ जाने पर, पूजा-सामग्री से परिपूर्ण पात्र हाथ में लेकर राजपत्नी सुदक्षिणा ने पहले तो उसकी प्रदक्षिणा की। फिर अपनी मनोकामना की सिद्धि के द्वार के समान उसने उसके विशाल मस्तक की पूजा गन्धाक्षत आदि से की। उस समय नन्दिनी अपने बछड़े को देखने के लिए बहुत ही उत्कण्ठित हो रही थी। तथापि वह ज़रा देर ठहर गई। निश्चल खड़ी रह कर उसने रानी की पूजा का स्वीकार किया। यह देख कर वे दोनों, राजा-रानी, बहुत ही प्रसन्न हुए—उन्हें परमानन्द हुआ।

कारण यह कि कामधेनु-कन्या नन्दिनी के समान सामर्थ्य रखनेवाले महात्मा यदि अपने भक्तों की पूजा-अर्चा सानन्द स्वीकार कर लेते हैं तो उससे यही सूचित होता है कि आगे चल कर पूजक के अभीष्ट मनोरथ भी अवश्य ही सफल होंगे।

गाय की पूजा हो चुकने पर राजा दिलीप ने अरुन्धती-सहित वशिष्ठ के चरणों की वन्दना की। फिर वह सायङ्कालीन सन्ध्योपासन से निवृत्त हुआ। इतने में दुही जा चुकने के बाद नन्दिनी आराम से बैठ गई। यह देख कर, अपनी भुजाओं के बल से वैरियों का उच्छेद करनेवाला राजा भी उसके पास पहुँच गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने गाय के सामने एक दीपक जला दिया और अच्छा अच्छा चारा भी रख दिया। जब वह सोने लगी तब राजा भी पत्नी-सहित सो गया। ज्योंही प्रातःकाल हुआ और गाय सो कर उठी त्योंही उसका रक्षक वह राजा भी उठ खड़ा हुआ।

सन्तान की प्राप्ति के लिए, उस गाय की इस प्रकार पत्नी-सहित सेवा करते करते उस परम कीर्त्तिमान् और दीनोद्धारक राजा के इक्कीस दिन बीत गये। बाईसवें दिन नन्दिनी के मन में राजा के हृदय का भाव जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने अपने उस अनुचर की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उसने कहा—"देखूँ, यह मेरी सेवा सच्चे दिल से करता है या नहीं।" यह सोच कर उसने गङ्गाद्वार पर हिमालय की एक ऐसी गुफ़ा में प्रवेश किया जिसमें बड़ी बड़ी घास उग रही थी।

दिलीप यह समझता था कि इस गाय पर सिंह आदि हिंसक जीवों का प्रत्यक्ष आक्रमण तो दूर रहा, इस तरह के विचार को मन में लाने का साहस तक उन्हें न होगा। अतएव वह निश्चिन्तता-पूर्वक पर्वत की शोभा देखने में लगा था। उसका सारा ध्यान हिमालय के प्राकृतिक दृश्य देखने में था। इतने में एक सिंह नन्दिनी पर सहसा टूट पड़ा और उसे उसने पकड़ लिया। परन्तु राजा का ध्यान अन्यत्र होने के कारण उसने इस घटना को न देखा। सिंह के द्वारा पकड़ी जाने पर नन्दिनी बड़ी जोर से चिल्ला उठी। गुफ़ा के भीतर चिल्लाने से उसके आर्त्तनाद की बहुत बड़ी प्रतिध्वनि हुई। उसने पर्वत की शोभा देखने में लगी हुई उस दीनवत्सल

दिलीप की दृष्टि को, रस्सी से खींची गई वस्तु की तरह, अपनी ओर खींच लिया। गाय की गहरी आर्तवाणी सुनने पर उस धनुर्धारी राजा की दृष्टि वहाँ से हटी। उसने देखा कि गेरू के पहाड़ की शिखर-भूमि के ऊपर फूले हुए लोध्रनामक वृक्ष की तरह उस लाल रङ्ग की गाय के ऊपर एक शेर उसे पकड़े हुए बैठा है। अपने बाहुबल से शत्रुओं का क्षय करने वाले और शरणागतों की रक्षा में ज़रा भी देर न लगानेवाले राजा से सिंह का किया हुआ यह अपमान न सहा गया। वह क्रोध से जल उठा। अतएव वध किये जाने के पात्र उस सिंह को जान से मार डालने के लिए, सिंह ही के समान चालवाले उस राजा ने, बाण निकालने के इरादे से, अपना दाहना हाथ तूणीर में डाला। ऐसा करने से सिंह पर प्रहार करने की इच्छा रखनेवाले दिलीप के हाथ के नखों की प्रभा, कङ्कनामक पक्षी के पर लगे हुए बाणों की पूँछों पर, पड़ी। इससे वे सब पूँछें बड़ी ही सुन्दर मालूम होने लगीं। उस समय बड़े आश्चर्य्य की बात यह हुई कि राजा की उँगलियाँ बाणों की पूँछों ही में चिपक गईं। चित्र में लिखे हुए धनुर्धारी पुरुष की बाण-विमोचन क्रिया के समान उसका वह उद्योग निष्फल हो गया। हाथ के इस तरह रुक जाने से राजा के कोप की सीमा न रही। क्योंकि महा पराक्रमी होने पर भी सामने ही बैठे हुए अपराधी सिंह को दण्ड दे में वह असमर्थ हो गया। अतएव, मन्त्रों और ओषधियों से कीले हु विष-धर भुजङ्ग की तरह वह तेजस्वी राजा अपनी ही कोपाग्नि से भीत ही भीतर जलने लगा।

राजा दिलीप कुछ ऐसा वैसा न था। महात्मा भी उसका मान कर थे। वैवस्वत मनु के वंश का वह शिरोमणि था। उस समय के स राजाओं में वह सिंह के समान बलवान् था। इस कारण, अपना हा रुक जाते देख उसे बड़ा आश्चर्य्य हुआ। राजा को इस तरह आश्चर्य्य-चकि देख कर, नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले सिंह ने, मनुष्य की वाणी नीचे लिखे अनुसार बातें कह कर, उसके आश्चर्य्य को और भी अधि कर दिया। वह बोला:—

"हे राजा! बस हो चुका। और अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। चाहे जिस शस्त्र का प्रयोग तू मेरे ऊपर कर, वह व्यर्थ

दिलीप की परीक्षा ।

तगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
ार्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

दिलीप :—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैव

बिना न रहेगा। मुझे तू कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकता। वायु का वेग ऊँचे ऊँचे पेड़ों को चाहे भले ही उखाड़ फेंके; परन्तु पहाड़ों पर उसका कुछ भी ज़ोर नहीं चल सकता। तुझे नहीं मालूम कि मैं कौन हूँ। इसी से शायद तू यह कहे कि मुझ में इतना सामर्थ्य कहाँ से आया। अच्छा, सुन। मैं निकुम्भ का मित्र हूँ। मेरा नाम कुम्भोदर है। मैं अष्टमूर्ति शङ्कर का सेवक हूँ। कैलास-पर्व्वत के समान शुभ्र-वर्ण नन्दी के ऊपर सवार होते समय, कैलाशनाथ पहले मेरी पीठ पर पैर रखते हैं। तब वे अपने वाहन नन्दी पर सवार होते हैं। इस कारण उनके चरण-स्पर्श से मेरी पीठ अत्यन्त पवित्र हो गई है। सिंह का रूप धारण करके मैं यहाँ पर क्यों रहता हूँ, इसका भी कारण मैं तुझे बतला देना चाहता हूँ।

"यह जो सामने देवदारु का वृक्ष देख पड़ता है उसे वृषभध्वज शङ्कर ने अपना पुत्र मान रक्खा है। पार्वती ने अपने घट-स्तनों का दूध पिला कर जिस तरह अपने पुत्र स्कन्द का पालन-पोषण किया है उसी तरह उन्होंने अपने सुवर्ण-कलश-रूपी स्तनों के पयःप्रवाह से सींच कर इसे भी इतना बड़ा किया है। उनका इस पर भी उतना ही प्रेम है जितना कि स्कन्द पर है। एक दिन की बात है कि एक जङ्गली हाथी का मस्तक खुजलाने लगा। उस समय वह इसी वृक्ष के पास फिर रहा था। इस कारण उसने अपने मस्तक को इसके तने पर रगड़ कर खुजली शान्त की। उसके इस तरह बलपूर्वक रगड़ने से इसकी छाल निकल गई। इस पर पार्वती को बड़ा शोक हुआ। युद्ध में दैत्यों के शस्त्र-प्रहार से स्कन्द के शरीर का चमड़ा छिल जाने पर उन्हें जितना दुःख होता उतनाही दुःख उन्हें इस वृक्ष की छाल निकल गई देख कर हुआ। तब से महादेवजी ने मुझे सिंह का रूप देकर, हिमालय की इस गुफ़ा में, वन-गजों को डराने के लिए रख दिया है और आज्ञा दे दी है कि दैवयोग से जो प्राणी यहाँ आ जाय उसी को खा कर मैं अपना निर्व्वाह करूँ। कई दिन से खाने को न मिलने के कारण मुझे बहुत भूखा जान, और इस गाय का काल आ गया अनुमान कर, इसे परमेश्वर ही ने यहाँ आने की बुद्धि दी है। चन्द्रमा का अमृत पान करने से जैसे राहु की तृप्ति हो जाती है उसी तरह इसका रक्त पीकर अपने उपोषणव्रत की पारणा करने से मेरी भी

यथेच्छ तृप्ति हो जायगी। इस गाय को न छुड़ा सकने के कारण तू अपने मन में ज़रा भी सङ्कोच न कर। इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं। निःसङ्कोच होकर तू यहाँ से आश्रम को लौट जा। गुरु पर शिष्य की जितनी भक्ति हो सकती है उतनी तू प्रकट कर चुका। अतएव तू इस विषय में अपराधी नहीं। इस तरह यहाँ से चले जाने के कारण तेरी कीर्ति पर भी किसी तरह का धब्बा नहीं लग सकता। क्योंकि, जिस वस्तु की रक्षा शस्त्रों से हो सकती हो उसी की रक्षा न करने से शस्त्रधारियों पर दोष आ सकता है। जिसकी रक्षा शस्त्रों से हो ही नहीं सकती वह यदि नष्ट हो गई तो उससे शस्त्रधारियों का यश क्षीण नहीं हो सकता।"

सिंह के ऐसे गम्भीर और गर्वपूर्ण वचन सुन कर पुरुषाधिराज दिलीप के मन की ग्लानि कुछ कम हो गई। अब तक वह यह समझ रहा था कि सिंह के द्वारा इतना अपमानित होने पर भी मैं उसे दण्ड न दे सका, इसलिए मुझे धिक्कार है। परन्तु अब उसका यह विचार कुछ कुछ बदल गया—उसकी निज विषयक अवज्ञा ढीली पड़ गई। उसने सोचा कि मेरे शस्त्र शङ्कर के प्रभाव से कुण्ठित हो गये हैं, मेरी अशक्तता या अयोग्यता के कारण तो हुए ही नहीं। अतएव यह कोई खेद की बात नहीं। महा-पराक्रमी होने पर भी वीर क्षत्रिय अपनी बराबरी के वीरों ही की स्पर्धा कर सकते हैं, परमेश्वर की नहीं कर सकते।

एक दफ़े महादेव पर वज्र छोड़ने की इच्छा से इन्द्र ने अपना हाथ उठाया। पर देवाधिदेव महादेव ने जो उसकी तरफ़ आँख उठाकर देख दिया तो इन्द्र का वह हाथ पत्थर की तरह जड़ होकर जैसे का तैसा ही रह गया। इस मौक़े पर दिलीप की भी दशा इन्द्रही की सी हुई। यह पहला ही प्रसङ्ग था कि उसने बाणप्रहार करने में अपने को असमर्थ पाया। पहले कभी ऐसा न हुआ था कि बाण चलाने का उद्योग करते समय बाण की पूँछही में उसका हाथ चिपक रहा हो। शरसन्धान करने में इन्द्र की तरह अपना प्रयत्न निष्फल हुआ देख राजा ने सिंह से कहा:—

"हे सिंह! तुझे बाण का निशाना बनाने में विफल-मनोरथ होने पर भी जो कुछ मैं तुझसे कहना चाहता हूँ वह अवश्य ही मेरे लिए उपहासा-

स्पद है। यह सच है। तथापि, शंकर का सन्निधिवर्ती सेवक होने के कारण प्राणियों के मन की बात जानने की तू शक्ति रखता है। अतएव जो कुछ मेरे मन में है—जो कुछ तुझसे मैं कहना चाहता हूँ—वह भी तू जानता ही होगा। इस दशा में मैं स्वयं ही अपने मुँह से अपना वक्तव्य क्यों न तेरे सामने निवेदन कर दूँ? अच्छा सुनः—

"स्थावर और जङ्गम—चल और अचल—जो कुछ इस संसार में है उस सब की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कर्त्ता परमेश्वर शङ्कर मेरे अवश्य ही पूज्य हैं। उनकी आज्ञा मुझे शिरसा धार्य है। साथही इसके यज्ञ की प्रधान साधन, गुरुवर वशिष्ठ की इस गाय की रक्षा करना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उसका, इस तरह, अपनी आँखों के सामने मारा जाना मैं कदापि नहीं देख सकता। अतएव, शङ्कर की प्रेरणा ही से यह गाय तेरे पञ्जे में क्यों न आ फँसी हो, मैं इसे छोड़ कर आश्रम को नहीं लौट सकता। इस समय तू एक बात कर। तेरे लिए शङ्कर की यही आज्ञा है न कि जो कोई प्राणी दैवयोग से यहाँ आ जाय उसे ही मार कर तू अपनी क्षुधा-निवृत्ति कर? अच्छा, मैं भी तो यहाँ, इस समय, नन्दिनी के साथही आकर उपस्थित हुआ हूँ। अतएव, मुझ पर कृपा करके, तू मेरे ही शरीर से अपनी भूख शान्त कर ले। नन्दिनी को छोड़ दे। इसे मारने से इसका बछड़ा भी जीता न रहेगा। कब सायङ्काल होगा और कब मेरी माँ घर आवेगी, यह सोचता हुआ वह बड़ी ही उत्कण्ठा से इसकी राह देख रहा होगा। इस कारण इसे मारना तुझे मुनासिब नहीं।"

यह सुन कर सारे प्राणियों के पालने वाले शङ्कर के सेवक सिंह ने, कुछ मुसकरा कर, उस ऐश्वर्यशाली राजा की बातों का उत्तर देना आरम्भ किया। ऐसा करते समय, उसका मुँह खुल जाने के कारण, उसके बड़े बड़े सफ़ेद दांतों की प्रभा ने उस गिरि-गुहा के अन्धकार के टुकड़े टुकड़े कर दिये—उसके दाँतों की चमक से वह गुफ़ा प्रकाशित हो उठी। वह बोला—

"तू एकच्छत्र राजा है-तेरे रहते किसी और राजा को सिर पर छत्र धारण करने का अधिकार नहीं; क्योंकि इस सारे भारत का अकेला तू ही

सार्वभौम स्वामी है। उम्र भी तेरी अभी कुछ नहीं, शरीर भी तेरा बहुत ही सुन्दर है। इस दशा में, तू इन सब का, एक ज़रासी बात के लिए, त्याग करने की इच्छा करता है! मेरी समझ में तेरा चित्त ठिकाने नहीं। जान पड़ता है, तू बिलकुलही सारासार-विचार-शून्य है। जीवधारियों पर तेरी अतिशय दया का होना ही यदि ऐसा अविवेकपूर्ण काम कराने के लिए तुझे प्रेरित कर रहा हो तो तेरे मरने से नन्दिनी अवश्य बच सकती है। परन्तु यदि तू उसके बदले अपने प्राण न देकर जीता रहेगा तो, प्रजा का पालक होने के कारण, पिता के समान, तू अपने अनन्त प्रजा-जनों की उपद्रवों से चिरकाल तक रक्षा कर सकेगा। अतएव अपने प्राण खोकर केवल नन्दिनी को बचाने की अपेक्षा, जीता रह कर, तुझे सारे संसार का पालन करना ही उचित है। तू शायद यह कहे कि गाय के मारे जाने से तेरा गुरु वशिष्ठ तुझ पर क्रोध करेगा। उससे बचने का क्या उपाय है? अच्छा जो तू ऋषि से इतना डरता हो तो मैं इसकी भी युक्ति तुझे बतलाता हूँ। सुन। यदि वह इसकी मृत्यु का अत्यधिक अपराधी तुझे ही ठहरावे और आग-बबूला होकर तुझ पर कोप करे तो तू इस गाय के बदले घड़े के समान ऐन वाली करोड़ों गायें देकर उसके कोप को शान्त कर सकता है। ऐसा करना तेरे लिए कोई बड़ी बात नहीं। अतएव, इस ज़रा सी बात के कारण तू अपने तेजस्वी और शक्ति-सम्पन्न शरीर का नाश न कर। इस शरीरही की बदौलत मनुष्य को सारे सुखों की प्राप्ति होती है। जो वही नहीं तो कुछ भी नहीं। तुझे इस बात की भी चिन्ता न करनी चाहिए कि नन्दिनी की मृत्यु के कारण तू स्वर्ग सुख से वञ्चित हो जायगा। सम्पूर्ण समृद्धियों से परिपूर्ण तेरा विस्तृत राज्य स्वर्ग से कुछ कम नहीं। वह सर्वथा इन्द्रपद के तुल्य है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही है कि तेरा राज्य पृथ्वी पर है और इन्द्र का स्वर्ग में है। बस, इस कारण, अपने शरीर को व्यर्थ नष्ट न करके आनन्दपूर्वक अपने राज्य का सुखोपभोग कर।"

इतना कह कर सिंह चुप होगया। उस समय उस गिरि-गुहा के भीतर सिंह के मुँह से निकले हुए वचनों की बड़ी भारी प्रतिध्वनि हुई। मानों उस प्रतिध्वनि के बहाने हिमालय पर्वत ने भी ऊँचे स्वर से, प्रीतिपूर्वक,

राजा से वही बात कही। अर्थात् हिमालय ने भी उस कथन को प्रतिध्वनि द्वारा दुहरा कर यह सूचित किया कि मेरी भी यही राय है।

अब तक वह सिंह बेचारी नन्दिनी को दबाये हुए बैठा था। उसके पञ्जों में फँसी हुई वह बेतरह भयभीत होकर बड़ी ही कातर-दृष्टि से राजा को देख रही थी और अपनी रक्षा के लिए मन ही मन मूक-प्रार्थना कर रही थी। राजा को उसकी उस दशा पर बड़ी ही दया आई। अतएव उसने सिंह से फिर इस प्रकार कहा:—

"क्षत्र—शब्द का अर्थ बहुत ही प्रौढ़ है। 'क्षत' अर्थात् नाश, अथवा आयुध आदि से किये जानेवाले घाव, से जो रक्षा करता है वही सच्चा क्षत्र अथवा क्षत्रिय है। यह नहीं कि इस शब्द का अकेले मैं ही ऐसा अर्थ करता हूँ। नहीं, त्रिभुवन में इसका यही अर्थ विख्यात है। सभी इस अर्थ को मानते हैं। अतएव, इस अर्थ के अनुकूल व्यवहार करना ही मेरा परम धर्म है। नाश पानेवाली चीज़ की रक्षा करने के लिए मैं सर्वथा बाध्य हूँ। यदि मुझसे अपने धर्म्म का पालन न हुआ तो राज्य ही लेकर मैं क्या करूँगा? और, फिर, निन्दा तथा अपकीर्ति से दूषित हुए प्राणही मेरे किस काम के? धर्म्मपालन न करके अकीर्ति कमाने की अपेक्षा तो मर जाना ही अच्छा है। नन्दिनी के मारे जाने से अन्य हज़ारों गायें देने पर भी महर्षि वशिष्ठ का क्षोभ कदापि शान्त न हो सकेगा। इसमें और इसकी माता सुरभि नामक कामधेनु में कुछ भी अन्तर नहीं। यह भी उसी के सदृश है। यदि तुझ पर शङ्कर की कृपा न होती तो तू कदापि इस पर आक्रमण न कर सकता। तूने यह काम अपने सामर्थ्य से नहीं किया। महादेव के प्रताप से ही यह अघटित घटना हुई है। अतएव, बदले में अपना शरीर देकर इसे तुझसे छुड़ा लेना मेरे लिए सर्वथा न्यायसङ्गत है। मेरी प्रार्थना अनुचित नहीं। उसे स्वीकार करने से तेरी पारणा भी न रुकेगी और महर्षि वशिष्ठ के यज्ञ-याग आदि कार्य्य भी निर्विघ्न होते रहेंगे। इस सम्बन्ध में तू स्वयं ही मेरा उदाहरण है। क्योंकि तू भी इस समय मेरेही सदृश, पराधीन होकर, बड़े ही यत्न से इस देवदारु की रक्षा करता है। अतएव, तू स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह जानता होगा कि जिस वस्तु की रक्षा का भार जिस पर है उसे नष्ट करा कर वह स्वामी के सामने

अपना अक्षत शरीर लिये हुए मुँह दिखाने का साहस नहीं कर सकता। पहले वह अपने को नष्ट कर देगा तब अपनी रक्षणीय वस्तु को नष्ट होने देगा। जीते जी वह उसकी अवश्य ही रक्षा करेगा। यही समझ कर तू भी अपने स्वामी के पाले हुए पेड़ की रक्षा के लिए इतना प्रयत्न करता है। इस दशा में तू मेरी प्रार्थना को अनुचित नहीं कह सकता। इस पर भी यदि तू मुझे मारे जाने योग्य न समझता हो तो मेरे मनुष्य-शरीर की रक्षा की परवा न करके मेरे यशःशरीर की रक्षा कर। रक्त, मांस और हड्डी के शरीर की अपेक्षा मैं यशोरूपी शरीर को अधिक आदर की चीज़ समझता हूँ। पंचभूतात्मक साधारण शरीर तो एक न एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाता है; परन्तु यश चिरकाल तक बना रहता है। इसीसे मैं यश को बहुत कुछ समझता हूँ, शरीर को कुछ नहीं। हम दोनों में अब परस्पर सुहृत्संबंध सा हो गया है; अपरिचित-भाव अब नहीं रहा। इस कारण भी तुझे मेरी प्रार्थना मान लेनी चाहिए। सम्बन्ध का कारण पारस्परिक सम्भाषण ही होता है। बातचीत होने ही से सम्बन्ध स्थिर होता है। जब तक पहले बातचीत नहीं हो लेती तब तक किसी का किसी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह इस वन में हम दोनों के मिलने और आपस में बातचीत करने से हो गया। हम दोनों सम्बन्ध-सूत्र से बँध चुके। अतएव, हे शिवजी के सेवक! मुझ सम्बन्धी की प्रणयपूर्ण प्रार्थना का अनादर करना अब तुझे उचित नहीं।"

दिलीप की दलीलें सुन कर सिंह ने अपना आग्रह छोड़ दिया। उसने कहा:—"बहुत अच्छा; तेरा कहना मुझे मान्य है।" यह वाक्य उसके मुँह से निकलते ही, निषङ्ग के भीतर बाणों की पूँछ पर चिपका हुआ राजा का हाथ छूट गया। हाथ को गति प्राप्त होते ही राजा ने अपने शस्त्रास्त्र खोल कर ज़मीन पर डाल दिये और मांस के टुकड़े के समान अपना शरीर सिंह को समर्पण करने के लिए वह बैठ गया। इसके उपरान्त, अपने ऊपर होने वाले सिंह के भयङ्कर उड्डान की राह, सिर नीचा किये हुए, वह देख ही रहा था कि उस पर विद्याधरों ने फूल बरसाये। सिंह का आक्रमण होने के बदले उस प्रजापालक राजा पर आकाश से कोमल कुसुमों की वृष्टि हुई!

उस समय 'बेटा! उठ'—ऐसे अमृत मिले हुए वचन उसके कान में पड़े। उन्हें सुन कर वह उठ बैठा। पर सिंह उसे वहाँ न दिखाई पड़ा। टपकते दूधवाली एक मात्र नन्दिनी ही को उसने, अपनी माता के समान, सामने खड़ी देखा। इस पर दिलीप को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उसे बेतरह विस्मित देख नन्दिनी ने कहा:—

"हे राजा! साधुता की प्रशंसा नहीं हो सकती। यह जानने के लिए कि मुझ पर तेरी कितनी भक्ति है, मैंने ही यह सारी माया रची थी। वह सच्चा सिंह न था; मेरा निर्म्माण किया हुआ मायामय था। महर्षि वशिष्ठ की तपस्या के सामर्थ्य से प्रत्यक्ष काल भी मेरी ओर वक्र दृष्टि से नहीं देख सकता। बेचारे अन्य हिंसक जीव मुझे क्या मारेंगे? बेटा! तू बड़ा गुरु-भक्त है। मुझ पर भी तेरी बड़ी दया है। इस कारण मैं तुझ पर परम प्रसन्न हूँ। जो वर तू चाहे मुझ से माँग ले। यह न समझ कि मैं केवल दूध देनेवाली एक साधारण गाय हूँ; वर प्रदान करने की मुझ में शक्ति नहीं। मैं वैसी नहीं। मैं सब कुछ दे सकती हूँ। सारे मनोरथ पूर्ण करने की मैं शक्ति रखती हूँ। अतएव जो तू माँगेगा वही मुझसे पावेगा।"

नन्दिनी को इस प्रकार प्रसन्न देख, याचकजनों का आदरातिथ्य करके उनके मनोरथ सफल करने वाले और अपने ही बाहु-बल से अपने लिए 'वीर' संज्ञा पानेवाले राजा दिलीप ने, दोनों हाथ जोड़ कर, यह वर माँगा कि सुदक्षिणा की कोख से मेरे एक ऐसा पुत्र हो जिससे मेरा वंश चले और जिसकी कीर्ति का किसी को अन्त न मिले।

पुत्र-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले राजा की ऐसी प्रार्थना सुन कर उस दुग्धदात्री कामधेनु ने 'तथास्तु' कह कर उसे अभिलाषित वर दिया। उसने आज्ञा दी—"बेटा! पत्तों के दोने में दुह कर मेरा दूध तू पी ले। अवश्य ही वैसा पुत्र तेरे होगा।"

राजा ने कहा:—"हे माता! बछड़े के पी चुकने और यज्ञ-क्रिया हो जाने पर तेरा जो दूध बच रहेगा उसे, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण राजा जैसे उसकी उपज का छठा अंश ले लेता है वैसे ही, मैं भी, ऋषि की आज्ञा से, ग्रहण कर लूँगा। तेरे दूध से पहले तो तेरे बछड़े की तृप्ति होनी चाहिए, फिर महर्षि के अग्निहोत्र आदि धार्म्मिक कार्य्य। तदनन्तर

जो कुछ बच रहेगा उसी के पाने का मैं अधिकारी हो सकता हूँ, अधिक का नहीं। इसके सिवा इस विषय में तेरे पालक और अपने गुरु ऋषि की आज्ञा लेना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इस निवेदन का यही कारण है।"

महर्षि वशिष्ठ की वह धेनु, राजा की सेवा-शुश्रूषा से पहले ही सन्तुष्ट हो चुकी थी। जब उसने दिलीप के मुँह से ऐसे विनीत और औदार्य्यपूर्ण वचन सुने तब तो वह उस पर और भी अधिक प्रसन्न हो गई और राजा के साथ हिमालय की उस गुफ़ा से, बिना ज़रा भी थकावट के, मुनि के आश्रम को लौट आई। उस समय माण्डलिक राजाओं के स्वामी दिलीप के चेहरे से प्रसन्नता टपक सी रही थी। उसके मुख की सुन्दरता पौर्णमासी के चन्द्रमा को भी मात कर रही थी। उसकी मुखचर्य्या से यह स्पष्ट सूचित हो रहा था कि नन्दिनी ने उसका मनोरथ पूर्ण कर दिया है। उसे देखते ही उसके हर्ष-चिह्नों से महर्षि वशिष्ठ उसकी प्रसन्नता का कारण ताड़ गये। तथापि राजा ने अपनी वर-प्राप्ति का समाचार गुरु से निवेदन करके उसकी पुनरुक्ति सी की। तदनन्तर वही बात उसने सुदक्षिणा को भी जाकर सुनाई।

यथासमय नन्दिनी दुही गई। बछड़े से जितना दूध पिया गया उसने पिया। जितना आवश्यक था उतना हवन में भी ख़र्च हुआ। जो बच रहा उसे, सज्जनों का प्यार करनेवाले अनिन्दितात्मा दिलीप ने, वशिष्ठ की आज्ञा से, मूर्त्तिमान् उज्ज्वल यश की तरह, उत्कण्ठापूर्व्वक, पिया।

राजा का गोसेवारूप व्रत अच्छी तरह पूर्ण होने पर, प्रातःकाल, उसकी यथाविधि पारणा हुई। विधिपूर्व्वक व्रत खोला गया। इसके उपरान्त प्रस्थानसम्बन्धी समुचित आशीर्वाद देकर जितेन्द्रिय वशिष्ठ ने, अपनी राजधानी को लौट जाने के लिए, दिलीप और सुदक्षिणा को आज्ञा दी। तब, आहुतियाँ दी जाने से तृप्त हुए यज्ञसम्बन्धी अग्निनारायण की, महर्षि वशिष्ठ के अनन्तर उनकी धर्म्मपत्नी अरुन्धती की, और बछड़े सहित नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके, उत्तमोत्तम मङ्गलाचारों से बढ़े हुए प्रभाववाले राजा ने अपने नगर की ओर प्रस्थान करने की तैयारी की। नन्दिनी की सेवा करते समय अनेक दुःख और कष्ट सहन करनेवाले राजा ने, अपनी धर्म्म-

पत्नी के साथ, रथ पर आरोहण किया। उसका रथ बहुत ही अच्छा था। चलते समय उसके पहियों की ध्वनि कानों को बड़ी ही मनोहर मालूम होती थी। बुरे मार्ग में भी वह बिना रुकावट के चल सकता था। अतएव, पूर्ण हुए मनोरथ के समान उस सुखदायक रथ पर मार्ग-क्रमण करता हुआ राजा अपने नगर के निकट आ पहुँचा।

सन्तान की प्राप्ति के निमित्त व्रताचरण करने से राजा दिलीप बहुत ही दुबला हो रहा था। नगर से दूर आश्रम में रहने के कारण प्रजाजनों ने उसे बहुत दिनों से देखा भी न था। उसका पुनर्दर्शन करने के लिए वे बहुत उत्कण्ठित हो रहे थे। अतएव, राजधानी में पहुँचने पर, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान उस कृशाङ्ग राजा को उसकी प्रजा ने अतृप्त नेत्रों से पी सा लिया। उत्सुकता के कारण घंटों उसकी तरफ़ देखते रहने पर भी लोगों को तृप्ति न हुई।

राजा के लौटने के समाचार पा कर पुरवासियों ने पहले ही से नगर को ध्वजा-पताका आदि से सजा रक्खा था। इन्द्र के समान ऐश्वर्य्यशाली दिलीप ने, उस सजी हुई अपनी राजधानी में, नगरनिवासियों के मुँह से अपनी स्तुति सुनते सुनते प्रवेश किया और भूमि के भार को शेष के समान बलवान् अपनी भुजाओं पर फिर धारण कर लिया। फिर वह पहले की तरह अपना राज-काज करने लगा।

इधर राजा की सन्तान-सम्बन्धिनी कामना ने भी फलवती होने का उपक्रम किया। अत्रि मुनि की आँखों से निकले हुए चन्द्रमा को जिस तरह नभस्थली ने, और अग्नि के फेंके हुए महादेव के तेज, अर्थात् कार्त्तिकेय को, जिस तरह गङ्गा ने धारण किया था उसी तरह आठों दिक्पालों के गुरुतर अंशों से परिपूर्ण गर्भ को, सुदक्षिणा ने, दिलीप के वंश का ऐश्वर्य्य बढ़ाने के लिए, धारण किया। नन्दिनी का वरदानरूपी पादप शीघ्रही कुसुमित हो उठा।

———

तीसरा सर्ग ।

—:०:—

रघु का जन्म और राज्याभिषेक ।

धीरे धीरे रानी सुदक्षिणा का गर्भ बढ़ने लगा। उसका पुत्रोत्पत्तिरूपी उदय-काल समीप आ गया। चन्द्रमा की चाँदनी आँखों को जैसी भली मालूम होती है, सगर्भा सुदक्षिणा भी उसकी सखियों को वैसी ही भली मालूम होने लगी। राजा इक्ष्वाकु की वंशवृद्धि के आदि-कारण और सुदक्षिणा के पति राजा दिलीप की मनोकामना के साधक गर्भचिह्न-सुदक्षिणा के शरीर पर, स्पष्ट देख पड़ने लगे। शरीर कृश हो जाने के कारण अधिक गहने पहनना उसे कष्ट-दायक हो गया। अतएव, कुछ बहुत ज़रूरी गहनों को छोड़ कर, औरों को उसने उतार डाला। सफ़ेदी लिये हुए उसका पीला मुँह लोध के फूल की समता को पहुँच गया। चन्द्रमा का प्रकाश बहुतही कम हो जाने और इधर उधर कुछ इने गिने ही तारों के रह जाने पर, प्रातःकाल होने के पहले, रात जैसे क्षीणप्रभ हो जाती है, सुदक्षिणा भी वैसी ही क्षीणप्रभ हो गई। पीतमुखरूपी चन्द्रमा और परिमित अलङ्काररूपी तारों के कारण उसमें प्रभातकालीन रात की सदृशता आ गई। ग्रीष्म के अन्त में, बादलों की बूँदों से छिड़के गये वन के अल्प जलाशय को बार बार सूँघने पर भी जिस तरह हाथी कि तृप्ति नहीं होती उसी तरह मिट्टी की सुगन्धि वाले सुदक्षिणा के मुँह को, एकान्त में, अनेक बार सूँघने पर भी राजा दिलीप की तृप्ति न हुई। सगर्भावस्था में रानी का मन मिट्टी खाने को चलता था। इसीसे वह कभी कभी उसे खा लिया करती थी। इसका कारण था। वह जानती थी कि मेरा पुत्र महाप्रतापी होगा। भूमण्डल में, समुद्र पर्य्यन्त उसका रथ सब कहीं विना रुकावट के आ जा

सकेगा। ठहरेगा तो दिशाओं का अन्त हो जाने पर ही ठहरेगा। अतएव, इन्द्र जिस तरह सारे स्वर्ग का उपभोग करता है उसी तरह मेरा पुत्र भी सारी पृथ्वी का उपभोग करेगा। यही जान कर उसने अन्यान्य भोग्य वस्तुओं का तिरस्कार कर के मिट्टी खाई। गर्भ से ही उसने अपने पुत्र में पृथ्वी के उपभोग की रुचि उत्पन्न करने का यत्न आरम्भ कर दिया।

राजा अपनी रानी सुदक्षिणा को यद्यपि बहुत चाहता था तथापि सङ्कोच और नारी-जन-सुलभ लज्जा के कारण वह उससे यह न कहती थी कि अमुक अमुक वस्तु की मुझे चाह है। इस कारण उत्तर-कोशल का अधीश्वर, दिलीप, बार बार अपनी रानी की सखियों से आदर-पूर्वक पूछता था कि मागधी सुदक्षिणा का मन किन किन चीज़ों पर जाता है।

गर्भवती स्त्रियों को जो अनेक प्रकार की चीज़ों की चाह होती है वह उनके लिए सुखदायक नहीं होती। उससे वे बहुत पीड़ित होती हैं। इस व्यथाजनक दशा को प्राप्त होकर सुदक्षिणा ने जो कुछ चाहा वही उसके पास लाकर उपस्थित कर दिया गया। क्योंकि, संसार में ऐसी कोई चीज़ ही न थी जो उस चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुषधारी राजा के लिए अलभ्य होती। रानी की इच्छित वस्तु यदि स्वर्ग में होती तो उसे भी वहाँ से लाने की शक्ति राजा में थी।

धीरे धीरे रानी की दोहद-सम्बन्धिनी व्यथा जाती रही। तरह तरह की चीज़ों के लिए उसका मन चलना बन्द हो गया। उसकी कृशता भी कम हो गई; शरीर के अवयव पहले की तरह पुष्ट हो गये। पुराने पत्ते गिर जाने के अनन्तर, नवीन और मनोहर कोंपल पाने वाली लता के समान वह, उस समय, बहुत ही शोभायमान हुई। कुछ दिन और बीत जाने पर, गर्भ के वृद्धि-सूचक लक्षण भी उसमें दिखाई देने लगे। उस समय राजा को अन्तःसत्वा, अर्थात् कोख में गर्भ धारण किये हुए, रानी ऐसी मालूम हुई जैसी कि अपने उदर में धनराशि रखने वाली समुद्रवसना पृथ्वी मालूम होती है, अथवा अपने भीतर छिपी हुई आग रखने वाली शमी* मालूम होती है, अथवा अपने अभ्यन्तर में अदृश्य जल रखने वाली सरस्वती नदी मालूम होती है। लक्षणों से गर्भस्थ शिशु को बड़ा ही

*शमी = छीकुर का वृक्ष।

भाग्यशाली, तेजस्वी और पवित्र समझ कर राजा ने सुदक्षिणा का बहुत सम्मान किया।

अपनी प्रियतमा रानी पर उस धीर-वीर और बुद्धिमान् राजा की बड़ी ही प्रीति थी। उदारता भी उसमें बहुत थी। दिगन्त-पर्य्यन्त व्याप्त विभव का भी उसने अपने भुज-बल से उपार्जन किया था। उसे यह भी विश्वास था कि रानी के पुत्र ही होगा। अतएव अपने प्रेम, औदार्य्य, वैभव और पुत्र-प्राप्ति से होने वाले अत्यधिक आनन्द के अनुसार उसने पुंसवनादि सारे संस्कार, बड़े ही ठाठ से, एक के बाद एक, किये।

इन्द्र आदि आठों दिक्पालों के अंश से युक्त होने के कारण सुदक्षिणा का गर्भ बहुत ही गुरुत्व-पूर्ण था। वह इतना भारी था कि रानी को आसन से उठने में भी प्रयास पड़ता था। इस कारण राजा दिलीप के घर आने पर, दोनों हाथ जोड़ कर उसका आदर-सत्कार करने में भी उसे परिश्रम होता था। ऐसी गर्भालसा और चञ्चलाक्षी रानी को देखने पर राजा के आनन्द की सीमा न रहती थी।

बालचिकित्सा में अत्यन्त कुशल और विश्वासपात्र राजवैद्यों ने, नौ महीने तक, बड़ी सावधानता से रानी के गर्भ की रक्षा की। दसवाँ महीना लगा। प्रसूति-काल आ गया। उस समय, आसन्नप्रसवा रानी को मेघ-मण्डल से छाई हुई नभःस्थली के समान देख कर राजा को परम सन्तोष हुआ। वह पुलकित हो गया।

प्रभाव, मन्त्र और उत्साहरूपी साधनों से जो शक्ति युक्त होती है वह त्रिसाधना-शक्ति कहाती है। ऐसी शक्ति जिस तरह कभी नाश न पानेवाले सम्पत्ति-समूह को उत्पन्न करती है, उसी तरह इन्द्राणी की समता करने वाली सुदक्षिणा ने भी, यथासमय, बड़ी ही शुभ लग्न में, पुत्ररत्न उत्पन्न किया। उस समय रवि, मङ्गल, गुरु, शुक्र और शनि, ये पाँचों ग्रह, उच्च के थे। सब का उदय था; एक का भी, उस समय, अस्त न था। इससे सूचित होता था कि बालक बड़ा ही भाग्यवान् और प्रतापी होगा। जन्म-काल में एक ग्रह उच्च का होने से मनुष्य सुखी होता है; दो होने से श्रेष्ठ होता है; तीन होने से राज-तुल्य होता है; चार होने से स्वयं राजा होता है; और पाँच होने से देवतुल्य होता है। दिलीप के पुत्र-जन्म के समय

तो पाँचों ग्रह उच्च के थे। अतएव उसके सौभाग्य का क्या ठिकाना! उसे तो देवताओं के सदृश प्रतापी होना ही चाहिए।

दिशायें प्रसन्न देख पड़ने लगीं; वायु बड़ी ही सुखदायक बहने लगी, होम की अग्नि अपनी लपट को दाहनी तरफ़ करके हव्य का ग्रहण करने लगी। उस समय जो कुछ हुआ सभी शुभ-सूचक हुआ। कारण यह कि उस शिशु का जन्म संसार की भलाई के लिए ही था। इसीसे सभी बातें मङ्गल की सूचना देने वाली हुईं। सूतिका-घर में रानी सुदक्षिणा की शय्या के आस पास, आधी रात के समय, कितने ही दीपक जल रहे थे। शुभ लग्न में उत्पन्न हुए उस नवजात शिशु के चारों तरफ़ फैले हुए तेज ने उन सब की प्रभा को सहसा मन्द कर दिया। वे केवल चित्र में लिखे हुए दीपों के सदृश निष्प्रभ दिखाई देने लगे।

शिशु के भूमिष्ठ होने पर, रनिवास के सेवकों ने कुमार के जन्म का समाचार जा कर राजा को सुनाया। उनके मुँह से उन अमृत-तुल्य मीठे वचनों को सुन कर राजा को परमानन्द हुआ। उस समय चन्द्रमा के सदृश कान्ति वाले अपने छत्र और दोनों चमरों को छोड़ कर राजा को और कोई भी ऐसी वस्तु न देख पड़ी जिसे वह उनके लिए अदेय समझता। एक छत्र और दो चमर, इन तीन चीज़ों को उसने राजचिह्न जान कर अदेय समझा। अन्यथा वह उन्हें भी ऐसा न समझता।

नौकरों से सुत-जन्म-सम्बन्धी संवाद सुन कर राजा अन्तःपुर में गया। वहाँ निर्वात-स्थान के कमल-समान निश्चल नेत्रों से अपने नवजात सुत का सुन्दर मुख देखने वाले दिलीप का आनन्द—चन्द्रमा के दर्शन से बढ़े हुए महासागर के ओघ के समान—उसके हृदय के भीतर समा सकने में असमर्थ हो गया। उसे इतना आनन्द हुआ कि वह हृदय में न समा सका—फूट कर बाहर बह चला।

राजा ने शीघ्रही सुतोत्पत्ति का समाचार महर्षि वशिष्ठ के पास पहुँचाया। क्योंकि वही राजा के कुल-गुरु और पुरोहित थे। तपस्वी वशिष्ठ ने तपोवन से आकर बालक के जातकर्म्म आदि सारे संस्कार विधिपूर्वक किये। संस्कार हो चुकने पर—खान से निकलने के बाद सान पर चढ़ाये गये हीरे के समान—उस सद्योजात शिशु की शोभा और भी अधिक हो गई।

सुतोत्सव केउपलक्ष्य में, प्रमोददायक नाच और गाने के साथ साथ नाना प्रकार के माङ्गलिक बाजों की श्रुति-सुखद ध्वनि भी होने लगी। उसने राजा दिलीप के महलों ही को नहीं व्याप्त कर लिया; आकाश में भी वह व्याप्त हो गई—देवताओं ने भी आकाश में दुन्दुभी बजा कर आनन्द मनाया। पुत्र-जन्म आदि बड़े बड़े उत्सवों के समय राजा-महाराजा कैदियों को छोड़ कर हर्ष प्रकट करते हैं। परन्तु दिलीप इतनी उत्तमता से पृथ्वी की रक्षा और प्रजा का पालन करता था कि उसे कभी किसी को क़ैद करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। उसके शासनकाल में किसी ने इतना गुरुतर अपराध ही नहीं किया कि उसे क़ैद का दण्ड देना पड़ता। अतएव उसका क़ैदख़ाना ख़ाली ही पड़ा था। उसमें एक भी क़ैदी न था। वह छोड़ता किसे? इससे, उसने पितरों के ऋण नामक बन्धन से ख़ुद अपने ही को छुड़ा कर क़ैदियों के छोड़े जाने की रीति निबाही! बेचारा करता क्या?

राजा दिलीप पण्डित था। शब्दों का अर्थ वह अच्छी तरह जानता था। इस कारण उसने अपने पुत्र का कोई सार्थक नाम रखना चाहा। उसने कहा यह बालक सारे शास्त्रों का तत्त्व समझ कर उनके, तथा शत्रुओं के साथ युद्ध छिड़ जाने पर उन्हें परास्त करके समर-भूमि के, पार पहुँच सके तो बड़ी अच्छी बात हो। यही सोच कर और 'रघि' धातु का अर्थ गमनार्थक जान कर उसने अपने पुत्र का नाम 'रघु' रक्खा।

दिलीप को किसी बात की कमी न थी। वह बड़ाही ऐश्वर्य्यवान् राजा था। सारी सम्पदायें उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी थीं। उन सबका उपयोग करके बड़े प्रयत्न से उसने पुत्र का लालन-पालन आरम्भ किया। फल यह हुआ कि बालक के सुन्दर शरीर के सारे अवयव शीघ्रता के साथ पुष्ट होने लगे।

सूर्य्य की किरणों का प्रतिपदा से प्रवेश आरम्भ होने से जिस तरह बाल-चन्द्रमा का बिम्ब प्रति दिन बढ़ता जाता है उसी तरह वह बालक भी बढ़ने लगा। कार्त्तिकेय को पाकर जैसे शङ्कर और पार्व्वती को, तथा जयन्त को पाकर जैसे इन्द्र और इन्द्राणी को, हर्ष हुआ था वैसे ही शङ्कर और पार्वती तथा इन्द्र और इन्द्राणी की समता करनेवाले दिलीप और

सुदक्षिणा को भी, कार्त्तिकेय और जयन्त की बराबरी करनेवाला पुत्र पाकर, हर्ष हुआ। चक्रवाक और चक्रवाकी में परस्पर अपार प्रेम होता है। उनमें एक दूसरे का प्रेम एक दूसरे के हृदय को बाँधे सा रहता है। सुदक्षिणा और दिलीप के प्रेम का भी यही हाल था। चक्रवाक पक्षी के जोड़े के प्रेम की तरह इन दोनों के प्रेम ने भी एक दूसरे के हृदय को बाँध कर एक सा कर दिया था। वह प्रेम इस समय उनके इकलौते बेटे के ऊपर यद्यपि बँट गया, तथापि वह कम न हुआ। वह और भी बढ़ता ही गया—पुत्र पर चले जाने पर भी उन दोनों का पारस्परिक प्रेम क्षीण न हुआ, उलटा अधिक हो गया।

धाय के सिखलाने से धीरे धीरे रघु बोलने लगा। उसकी उँगली पकड़ कर वह चलने भी लगा। और, उसकी शिक्षा से वह नमस्कार भी करने लगा। इन बातों से उसके पिता दिलीप के आनन्द का ठिकाना न रहा। उसके तोतले वचन सुन कर तथा उसको चलते और प्रणाम करते देख कर पिता को जो सुख हुआ उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिस समय दिलीप रघु को गोद में उठा लेता था उस समय पुत्र का अङ्ग छू जाने से राजा की त्वचा पर अमृत की सी वृष्टि होने लगती थी। अतएव, आनन्द की अधिकता के कारण उसके नेत्र बन्द हो जाते थे। पुत्र के स्पर्श-रस का यह अलौकिक स्वाद, बहुत दिनों के बाद, उसने पाया था।

सृष्टि की रचना करना तो ब्रह्मा का काम है, पर उसकी रक्षा करना उसका काम नहीं। और, रक्षा न करने से कोई चीज़ बहुत दिन तक रह नहीं सकती। इसीसे जब विष्णु का सत्यगुणात्मक अवतार हुआ तब ब्रह्मा को यह जान कर अपार सन्तोष हुआ कि मेरी रची हुई सृष्टि अब कुछ दिन तक बनी रहेगी। इसी तरह विशुद्धजन्मा रघु के जन्म से, मर्य्यादा के पालक और प्रजा के रक्षक राजा दिलीप को भी परम सन्तोष हुआ। पुत्र-प्राप्ति के कारण उसने अपने वंश को कुछ काल तक स्थायी समझा। उसे दृढ़ आशा हुई कि मेरे वंश के डूबने का अभी कुछ दिन डर नहीं।

यथासमय रघु का चूड़ाकर्म्म हुआ। तदनन्तर उसके विद्यारम्भ का समय आया। सिर पर हिलती हुई कुल्लियों (ज़ुल्फ़ों) वाले अपने समवयस्क मन्त्रिपुत्रों के साथ वह पढ़ने लगा और—नदी के द्वारा जैसे जलचर-

जीव समुद्र के भीतर घुस जाते हैं उसी तरह वह—वर्णमाला याद करके उसके द्वारा शब्दशास्त्र में घुस गया। कुछ समय और बीत जाने पर उसका विधिपूर्वक यज्ञोपवीत हुआ। तब उस पिता के प्यारे को पढ़ने के लिए बड़े बड़े विद्वान् अध्यापक नियत हुए। बड़े यत्न और बड़े परिश्रम से वे उसे पढ़ाने लगे। उनका वह यत्न और वह परिश्रम सफल भी हुआ। और, क्यों न सफल हो? सुपात्र को दी हुई शिक्षा कहीं निष्फल जाती है? दिशाओं का स्वामी सूर्य जिस तरह पवन के समान वेगगामी अपने घोड़ों की सहायता से यथाक्रम चारों दिशाओं को पार कर जाता है, उसी तरह, वह कुशाग्रबुद्धि रघु, अपनी बुद्धि के शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण और धारण आदि सारे गुणों के प्रभाव से, महासागर के समान विस्तृत चारों विद्याओं को क्रम क्रम से पार कर गया। धीरे धीरे वह आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति, इन चारों विद्याओं में व्युत्पन्न हो गया। यज्ञ में मारे गये काले हिरन का चर्म्म पहन कर उसने मन्त्र-सहित आग्नेय आदि अस्त्रविद्यायें भी सीख लीं। परन्तु इस अस्त्रशिक्षा के लिए उसे किसी और शिक्षक का आश्रय नहीं लेना पड़ा। इसे उसने अपने पिता ही से प्राप्त किया। क्योंकि उसका पिता, दिलीप, केवल अद्वितीय पृथ्वीपति ही न था; पृथ्वी की पीठ पर वह अद्वितीय धनुषधारी भी था।

बड़े बैल की अवस्था को प्राप्त होनेवाले बछड़े अथवा बड़े गज की स्थिति को पहुँचनेवाले गज-शावक की तरह रघु ने, धीरे धीरे, बाल-अवस्था से निकल कर युवावस्था में प्रवेश किया। उस समय उसके शरीर में गम्भीरता आ जाने के कारण वह बहुत ही सुन्दर देख पड़ने लगा। उसके युवा होने पर उसके पिता ने गोदान-नामक संस्कार कराया। फिर उसका विवाह किया। अन्धकार का नाश करनेवाले चन्द्रमा को पाकर जिस तरह दक्ष प्रजापति की बेटियाँ शोभित हुई थीं, उसी तरह रघु के समान सद्गुण-सम्पन्न पति पाकर राजाओं की बेटियाँ भी सुशोभित हुईं।

पूर्ण युवा होने पर रघु की भुजायें गाड़ी के जुए के सदृश लम्बी हो गईं। शरीर खूब बलवान् हो गया। छाती किवाड़ के समान चौड़ी हो गई। गर्दन मोटी हो गई। यद्यपि शक्ति और शरीर की वृद्धि में वह अपने पिता, दिलीप, से भी बढ़ गया, तथापि नम्रता के कारण वह फिर भी

छोटा ही दिखाई दिया। प्रजापालनरूपी अत्यन्त गुरु भार को अपने ऊपर धारण किये हुए दिलीप को बहुत दिन हो गये थे। उसे उसने, अब, हलका करना चाहा। उसने सोचा कि रघु एक तो स्वभाव ही से नम्र है, दूसरे शास्त्र-ज्ञान तथा अस्त्रविद्या की प्राप्ति से भी वह उद्धत नहीं हुआ—वह सब तरह शालीन देख पड़ता है। अतएव, वह युवराज कहाये जाने योग्य है। यह विचार करके उसने रघु को युवराज कर दिया। कई दिन के फूले हुए कमल में उसकी सारी लक्ष्मी—उसकी सारी शोभा—अधिक समय तक नहीं रह सकती। वह नये फूले हुए कमल-पुष्प पर अवश्य ही चली जाती है; क्योंकि सुवास आदि गुणों पर ही उसकी विशेष प्रीति होती है—वह उन्हीं की भूखी होती है। विनय आदि गुणों पर लुब्ध रहने वाली राज्यलक्ष्मी का भी यही हाल है। इसी से अपने रहने के मुख्य स्थान, राजा दिलीप, से निकल कर उसका कुछ अंश, वहीं पास ही रहनेवाले युवराज-संज्ञक रघु-रूपी नये स्थान को चला गया। वायु की सहायता पाने से जैसे अग्नि, मेघ-रहित शरद् ऋतु की प्राप्ति से जैसे सूर्य्य और गण्ड-स्थल से मद बहने से जैसे मत्त गजराज दुर्जय हो जाता है वैसे ही रघु जैसे युवराज को पाकर राजा दिलीप भी अत्यन्त दुर्जय हो गया।

तब, इन्द्र के समान पराक्रमी और ऐश्वर्य्यवान् राजा दिलीप ने अश्व-मेध-यज्ञ करने का विचार किया। अनेक राजपुत्रों को साथ देकर उसने, धनुर्धारी रघु को यज्ञ के निमित्त छोड़े गये घोड़े का, रक्षक बनाया। इस प्रकार रघु की सहायता से उसने एक कम सौ अश्वमेध-यज्ञ, बिना किसी विघ्न-बाधा के, कर डाले। परन्तु इतने से भी उसे सन्तोष न हुआ। एक और यज्ञ करके सौ यज्ञ करने वाले शतक्रतु (इन्द्र) की बराबरी करने का उसने निश्चय किया। अतएव, विधिपूर्वक यज्ञों के कर्त्ता उस राजा ने, फिर भी एक यज्ञ करने की इच्छा से, एक और घोड़ा छोड़ा। वह स्वेच्छापूर्वक पृथ्वी पर बन्धनरहित घूमने लगा और राजा के धनुर्धारी रक्षक उसकी रक्षा करने लगे। परन्तु, इस दफ़े, उन सारे रक्षकों की आँखों में धूल डाल कर, गुप्तरूपधारी इन्द्र ने उसे हर लिया। यह देख कर कुमार रघु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी सारी सेना जहाँ की तहाँ चित्र लिखी सी खड़ी रह गई। विस्मय की अधिकता के कारण उसका कर्त्तव्य-ज्ञान जाता रहा।

किसी की समझ में यह बात ही न आई कि इस समय क्या करना चाहिए। इतने में, राजा दिलीप को वरदान देने के कारण सर्वत्र विदित प्रभाववाली, महर्षि वशिष्ठ की नन्दिनी नामक गाय, अपनी इच्छा से फिरती फिरती वहाँ आई हुई सब को देख पड़ी। साधुजनों के सम्मानपात्र दिलीप-पुत्र रघु ने उसे सादर प्रणाम किया और उसके शरीर से निकले हुए पवित्र जल, अर्थात् मूत्र, को अपनी आँखों में लगाया। उस जल से धोई जाने पर रघु की आँखों में उन पदार्थों को भी देखने की शक्ति उत्पन्न हो गई जो चर्म्मचक्षुओं से नहीं देखे जा सकते। नन्दिनी की बदौलत दिलीप-नन्दन रघु को दिव्य दृष्टि प्राप्त होते ही उसने देखा कि पर्वतों के पंख काट गिराने वाला इन्द्र, यज्ञ के घोड़े को रथ की रस्सी से बाँधे हुए, उसे पूर्व दिशा की ओर भगाये लिये जा रहा है; घोड़ा बेतरह चपलता दिखा रहा है; और इन्द्र का सारथि उसकी चपलता को रोकने का बार बार प्रयत्न कर रहा है। रघु ने देखा कि इस रथारूढ़ पुरुष के सौ आँखें हैं और उन आँखों की पलकें निश्चल हैं—वे बन्द नहीं होतीं। उसने यह भी देखा कि इसके रथ के घोड़े हरे हैं। इन चिन्हों से उसने पहचान लिया कि इन्द्र के सिवा यह और कोई नहीं। इस पर उसने बड़ा ही गम्भीर नाद करके इन्द्र को ललकारा। उसके उच्च स्वर से सारा आकाश गूँज उठा और यह मालूम होने लगा कि इन्द्र को लौटाने के लिए वह उसे पीछे से खींच सा रहा है। उसने कहा:—

"सुरेन्द्र ! शाबाश ! बड़े बड़े महात्मा और विद्वान् पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि यज्ञों का हविर्भाग पानेवालों में तूही प्रधान है—सब से अधिक हव्य-अंश सदा तूही पाता है। उधर तो वे यह घोषणा दे रहे हैं, इधर यज्ञ की दीक्षा लेने में सतत प्रयत्न करने वाले मेरे पिता के यज्ञ का विध्वंस करने की तू ही चेष्टा कर रहा है। यह क्यों ? तू ऐसा विपरीत आचरण करने के लिए प्रवृत्त कैसे हुआ ? तू तो स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इन तीनों लोकों का स्वामी है। दृष्टि भी तेरी दिव्य है। यज्ञ के विरोधी दैत्यों को दण्ड देकर उन्हें सीधा करना तेरा काम है, न कि याज्ञिकों का घोड़ा लेकर भागना। धर्म्माचरण करनेवालों के धर्म्मानुष्ठान में यदि तू ही, इस तरह, विघ्न डालेगा तो बस हो चुका ! फिर बेचारा धर्म नष्ट हुए बिना कैसे

रहेगा? अतएव, देवेन्द्र! अश्वमेध-यज्ञ के प्रधान अङ्ग इस घोड़े को तू छोड़ दे। वैदिक धर्म का उपदेश करनेवाले—वेद-विहित मार्ग को दिखानेवाले—सर्व-समर्थ सज्जन कभी ऐसे मलिन मार्ग का अवलम्बन नहीं करते। तुझे ऐसा बुरा काम करना कदापि उचित नहीं।"

रघु के ऐसे गम्भीर वचन सुन कर देवताओं के स्वामी इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। आश्चर्य्यचकित होकर उसने अपना रथ लौटा दिया और रघु की बातों का इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया। वह बोला:—

"राजकुमार! जो कुछ तूने कहा सब सच है। परन्तु बात यह है कि जिनको और सारे पदार्थों की अपेक्षा यश ही अधिक प्यारा है वे उसे शत्रुओं के द्वारा क्षीण होते कदापि नहीं देख सकते। हर उपाय से उसकी रक्षा करना ही वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यज्ञों के कारण ही मेरा यश त्रिभुवन में प्रकाशित है। तेरा पिता बड़े बड़े यज्ञ करके मेरे उसी यश पर पानी फेरने का प्रयत्न कर रहा है। जैसे पुरुषोत्तम संज्ञा केवल विष्णु की है और जैसे परमेश्वर-संज्ञा एक मात्र त्रिलोचन महादेव की है—और किसी की नहीं—उसी तरह शतक्रतु-संज्ञा अकेले एक मेरी है। मुनि जन मुझी को सौ यज्ञ करनेवाला जानते हैं। हम तीनों के ये तीन शब्द और किसी को नहीं मिल सकते। पुरुषोत्तम, महेश्वर और शतक्रतु से हरि, हर और इन्द्र ही का ज्ञान होता है, किसी और का नहीं। परन्तु सौ यज्ञ करके अब तेरा पिता भी शतक्रतु होना चाहता है। इसे मैं किसी तरह सहन नहीं कर सकता। इसी से कपिल मुनि का अनुसरण करके मैंने तेरे पिता के छोड़े हुए इस घोड़े का हरण किया है। इसे मुझसे छीन ले जाने की तुझ में शक्ति नहीं। इस विषय में तेरा एक भी प्रयत्न सफल होने का नहीं। ख़बरदार! राजा सगर की सन्तति के मार्ग में पैर न रखना; उन्हीं का सा आचरण करके उन्हीं की सी दशा को प्राप्त न होना। छीन छान का यत्न करने से तेरी कुशल नहीं।"

इन्द्र के ऐसे गर्वित वचन सुन कर भी घोड़े की रक्षा करनेवाला रघु विचलित न हुआ। वह ज़रा भी नहीं डरा। हँस कर उसने इन्द्र से कहा:—

"हाँ, यह बात है! यदि तूने सचमुच ही यह निश्चय कर लिया है—यदि तू घोड़े को छोड़ने पर किसी तरह राज़ी नहीं—तो हथियार

हाथ में ले। रघु को जीते बिना तू अपने को कृतकृत्य मत समझ। बिना मुझे परास्त किये तू घोड़े को यहाँ से नहीं ले जा सकता।"

इतना कह कर रघु ने पैतड़ा बदला और धन्वा पर बाण चढ़ा कर, तथा आकाश की ओर मुँह करके, वह इन्द्र के सामने खड़ा हो गया। उस समय दाहने पैर को आगे बढ़ाये और बायें को पीछे झुकाये हुए रघु ने, अपने ऊँचे-पूरे और सुदृढ़ शरीर की सुन्दरता से, महादेव को भी मात कर दिया। उसने एक सुवर्णरञ्जित बाण इतने ज़ोर से छोड़ा कि वह इन्द्र की छाती के भीतर धँस गया। इस पर, पर्वतों को काट गिराने वाले इन्द्र ने बड़ा क्रोध किया। उसने भी नवीन उत्पन्न हुए मेघों के समुदाय के अल्पकालिक चिह्न, अर्थात् इन्द्र-धनुष, पर कभी व्यर्थ न जाने वाला बाण चढ़ा कर उसे छोड़ दिया। वह, इन्द्र के शरासन से छूट कर, दिलीप-नन्दन रघु की दोनों भुजाओं के बीच, हृदय में, प्रविष्ट हो गया। अब तक इस बाण ने बड़े बड़े भयङ्कर दैत्यों ही का रुधिर पिया था। इससे वह उसी रुधिर का स्वाद जानता था। आज ही उसे मनुष्य के शोणितपान का मौक़ा मिला था। अतएव, कभी पहले उसका स्वाद न जानने के कारण, उसने रघु के रुधिर को मानों बड़े ही कुतूहल से पिया।

दिलीपात्मज कुमार रघु भी कुछ ऐसा वैसा न था। पराक्रम में वह स्वामिकार्तिक के समान था। इन्द्र के छोड़े हुए बाण की चोट खाकर उसने एक और बाण निकाला। उस पर उसका नाम खुदा हुआ था। उसे उसने बड़े ही भीम-विक्रम से छोड़ा। अपने वाहन ऐरावत हाथी को ठुमकारने से जिसकी उँगलियाँ कड़ी हो गई थीं और इन्द्राणी ने केसर-कस्तूरी आदि से जिस पर तरह तरह के बेलबूटे बनाये थे, इन्द्र के उसी हाथ में वह बाण भीतर तक घुसता हुआ चला गया। जिस हाथ ने रघु की छाती पर बाण-प्रहार किया था उससे रघु ने तत्काल ही बदला ले लिया। उसे इतने ही से सन्तोष न हुआ। उसने मोरपंख लगा हुआ एक और बाण निकाला। उससे उसने इन्द्र के रथ पर फहराती हुई, वज्र के चिह्नवाली, ध्वजा काट गिराई।

यह देख कर इन्द्र के क्रोध का ठिकाना न रहा। देवताओं की राज्य-लक्ष्मी के केश बलपूर्वक काट लिये जाने पर उसे जितना क्रोध होता उतना

ही इस घटना से भी हुआ। उसने कहा, यह मेरी रथ-ध्वजा नहीं काटी गई; इसे मैं सुर-श्री की अलकों का काटा जाना समझता हूँ। तब तो बड़ा ही तुमुल युद्ध छिड़ गया। रघु जी-जान से इन्द्र को हरा देने की चेष्टा करने लगा और इन्द्र रघु को। पंखधारी साँपों के समान बड़े ही भयङ्कर बाण दोनों तरफ़ से छूटने लगे। इन्द्र के बाण आकाश से पृथ्वी की तरफ़ आने लगे और रघु के बाण पृथ्वी से आकाश की तरफ़ सनसनाते हुए जाने लगे। शस्त्रास्त्रों से सजी हुई उन दोनों की सेनायें, पास ही खड़ी हुई, इस भीषण युद्ध को देखती रहीं। अपने ही शरीर से निकली हुई बिजली की आग को जैसे मेघ अपनी ही वारि-धारा से शान्त नहीं कर सकते वैसे ही इन्द्र भी, अस्त्रों की लगातार वृष्टि करने वाले उस असह्य तेजस्वी रघु का निवारण न कर सका—उस महापराक्रमी की बाणवर्षा को रोकने में वह समर्थ न हुआ। बात यह थी कि रघु कोई साधारण राजकुमार न था। दिक्पालों के अंश से उत्पन्न होने के कारण उसमें इन्द्र का भी अंश था। फिर भला अपने ही अंश को इन्द्र किस तरह हरा सकता?

इस प्रकार बड़ी देर तक युद्ध होने के अनन्तर रघु ने एक अर्धचन्द्राकार बाण छोड़ा। उसने इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा काट दी। इससे उसका धनुष बेकार हो गया। इस प्रत्यञ्चा—इस डोरी—का काटना कठिन काम था। वह बड़ी ही मज़बूत थी। जिस समय चढ़ा कर वह खींची जाती थी उस समय इन्द्र के हरिचन्दन लगे हुए हाथ के पहुँचे पर, उससे, मन्थन के समय सागर का सा, घोर नाद उत्पन्न होता था। परन्तु रघु के बाण से कट कर वही दो टुकड़े हो गई।

धनुष की यह दशा हुई देख इन्द्र अधीर हो उठा। उसका क्रोध बढ़ कर दूना हो गया। बेकार समझ कर धनुष को तो उसने फेंक दिया, और रघु जैसे प्रबल-पराक्रमी शत्रु के प्राण लेने के लिए पर्वतों के पंख काटने और अपने चारों तरफ़ प्रभा-मण्डल फैलाने वाले अस्त्र को उसने हाथ में लिया। अर्थात् लाचार होकर, रघु को एकदम मार गिराने के इरादे से, उसने चमचमाता हुआ वज्र उठाया। उसे इन्द्र ने बड़े ही वेग से रघु पर चलाया। रघु की छाती पर वह बड़े ज़ोर से लगा। उसकी चोट से व्याकुल

होकर रघु ज़मीन पर गिर गया । इधर वह गिरा उधर सैनिकों की आँखों से टपाटप आँसू भी गिरे—उसे गिरा देख वे रोने लगे । उस वज्राघात से रघु मूर्छित तो हो गया; परन्तु उसकी मूर्छा बड़ी देर तक नहीं रही । चोट से उत्पन्न हुई पीड़ा शीघ्र ही जाती रही । अतएव, सेना के हर्षसूचक सिंहनाद के साथ, ज़रा ही देर में, वह उठ खड़ा हुआ—व्यथा रहित होकर उसे फिर युद्ध के लिए तैयार देख कर सैनिकों ने प्रचण्ड हर्ष-ध्वनि की ।

शस्त्र चलाने और उनकी चोट सह लेने में रघु अपना सानी न रखता था । यद्यपि, उस पर इतना कठोर वज्रप्रहार हुआ, तथापि उसकी मार को उसने चुपचाप सह लिया । उसे इस तरह निष्ठुरता और क्रूरतापूर्वक, बहुत देर तक, अपने साथ शत्रुभाव से युद्ध करते देख इन्द्र को अतिशय सन्तोष हुआ । रघु के प्रबल पराक्रम के कारण उस पर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ । बात यह है कि दया, दाक्षिण्य और शौर्य्य आदि गुण सभी कहीं आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं । शत्रुओं तक को वे मोहित कर लेते हैं; मित्रों का तो कहना ही क्या है । रघु की वीरता पर मुग्ध होकर इन्द्र ने उससे कहा:—

"मेरे वज्र में इतनी शक्ति है कि वह बड़े बड़े पर्वतों तक को सहज ही में काट गिराता है । आज तक तेरे सिवा और कोई भी उसकी मार खाकर जीता नहीं रहा । तुझ में इतना बल और वीर्य्य देख कर मैं तुझ से बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ । अतएव, इस घोड़े को छोड़ कर और जो कुछ तू चाहे मुझ से माँग सकता है ।"

मूर्च्छा जाते ही इन्द्र पर छोड़ने के लिए रघु अपने तरकस से एक और बाण निकालने लगा था । उसकी पूँछ पर सोने के पंख लगे हुए थे । उनके चमक से अपनी उँगलियों की शोभा बढ़ाने वाले उस बाण को रघु ने आधा निकाल भी लिया था । परन्तु इन्द्र के मुँह से ऐसी मधुर और प्यारी वाणी सुनतेही, उसे फिर तरकस के भीतर रख कर, वह इन्द्र की बात का उत्तर देने लगा । वह बोला :—

"प्रभो ! यदि तूने घोड़े को न छोड़ने का निश्चय ही कर लिया हो तो यह आशीर्वाद देने की दया होनी चाहिए कि यज्ञ की दीक्षा लेने में सदैव उद्योग करने वाले मेरे पिता को अश्वमेध यज्ञ का उतना ही फल मिले

जितना कि विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त होने पर मिलता। यदि अश्वमेध का सारा फल पिता को प्राप्त हो जाय तो घोड़ा लौटाने की कोई वैसी आवश्यकता भी नहीं। एक बात और है। इस समय मेरा पिता यज्ञशाला में है। वह यज्ञसम्बन्धी अनुष्ठान में लगा हुआ है और यज्ञकर्त्ता में शङ्कर का अंश आ जाता है। इस समय, न वह यज्ञमण्डप को छोड़ सकता है और न यज्ञसम्बन्धी कामों के सिवा और कोई काम ही कर सकता है। इस कारण उस तक पहुँच कर उसे इस घटना की सूचना देना मेरे लिए सम्भव नहीं। इससे यह वृत्तान्त सुनाने के लिए तू अपना ही दूत मेरे पिता के पास भेज दे। बस, इतनी कृपा और कर।"

रघु की प्रार्थना को इन्द्र ने स्वीकार कर लिया और 'तथास्तु' कह कर जिस मार्ग से आया था उसीसे उसने प्रस्थान किया। इधर सुदक्षिणा-सुत रघु भी पिता के यज्ञमण्डप को लौट गया। परन्तु बहुत अधिक प्रसन्न होकर वह नहीं लौटा। युद्ध में विजयी होने पर भी घोड़े की अप्राप्ति उसके जी में खटकती रही।

उधर रघु के पहुँचने के पहले ही उसका पिता दिलीप सारी घटना, इन्द्र के दूत के मुख से, सुन चुका था। रघु जब पिता के पास पहुँचा तब उसके शरीर पर दिलीप को वज्र के घाव देख पड़े। उस समय पुत्र की वीरता का स्मरण करके उसे परमानन्द हुआ। हर्षाधिक्य के कारण उसका हाथ बर्फ़ के समान ठंढा हो गया। उसी हाथ को पुत्र के घावपूर्ण शरीर पर उसने बड़ी देर तक फेरा और उसकी बड़ी बड़ाई की।

जिस की आज्ञा को पूजनीय समझ कर सब लोग सिर पर धारण करते थे ऐसे उस परम प्रतापी राजा दिलीप ने, इस प्रकार, एक कम सौ यज्ञ कर डाले। उसने ये निन्नानवे यज्ञ क्या किये, मानो अन्त समय में, स्वर्ग पर चढ़ जाने की इच्छा से उसने इतनी सीढ़ियों का एक सिलसिला बना कर तैयार कर दिया।

एक कम सौ यज्ञ कर चुकने पर राजा दिलीप का मन इन्द्रियों की विषय-वासना से हट गया। राज्य के उपभोग से उसे विरक्ति हो गई। अतएव, उसने अपने तरुण और सर्वथा सुयोग्य पुत्र रघु को श्वेतच्छत्र आदि सारे राजचिह्न देकर उसे विधिपूर्वक राजा बना दिया। फिर वह

अपनी रानी सुदक्षिणा को लेकर तपोवन को चला गया । वहाँ वानप्रस्थ होकर वह मुनियों के साथ वृक्षों की छाया में रहने लगा । इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए राजाओं के कुल की यही रीति थी । वृद्ध होने पर, पुत्र को राज्य सौंप कर, वे अवश्य ही वानप्रस्थ हो जाते थे ।

चौथा सर्ग।

—:❀:—

रघु का दिग्विजय।

सायङ्काल, सूर्य के दिये* हुए तेज को पाकर जैसे अग्नि की शोभा बढ़ जाती है वैसे ही पिता के दिये हुए राज्य को पाकर रघु की भी शोभा बढ़ गई। उसका तेज पहले से भी अधिक हो गया। दिलीप के शासन-समय में कुछ राजा उससे द्वेष करने लगे थे। उसका प्रताप उन्हें असह्य हो गया था। इस कारण, रघु के राज्याभिषेक का समाचार सुन कर, उनके हृदयों में पहले ही से धधकती हुई द्वेष की आग एक दम जल सी उठी। परन्तु, इधर, उसकी प्रजा उसके नये अभ्युदय से बहुत ही प्रसन्न हुई। राजद्वार पर फहराती हुई पताका को जिस तरह लोग, आँखें ऊपर उठा उठा कर, बड़े ही चाव से देखते हैं उसी तरह रघु की प्रजा ने, उसके नवीन वैभव को देख देख, अपने बाल-बच्चों सहित बेहद आनन्द मनाया। रघु के सामने उसके शत्रुओं की कुछ न चली। अपने पूर्व-पुरुषों के सिंहासन पर बैठते ही बैठते वह गजगामी वीर शत्रुओं के सारे देश दबा बैठा। सिंहासन पर आसन लगाना और शत्रुओं का राज्य छीन लेना, ये दोनों बातें उसने एक ही साथ कर दिखाईं।

रघु को सार्वभौम राजा का पद प्राप्त होने पर लक्ष्मी भी अदृश्य होकर उसकी सेवा सी करने लगी। यह सच है कि वह दिखाई न देती थी। परन्तु रघु की कान्ति के समूह से, जो उसके मुख-मण्डल के चारों ओर फैला हुआ था, यही अनुमान होता था कि वह कमलपत्रों का छत्र है और लक्ष्मीही ने उसे रघु के ऊपर लगा सा रक्खा है। लक्ष्मी ही ने नहीं, सरस्वती ने भी रघु

---

* वेदों में लिखा है कि सायङ्काल होने पर सूर्य्य का तेज अग्नि में चला जाता है।

की सेवा करना अपना कर्तव्य समझा। स्तुति-पाठ करने वाले बन्दीजनों के मुख का आश्रय लेने वाली वाग्देवी उस स्तुतियोग्य राजा की, समय समय पर, जो सार्थक स्तुतिरूप सेवा करती थी वह सरस्वती ही की की हुई सेवा तो थी। वैवस्वत-मनु से लगा कर अनेक माननीय महीप यद्यपि पृथ्वी का पहले भी उपभोग कर चुके थे, तथापि, रघु के राजा होने पर, वह उस पर इतनी प्रीति करने लगी जैसे और किसी राजा ने पहले कभी उसका उपभोग ही न किया हो। लक्ष्मी और सरस्वती की तरह पृथ्वी भी उस पर अत्यन्त अनुरक्त हो गई।

रघु की न्यायशीलता बड़ी ही अपूर्व थी। जिस अपराधी को जैसा और जितना दण्ड देना चाहिए वैसा ही और उतना ही दण्ड देकर अपने सारे प्रजा-जनों के मन उसने, न बहुत उष्ण और न बहुत शीतल मलयानिल की तरह, हर लिये। वह सब का प्यारा हो गया। आम में फल आ जाने पर लोगों की प्रीति जिस तरह उसके फूलों पर कम हो जाती है—लोग उन्हें भूल सा जाते हैं—उसी तरह रघु में उदारता, स्थिरता, न्यायपरता आदि गुणों की अधिकता देख कर प्रजा की भक्ति उसके पिता के विषय में कम हो गई। पुत्र को पिता से भी अधिक गुणवान् देख कर लोगों को दिलीप के गुणों का विस्मरण सा हो गया।

राजनीति के पारगामी पण्डितों ने उसे सब तरह की नीतियों की शिक्षा दी। उन्होंने उसे धर्मनीति भी सिखाई और कूटनीति भी। ज्ञान तो उसने भली और बुरी, दोनों प्रकार की, नीतियों का प्राप्त कर लिया; परन्तु अनुसरण उसने केवल धर्मनीति का ही किया। सुमार्ग का ग्रहण करके कुमार्ग को उसने सर्वथा त्याज्य ही समझा।

पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों के गन्ध आदि जो स्वाभाविक गुण हैं वे पहले से भी अधिक हो गये। रघु के सदृश अलौकिक राजा के पुण्य-प्रभाव से उनकी भी उन्नति हुई। इस नये राजा को राजगद्दी मिलने पर सभी बातों में नवीनता सी आगई। समस्त संसार को प्रमुदित करने के कारण जैसे निशाकर का नाम चन्द्र हुआ है, अथवा सभी वस्तुओं को अपने प्रताप से तपाने के कारण जैसे सूर्य्य का नाम तपन पड़ा है—और इनके ये नाम यथार्थ भी हैं—उसी तरह प्रजा का निरन्तर अनुरञ्जन करने

के कारण रघु के लिए 'राजा' का शब्द भी सार्थक हो गया। सचमुच ही वह यथार्थ राजा था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके नेत्र बहुत बड़े बड़े थे—वे कानों तक फैले हुए थे—परन्तु इन बड़े बड़े नेत्रों से वह नेत्रवान् न था। शास्त्रों की बारीकियों तक का उसे पूरा पूरा ज्ञान था। अतएव सब कामों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विधि का ज्ञान कराने वाले शास्त्रही को वह अपने नेत्र समझता था। कारण यह कि विचारशील पुरुष शास्त्रही को मुख्य दृष्टि समझते हैं; नेत्रों की दृष्टि को ते। वे गौण समझते हैं।

पिता से प्राप्त हुए राज्य का पूरा पूरा प्रबन्ध करके और सर्वत्र अपना दबदबा अच्छी तरह जमा करके ज्योंही राजा रघु निश्चिन्त हुआ त्योंही, कमल के फूलों से शोभायमान शरद् ऋतु, दूसरी लक्ष्मी के समान, आ पहुँची। शरत्काल आने पर, खूब बरस चुकने के कारण हलके हो होकर, मेघों ने, आकाश-पथ परित्याग कर दिया। अतएव, रुकावट न रहने से—रास्ता साफ़ हो जाने से—दुःसह हुए सूर्य्य के ताप और रघु के प्रताप ने, एकही साथ, सारी दिशाओं को व्याप्त कर लिया। वर्षा बीत जाने पर जिस तरह सूर्य्य का तेज पहले से भी अधिक तीव्र हो जाता है उसी तरह राजा रघु का प्रताप भी पहले की अपेक्षा अधिक प्रखर होकर और भी दूर दूर तक फैल गया। उधर इन्द्रदेव ने पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिए धारण किये गये धनुष की प्रत्यञ्चा खोल डाली—काम हो गया जान उसे उसने रख दिया; इधर रघु ने अपना विजयी धनुष हाथ में उठाया। इस प्रकार, संसार का हित करने के इरादे से ये दोनों, बारी बारी से, धनुषधारी हुए। जब इन्द्र के धनुष की ज़रूरत थी तब उसने धारण किया था। अब रघु के धनुष की ज़रूरत हुई; इससे उसने भी उसे उठा लिया।

इस अवसर पर शरत्काल को एक दिल्लगी सूझी। कमलरूपी छत्र और फूलों से लदे हुए काशरूपी चमर धारण करके वह रघु की बराबरी करने चला। परन्तु बेचारे का निराश होना पड़ा। रघु की शोभा को वह न पा सका। यह देख कर चन्द्रमा से न रह गया। वह भी राजा रघु की होड़ करने दौड़ा। उसका प्रयत्न अवश्य सफल हुआ। उस स्वच्छ प्रभा वाले शरत्कालीन चन्द्रमा को लोगों ने रघु के प्रसन्न और हँसते हुए मुख की बराबरी का समझा। अतएव जितने नेत्रधारी थे सब ने उन दोनों को

समदृष्टि से देखा—उनकी जितनी प्रीति का पात्र चन्द्रमा हुआ उतनीही प्रीति का पात्र रघु भी हुआ।

उस समय राजहंसों, तारों और खिले हुए श्वेत कमलों से परिपूर्ण जलाशयों को देख कर यह शङ्का होने लगी कि राजा रघु के शुभ्र यश की विभूति की बदौलतही तो कहीं ये शुभ्र नहीं हो रहे! उसी के यश की धवलता ने तो इन्हें धवल नहीं कर दिया! कारण यह कि ऐसी कोई जगह ही न थी जहाँ उसका यश न फैला हो। संसार की संरक्षा करने वाले रघु ने, अपने गुणों ही की बदौलत, लड़कपन से जितने बड़े बड़े काम किये थे उन सब का स्मरण करके, ईख के खेतों की मेंड़ पर छाया में बैठी हुई धान रखाने वाली स्त्रियों तक ने उसका यश गाया।

परन्तु, संसार में सब लोग एक से नहीं होते। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनसे दूसरों का वैभव नहीं देखा जाता। उस समय कुछ राजाओं का स्वभाव इसी तरह का था। रघु का बढ़ता हुआ प्रताप और पराक्रम उन्हें असह्य था। उन्होंने सोचा कि अब हमारा पराभव हुए बिना न रहेगा। अतएव वे रघु से द्वेष रखने लगे। ऋतु उस समय शरद् थी। इस कारण उधर आकाश में महा-प्रतापी अगस्त्य ऋषि का उदय होने से पृथ्वी का जल-समुदाय तो निर्मल हो गया; पर, इधर इन ईर्षालु राजाओं का मन रघु रघु के प्रतापोदय से क्षुब्ध होकर गँदला हो उठा।

उस समय ऊँची ऊँची लाठ वाले मदोन्मत्त बैलों को अपने सींगों से नदियों के तट खोदते देख, यह जान पड़ता था कि बड़े बड़े पराक्रम के कामों को भी खेल सा समझ कर उन्हें कर दिखाने वाले रघु की वे होड़ सी कर रहे हैं।

सप्तपर्ण नाम के वृक्षों के फूलों से वैसी ही सुगन्धि आती है जैसी कि हाथी की कनपटी से बहने वाले मद से आती है। अतएव, राजा रघु के हाथी जिस समय इन वृक्षों के नीचे से निकलते थे और इनके फूल उनके ऊपर गिरते थे उस समय वे क्षुब्ध हो उठते थे। उन्हें ईर्षा सी होती थी। वे मनही मन यह सोचने से लगते थे कि ऐसी सुगन्धि वाला हमारे सिवा और कौन है? मानो, इसी से वे अपने केवल मस्तकही से नहीं, किन्तु सातों अङ्गों से मद की धारा बहाने लगते थे।

अभी तक रघु ने विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करने का विचारही न किया था—उसके मन में अभी तक इस विषय की उत्साह-शक्तिही न उत्पन्न हुई थी । इतने में नदियों को उतरने योग्य बना कर और मार्ग को सुखा कर, उसके मन में इस बात के आने के पहले ही, शरद् ऋतु ने उसे यात्रा के लिए, प्रेरित सा कर दिया । उसने सूचना सी दी कि अब यात्रा करने का समय आ गया ।

सब तरह की अनुकूलता जान कर रघु, प्रस्थान करने के लिए, उद्यत हो गया । वाजि-नीराजना नामक घोड़ा पूजने की विधि उसने आरम्भ कर दी । बड़ा भारी हवन हुआ । उसकी आहुतियों को अग्नि देवता ने अपनी दक्षिणगामिनी लपट से ग्रहण किया । इस बहाने अग्नि ने अपना दाहना हाथ उठा कर रघु से मानो यह कहा कि इस यात्रा में तेरी अवश्यही जीत होगी । इस अनुष्ठान का आरम्भ होने के पहले ही राजा रघु अपनी राजधानी और राज्य की सीमा वाले अपने क़िलों आदि की रक्षा का प्रबन्ध कर चुका था । उसके पृष्ठभागवाले सारे शत्रुओं का संहार भी, तब तक, उसकी सेना कर चुकी थी । इस प्रकार सर्व-सिद्धता हो चुकने पर, छः प्रकार की सेना साथ लेकर, दिग्विजय के लिए उस भाग्यशाली ने नगर से प्रस्थान किया । मन्थन करते समय, क्षीर-सागर की लहरों ने, जिस तरह, विष्णु भगवान् पर, मन्दराचल-पर्वत के घूमने से ऊपर को उड़े हुए अपने कण बरसाये थे, उसी तरह, बूढ़ी बूढ़ी पुरवासिनी स्त्रियों ने, प्रस्थान के समय, रघु पर खीलें बरसाईं ।

राजा रघु के रथों के पहियों से ऊपर को उड़ी हुई धूल ने आकाश को बिलकुल ही आच्छादित कर लिया । इससे वह पृथ्वी सा मालूम होने लगा । और, उसके काले काले हाथियों के ताँतातोर ने, पृथ्वी पर, मेघों की घटा को मात कर दिया । इससे वह आकाश के सदृश मालूम होने लगी । आकाश तो पृथ्वी सा हो गया और पृथ्वी आकाश सी !

इन्द्र-तुल्य पराक्रमी रघु, दिग्विजय के लिए, पहले पूर्व दिशा की ओर चला । उस समय, मार्ग में, हवा से उसके रथों की ध्वजाओं को फहराते देख यह जान पड़ने लगा कि वह उन पताकाओं को इस तरह हिला हिला कर अपने शत्रुओं को भयभीत सा कर रहा है । उसके प्रयाण करने पर

सब के आगे तो लोगों को उसका प्रताप—उसका यश—विदित हुआ; उसके पीछे उसकी सेना का तुमुल नाद सुनाई पड़ा; उसके अनन्तर आकाश में छाई हुई धूल देख पड़ी; और सब के पीछे रथ, हाथी, घोड़े, पैदल आदि दिखाई दिये। इससे यह भासित होने लगा कि वह सेना चार भागों में बँटी हुई, अर्थात् चतुरङ्गिनी, सी है। रघु की प्रचण्ड सेना ने निर्जल मरुस्थलों को सजल कर दिया—मार्ग में यदि उसे कोई ऐसा प्रदेश मिला जहाँ पानी की कमी थी तो उसने तत्काल ही कुंवे आदि खुदा कर उसे जलमय कर डाला। विना नाव के और किसी तरह पार न की जाने योग्य बड़ी बड़ी नदियों पर उसने पुल बँधवा कर पैरों से ही चल कर पार की जाने योग्य कर दिया। मार्ग में भयङ्कर वनों के आ जाने पर उन्हें कटा कर उसने मैदान कर दिया। बात यह कि रसके पास इतनी सेना थी और वह इतना शक्तिसम्पन्न था कि कोई प्रदेश और कोई स्थान ऐसा न था जो उसके लिए अगम्य होता। अपनी अनन्त सेना को पूर्वी समुद्र की तरफ़ ले जानेवाला वह राजा, शङ्कर के जटाजूट से छूटी हुई गङ्गा को ले जाने वाले भगीरथ के समान, मालूम होने लगा। वन के भीतर प्रविष्ट हुआ हाथी जिस तरह कुछ वृक्षों के फल ज़मीन पर गिराता, कुछ को जड़ से उखाड़ता और कुछ को तोड़ता ताड़ता आगे बढ़ता चला जाता है उसी तरह राजा रघु भी कुछ राजाओं से दण्ड लेता, कुछ को पदच्युत करता और कुछ को युद्ध में हराता—अपना मार्ग निष्कण्टक करता हुआ बराबर आगे चला गया।

इस प्रकार, पूर्व के कितने ही देशों को दबाता हुआ वह विजयी राजा, ताड़-वृक्षों के वनों की अधिकता के कारण श्यामल देख पड़नेवाले महासागर के तट तक जा पहुँचा। वहाँ सुह्म देश (पश्चिमी बङ्गाल) के राजा ने, वेतस-वृत्ति धारण करके, सारे उद्धत राजाओं को उखाड़ फेंकनेवाले रघु से अपनी जान बचाई। वेत के वृक्ष जिस तरह नम्र होकर—झुक कर—नदी के वेग से अपनी रक्षा करते हैं उसी तरह सुह्म-नरेश ने भी नम्रता दिखा कर—अधीनता स्वीकार करके—रघु से अपनी रक्षा की। सुह्म देशवालों के इस उदाहरण से वङ्ग-देश के राजाओं ने लाभ न उठाया। उन्हें इस बात का गर्व था कि हमारे पास जल-सेना बहुत है। लड़ाकू जहाज़ों

और बड़ी बड़ी नावों पर सवार होकर जिस समय हम लोग लड़ेंगे उस समय रघु की कुछ न चलेगी। जलयुद्ध में हम लोग रघु की अपेक्षा अधिक प्रवीण हैं। परन्तु यह उनकी भूल थी। रघु बड़ाही प्रवीण सेनानायक था। उसने उन सबको परास्त करके बलपूर्व्वक उखाड़ फेंका और गङ्गा-प्रवाह के भीतर टापुओं में कितने ही विजय-स्तम्भ गाड़ दिये। परास्त किये जाते पर वे वङ्गदेशीय नरेश होश में आये और रघु के पैरों पर जाकर गिरे। शरण आने पर रघु ने उनका राज्य उन्हें लौटा दिया—उन्हें फिर राज्यारूढ़ कर दिया। उस समय वे नरेश जड़ तक झुके हुए धान के उन पौधों की उपमा को पहुँचे जो उखाड़ कर फिर लगा दिये जाते हैं। जैसे इस तरह लगाये हुए पौधे और भी अधिक फल देते हैं—और भी अधिक धान उत्पन्न करते हैं—उसी तरह उन वङ्ग-नरेशों ने भी, राज्यचुत होकर राज्यारूढ़ होने पर, रघु को और भी अधिक धन-धान्य देकर उसे प्रसन्न किया।

इसके अनन्तर राजा रघु ने कपिशा (रूपनारायण) नदी पर हाथियों का पुल बाँध कर सेनासहित उसे पार किया। उत्कलदेश (उड़ीसा) में उसके पहुँचते ही वहाँ के शासक राजाओं ने उसकी शरण ली। अतएव उनसे युद्ध करने की आवश्यकता न पड़ी। कलिङ्गदेश की सीमा उत्कल से मिली ही हुई थी। इस कारण उत्कलवाले वहाँ का मार्ग अच्छी तरह जानते थे। उन्हीं के बताये हुए मार्ग से रघु, शीघ्र ही, कलिङ्गदेश के पास जा पहुँचा।

कलिङ्ग की सीमा के भीतर घुस कर, उसने महेन्द्र-पर्व्वत (पूर्व्वी घाट) के शिखर पर अपने असह्य प्रताप का झण्डा इस तरह गाड़ दिया जिस तरह कि पीड़ा की परवा न करनेवाले उन्मत्त हाथी के मस्तक पर महावत अपना तीक्ष्ण अंकुश गाड़ देता है। रघु के आने का समाचार सुनते ही कलिङ्ग-देश का राजा, बहुत से हाथी लेकर, उससे लड़ने के लिए आया। अपने वज्र के प्रहार से पर्व्वतों के पंख काटने के लिए जिस समय इन्द्र तैयार हुआ था उस समय पर्वतों ने जिस तरह इन्द्र पर पत्थर बरसाये थे उसी तरह कलिङ्ग-नरेश और उसके सैनिक भी रघु पर शस्त्रास्त्र बरसाने लगे। परन्तु वैरियों की बाणवर्षा को झेल कर रघु ने उन्हें लोहे के चने चबवाये। जीत उसी की रही। विजय-लक्ष्मी उसी के गले पड़ी। उस समय वह मङ्गल-

स्नान किया हुआ सा—जीत के उपलक्ष्य में यथाशास्त्र अभिषिक्त हुआ सा—मालूम होने लगा। उसके योद्धाओं ने इस जीत की बेहद ख़ुशी मनाई। उन्होंने, समीपवर्त्ती महेन्द्र-पर्व्वत के ऊपर, मद्य-पान करने की ठानी। इस निमित्त उन्होंने एक स्थान को सजा कर उसे ख़ूब रमणीय बनाया। फिर वहीं एकत्र होकर, सबने, बड़े बड़े पान पत्तों के दोनों में, नारियल का मद्य पिया। इतना ही नहीं, किन्तु साथ ही उन्होंने अपने शत्रुओं का यश भी पान कर लिया। राजा रघु धर्म्मविजयी था। दूसरों के राज्य छीन कर उन्हें मार डालना उसे अभीष्ट न था। क्षत्रियों के धर्म्म के अनुसार, केवल विजय-प्राप्ति के लिए ही, उसने युद्ध-यात्रा की थी। इससे उसने कलिङ्ग-देश के राजा को पकड़ तो लिया, पर पीछे से उसे छोड़ दिया। उसकी सम्पत्ति मात्र उसने ले ली; राज्य उसका उसी को लौटा दिया।

इस प्रकार पूर्व-दिशा के राजाओं को जीत कर रघु ने, समुद्र के किनारे ही किनारे, दक्षिणी देशों की तरफ़ प्रस्थान किया। कुछ दिन बाद, बिना यत्न और इच्छा के ही विजय पानेवाला वह विजयी राजा, फलों से लदे हुए सुपारी के वृक्षों से परिपूर्ण मार्ग से चल कर, कावेरी-नदी के तट पर जा पहुँचा। वहाँ, हाथियों के गण्डस्थल से निकले हुए मद से सुगन्धित हुए उसके सैन्य ने उस नदी में जी खोल कर जलविहार किया। रघु ने उसे, इस प्रकार, क्रीड़ा करने की आज्ञा देकर, नदीनाथ समुद्र को, कावेरी के सतीत्वसम्बन्ध में, सन्देहयुक्त सा कर दिया। समुद्र के मन में, उस समय, यह शङ्का सी होने लगी कि मुझे छोड़ कर, क्या यह कावेरी अब सदा रघु के सैन्य-समुदाय ही का उपभोग करती रहेगी?

बहुत दूर तक चलने के अनन्तर उस विजयशील राजा की सेना मलयाचल के पास पहुँच गई। वहाँ उसने देखा कि पर्वत की तराई मिर्च के वृक्षों से परिपूर्ण है और चारों तरफ़ हरियल पक्षी कलोलें कर रहे हैं। अतएव उस स्थान को बहुत ही रम्य और सुभीते का समझ कर रघु ने वहीं अपनी सेना को डेरे लगाने की आज्ञा दे दी। इस तराई में इलायची के वृक्षों की भी अधिकता थी। ढेरों इलायची उनके नीचे ज़मीन पर पड़ी थी। रघु के घोड़ों की टापों से वह चूर्ण हो गई। अतएव उसके दानों की रज उड़ उड़ कर मतवाले हाथियों पर जा गिरी और उनके मस्तकों से अपनी ही

सी सुगन्धि उड़ती देख वहीं चिपिट रही। उसने कहा—इस मद की और अपनी सुगन्धि में समता है। इससे हम दोनों की ख़ूब पटेगी। आवो यहीं रह जायँ।

जो हाथी अपने पैरों में पड़ी हुई मोटी मोटी ज़ंजीरें भी सहज ही में तोड़ डालते थे उन्हीं को रघु के महावतों ने मलयाचल के चन्दन-वृक्षों से बाँध दिया। और बाँधा किस चीज़ से? उनके गले में पड़ी हुई मामूली रस्सियों से। इस पर भी वे हाथी चुपचाप बँधे खड़े रहे। उन्होंने बन्धन की रस्सी को खिसकाने का प्रयत्न तक न किया। बात यह थी कि साँपों के लिपटने से चन्दन-वृक्षों पर जहाँ जहाँ चिह्न हो गये थे—जहाँ जहाँ छाल घिस गई थी—वहीं वहीं महावतों ने मज़बूती के साथ रस्सियाँ बांध दी थीं। इससे, और चन्दन की सुगन्धि से मोहित हो जाने से भी, हाथी अपनी जगह से नहीं हिल सके।

दक्षिणायन होने पर सूर्य्य का प्रचण्ड तेज भी जिस दिशा में मन्द पड़ जाता है उसी दिशा में सेना-सहित उतरनेवाले रघु का प्रताप मन्द होने के बदले अधिक तीव्र हो गया। इससे दक्षिण के पाण्डुदेश-वासी राजा उसे न सह सके। जहाँ पर ताम्रपर्णी नदी समुद्र में गिरी है वहीं से निकाले गये बड़े बड़े अनमोल मोती ला लाकर नम्रता-पूर्वक उन्होंने रघु को अर्पण किये। उन्होंने यह मोतियों का उपहार क्या दिया, बहुत दिनों का सञ्चित किया हुआ अपना यश ही उसे दे सा डाला।

चन्दन के वृक्षों से व्याप्त मलय और दर्दुर (पश्चिमीघाट) नाम के दक्षिणदेशवर्त्ती पर्वतों पर मनमाना विहार करके महापराक्रमी रघु ने वहाँ से भी प्रस्थान कर दिया। वहाँ से चल कर वह पृथ्वी के नितम्ब-भाग की समता करने वाले और समुद्र से बहुत दूर रहने वाले सह्याद्रि पर्वत पर जा पहुँचा और उसे भी पार कर गया। उस समय, पश्चिमी देशों के राजाओं का पराभव करने के लिए चलती हुई राजा रघु की सेना सह्याद्रि पर्वत से लेकर समुद्र के किनारे तक फैली हुई थी। इस कारण, परशुराम के बाणों ने यद्यपि समुद्र को सह्याद्रि से बहुत दूर पीछे हटा दिया था, तथापि उस असंख्य सेना के संयोग से ऐसा मालूम होता था कि फिर भी

समुद्र ठेठ सह्याद्रि तक आ गया है । रघु का सेना-समूह, समुद्र की तरह, सह्याद्रि तक फैला हुआ था ।

सेना के सह्याद्रि पार कर जाने पर राजा रघु ने केरलदेश पर चढ़ाई की । अतएव वहाँ के निवासी अत्यन्त भयभीत हो उठे । स्त्रियों ने तो मारे डर के अपने आभूषण तक शरीर से उतार कर फेंक दिये । यद्यपि उन्होंने अपने शरीर को भूषण-रहित कर दिया तथापि रघु की बदौलत उन्हें एक आभूषण अवश्य ही धारण करना पड़ा । वह आभूषण रघु की सेना के चलने से उड़ी हुई धूल थी । वह धूल उन स्त्रियों की कुमकुम-रहित अलकों पर जा गिरी और कुमकुम की जगह छीन ली । अतएव जहाँ वे कुमकुम लगाती थीं वहाँ उन्हें रेणु धारण करनी पड़ी ।

उस समय मुरला नामक नदी के ऊपर से आई हुई वायु ने केतकी के फूलों का पराग चारों तरफ़ इतना उड़ाया कि रघु के सेना-समूह पर उसकी वृष्टि सी होने लगी । अतएव विना किसी परिश्रम या प्रयत्न के ही उस पराग ने रघु के योद्धाओं के कवचों पर गिर कर उन्हें सुगन्धि-युक्त कर दिया । सुगन्धित उबटन की तरह वह कवचों पर लिपट रहा ।

रघु की सेना के घोड़ों पर पड़े हुए कवचों से, चलते समय, ऐसी गम्भीर ध्वनि होती थी कि पवन के हिलाये हुए ताड़-वृक्षों के वनों से निकली हुई ध्वनि उसमें बिलकुल ही डूब सी जाती थी—वह सुनाई ही न पड़ती थी ।

पड़ाव पड़ जाने पर रघु के हाथी खजूर के पेड़ों की पेड़ियों से बाँध दिये जाते थे । उस समय उनके मस्तकों से निकले हुए मद की सुगन्धि दूर दूर तक फैल जाती थी । इससे नागकेसर के पेड़ों पर गूँजते हुए भौंरे उन पेड़ों की सुगन्धि को कुछ न समझ कर, हाथियों के मस्तकों पर उड़ उड़ कर आ बैठते थे ।

सुनते हैं, बहुत प्रार्थना करने और दबाव डाले जाने पर, समुद्र ने, पीछे हट कर, परशुराम के लिए थोड़ी सी भूमि दे दी थी । परन्तु, राजा रघु को उसने, अपने पश्चिमी तट पर राज्य करने वाले राजाओं के द्वारा, कर तक दे दिया । यह सच है कि रघु को राजाओं के हाथ से ही कर मिला । परन्तु यह एक बहाना मात्र था । यथार्थ में उस कर-दान का प्रेरक

समुद्र ही था। इससे सिद्ध है कि उसने रघु को परशुराम की भी अपेक्षा अधिक पराक्रमी समझा। वहाँ पर राजा रघु के मत्त हाथियों ने अपने दाँतों के प्रहार से त्रिकूट पर्वत के शिखरों को तोड़ फोड़ कर रघु के प्रबल पराक्रम के सूचक और चिरकालस्थायी चिह्न से कर दिये। इससे रघु ने विजय-सूचक स्तम्भ स्थापित न करके उस तोड़े फोड़े पर्वत ही को अपना जय-स्तम्भ समझा, और, और स्थानों में जैसी लाटें उसने गाड़ी थीं वैसी ही लाटें वहाँ गाड़ना उसने अनावश्यक समझा।

इसके अनन्तर रघु ने फ़ारिस पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतने के लिए तत्वज्ञान-रूपी मार्ग से जानेवाले योगी की तरह उसने फ़ारिस के राजाओं को जीतने के लिए थल की राह से प्रयाण किया।

प्रात:कालीन कोमल धूप कमलों को बहुत ही सुखदायक होती है। परन्तु कुसमय में ही उठने वाले मेघों को वह जैसे सहन नहीं होती, वैसे ही यवन-स्त्रियों के मुख-कमलों पर मद्यपान से उत्पन्न हुई लाली राजा रघु को सहन न हुई। इस कारण युद्ध में उनके पतियों का पराभव करके उस लालिमा को उसने नष्ट कर दिया। यवन-राजाओं के पास सवारों की सेना बहुत अधिक थी। इससे उनका बल बेहद बढ़ा हुआ था। परन्तु रघु इससे ज़रा भी सशङ्क न हुआ। उसने उन लोगों के साथ ऐसा घन-घोर युद्ध किया कि धरती और आसमान धूल से व्याप्त हो गये। हाथ मारा न सूझने लगा। उस समय धनुष की डोरियों की टङ्कार सुन कर ही सैनिक लोग अपने अपने पक्ष के योद्धाओं को पहचानने में समर्थ हुए। यदि प्रत्यञ्चाओं का शब्द न सुनाई पड़ता तो शत्रु-मित्र का ज्ञान होना असम्भव हो जाता। उस युद्ध में राजा रघु ने अपने भल्ल-नामक बाणों से यवनों के बड़े बड़े डढ़ियल सिरों को काट कर—शहद की मक्खियों से भरे हुए छत्तों की तरह—ज़मीन पर बिछा दिया। जो यवन मारे जाने से बचे वे अपनी अपनी पगड़ियाँ उतार कर रघु की शरण आये। यह उन्होंने उचित ही किया। महात्माओं का कोप उनकी शरण आने और उनके सामने सिर झुकाने ही से जाता है। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके राजा रघु के योद्धाओं ने, अङ्गूर की बेलों के मण्डपों में,

ज़मीन पर अच्छे अच्छे मृग-चर्म बिछा कर, आनन्द से द्राक्षासव का पान किया। इससे उनकी युद्ध-सम्बन्धिनी सारी थकावट जाती रही।

पश्चिमी देशों के यवन-राजाओं का अच्छी तरह पराभव करके रघु की सेना ने उन देशों से भी डेरे उठा दिये। दक्षिणायन समाप्त होते ही जिस तरह भगवान् सूर्य-नारायण अपनी प्रखर किरणों से उत्तर दिशा के जल-समूह को खींच लेने के लिए उस तरफ़ जाते हैं, उसी तरह कुवेर की अधिष्ठित उस उत्तर दिशा में रहने वाले राजाओं को अपने तीव्र वाणों से छेद कर, उनका उन्मूलन करने के लिए, राजा रघु ने अपनी सेना को चलने की आज्ञा दी। मार्ग में उसे सिन्धु नदी पार करनी पड़ी। वहाँ, थकावट दूर करने के लिए, उसके घोड़ों ने नदी के तट पर ख़ूब लोटें लगाईं। उस प्रदेश में केसर अधिक होने के कारण नदी के तट केसर के तन्तुओं से परिपूर्ण थे। वे तन्तु घोड़ों की गर्दनों के वालों में वेतरह लग गये। अतएव अपनी गर्दनें वड़े ज़ोर ज़ोर से हिला कर घोड़ों को वे तन्तु गिराने पड़े।

उत्तर दिशा में अपना अपूर्व पराक्रम दिखला कर रघु ने सारे हूण-राजाओं का पराभव कर दिया। युद्ध में पतियों के मारे जाने से उन राजाओं की रानियों ने, देश की रीति के अनुसार, वहुत सिर पीटा और वहुत रोईं। इससे उनके कपोल लाल हो गये। यह लालिमा क्या थी, राजा रघु के वल-विक्रम ने उन अन्तःपुर-निवासिनी स्त्रियों के कपोलों पर अपने चिह्न से कर दिये थे।

इसके अनन्तर रघु ने काम्वोजदेश पर चढ़ाई की। वहाँ के राजा उसके प्रखर प्रताप को न सह सके। अख़रोट के पेड़ों की पेड़ियों से वाँधे जाने से रघु के हाथियों ने जैसे उन्हें झुका दिया था वैसे ही रघु के प्रवल पराक्रम ने उन राजाओं को भी झुका कर छोड़ा। रघु की शरण आ आकर किसी तरह उन्होंने अपने प्राण वचाये। परास्त हुए काम्वोज-देशीय राजा, अपने यहाँ के उत्तमोत्तम घोड़ों पर सोना लाद लाद कर, रघु के पास उपस्थित हुए। ऐसी वहुमूल्य भेंटें पाकर भी रघु ने गर्व को अपने पास नहीं फटकने दिया। उसे उसने दूर ही रक्खा।

अव उसने हिमालय पर्वत पर चढ़ जाने का निश्चय किया। और

सेना को तो उसने नीचे ही छोड़ा, केवल अश्वारोही सेना लेकर उसने वहाँ से प्रस्थान किया। जिस रास्ते से उसे जाना था उसमें गेरू आदि धातुओं की बड़ी अधिकता थी। इसी कारण उसके घोड़ों की टापों से उड़ी हुई उन धातुओं की धूल से हिमालय के शिखर व्याप्त हो गये। उस समय उस धूल के उड़ने से ऐसा मालूम होने लगा जैसे पहले की अपेक्षा उन शिखरों की उँचाई बढ़ सी रही हो। राजा रघु की सेना का कोलाहल-शब्द हिमालय की गुफ़ाओं तक के भीतर पहुँच गया। उसे सुन कर वहाँ सोये हुए सिंह जाग पड़े और अपनी गर्दनें मोड़ मोड़ कर पीछे की तरफ़ देखने लगे। रघु के घोड़ों को देख कर उन्होंने यह समझा कि वे हम लोगों से विशेष बलवान् नहीं; हमारी ही बराबरी के हैं। अतएव उनसे डरने का कोई कारण नहीं। उनके मन में उत्पन्न हुए ये विचार उनकी बाहरी चेष्टाओं से साफ़ साफ़ झलकने लगे।

भोजपत्रों में लग कर खर-खर शब्द करने वाली, बाँसों के छेदों में घुस कर कर्ण-मधुर-ध्वनि उत्पन्न करने वाली, और गङ्गा के प्रवाह को छू कर आने के कारण शीतलता साथ लाने वाली वायु ने, मार्ग में, राजा रघु की ख़ूब ही सेवा की। पर्व्वत के ऊपर चलने वाली उस शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन ने रघु के मार्ग-श्रम का बहुत कुछ परिहार कर दिया। हिमालय पर सुरपुन्नाग, अर्थात् देवकेसर, के वृक्षों की बड़ी अधिकता है। उन्हीं के नीचे पत्थरों की शिलाओं पर कस्तूरी-मृग बैठा करते हैं। इससे वे शिलायें कस्तूरी की सुगन्धि से सुगन्धित रहती हैं। उन्हीं शिलाओं पर रघु की सेना ने विश्राम करके अपनी थकावट दूर की। वहाँ पर रघु के हाथी देवदारु के पेड़ों से बाँध दिये गये। उस समय हाथियों की गर्दनों पर पड़ी हुई चमकीली ज़ञ्जीरों पर, आस पास उगी हुई जड़ी-बूटियाँ प्रतिबिम्बित होने लगीं। इससे वे ज़ञ्जीरें देदीप्यमान हो उठीं—उनसे प्रकाश का पुञ्ज निकलने लगा। इस कारण उन ओषधियों ने उस अपूर्व्व सेनानायक रघु के लिए बिना तेल की मशालों का काम दिया।

कुछ समय तक विश्राम करने के अनन्तर, रघु ने उस स्थान को भी छोड़ कर आगे का रास्ता लिया। उसके चले जाने पर पर्व्वत-वासी किरात लोग वह जगह देखने आये जहाँ पर, कुछ देर पहले, सेना के डेरे लगे थे।

आने पर उन्होंने देखा कि जिन देवदारु-वृक्षों से रघु के हाथी बाँधे गये थे उनकी छाल, हाथियों के कण्ठों की रस्सियों और ज़ञ्जीरों की रगड़ से, कट गई है। उस कटी और रगड़ी हुई छाल को देख कर उन्होंने रघु के हाथियों की ऊँचाई का अन्दाज़ा लगाया।

हिमालय पर्व्वत पर उत्सव-सङ्केत नामक पहाड़ी राजाओं के साथ रघु का बड़ा ही भयङ्कर युद्ध हुआ। रघु की सेना के द्वारा छोड़े गये विषम बाण, और उन राजाओं की सेना के द्वारा गोफन में रख कर फेंके गये पत्थर, परस्पर इतने ज़ोर से टकराये कि उनसे आग निकलने लगी। रघु ने अपने भीषण बाणों की वर्षा से उन राजाओं के युद्ध-सम्बन्धी सारे उत्साह का नाश कर दिया। उनके गर्व को चूर्ण कर के रघु ने अपने भुज-बल की बदौलत प्राप्त हुए जयरूपी यश के गीत किन्नरों तक से गवा कर छोड़े। किन्नरों तक ने उसे शाबाशी दी—उन्होंने भी उसका यशोगान कर के उसे प्रसन्न किया। फिर, उन परास्त हुए पहाड़ी राजाओं का क्या कहना। उन्होंने तो अपरिमित धन-सम्पत्ति देकर रघु को प्रसन्न किया। अनमोल रत्नों से अपनी अपनी अँजुलियाँ भर भर कर वे रघु के सामने उपस्थित हुए। उनकी उन भेटों को देखने पर राजा रघु को मालूम हुआ कि हिमालय कितना सम्पत्तिशाली है। साथ ही, हिमालय को भी मालूम हो गया कि रघु कितना पराक्रमी है। रघु के पहले कोई भी अन्य राजा हिमालय के इन पहाड़ी राजाओं का पराभव न कर सका था। इसीसे किसी को इस बात का पता न था कि इनके पास इतनी सम्पत्ति होगी।

वहाँ पर अपनी अखण्ड कीर्ति स्थापित करके, रावण के द्वारा एक दफ़े स्थानभ्रष्ट किये गये कैलास-पर्व्वत को लज्जित सा करता हुआ, राजा रघु हिमालय-पर्व्वत से नीचे उतर पड़ा। उसने और आगे जाने की आवश्यकताही न समझी। एक दफ़े परास्त किये गये शत्रु के साथ शूर पुरुष फिर युद्ध नहीं करते; और, कैलास का पराभव रावण के हाथ से पहले ही हो चुका था। अतएव, उस पर फिर चढ़ाई करना रघु ने मुनासिब न समझा। यही सोच कर वह हिमालय के ऊपर से ही लौट पड़ा; आगे नहीं बढ़ा।

वहाँ से राजा रघु ने पूर्व्व-दिशा की ओर प्रस्थान किया और लौहित्या

(ब्रह्मपुत्रा) नामक नदी को पार करके प्राग्ज्योतिष-देश (आसाम) पर अपनी सेना चढ़ा ले गया। उस देश में कालागुरु के वृक्षों की बहुत अधिकता है। राजा रघु के महावतों ने उन्हीं से अपने हाथियों को बाँध दिया। इससे, हाथियों के झटकों से इधर वे वृक्ष थर्राने लगे, उधर प्राग्ज्योतिष का राजा भी रघु के डर से थर थर काँपने लगा।

राजा रघु के रथों के दौड़ने से इतनी धूल उड़ी कि सूर्य्य छिप गया और आसमान में मेघों का कहीं नामो निशान न होने तथा पानी का एक बूँद तक न गिरने पर भी सर्वत्र अन्धकार छा गया—महा दुर्दिन सा हो गया। यह दशा देख प्राग्ज्योतिष का राजा बेतरह घबरा उठा। वह रघु के रथ-मार्ग की धूल का घटाटोप ही न सह सका, पताका उड़ाती हुई उसकी सेना का धावा उस बेचारे से कैसे सहा जाता?

कामरूप का राजा बड़ा बली था। उसकी सेना में अनेक मतवाले हाथी थे। उनके कारण अब तक वह किसी को कुछ न समझता था। हाथियों की सहायता से वह कितनेही राजाओं को परास्त भी कर चुका था। परन्तु इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी रघु का मुक़ाबला करने के लिए उसके भी साहस ने जवाब दिया। अतएव जिन मत्त हाथियों से उसने अन्यान्य राजाओं को हराया था उन्हीं को रघु की भेंट करके उसने अपनी जान बचाई। वह रघु की शरण गया और उसके चरणों की कान्ति-रूपिणी छाया को, उसके सुवर्णमय सिंहासन की अधिष्ठात्री देवी समझ कर, रत्नरूपी फूलों से उसकी पूजा की—रघु को रत्नों की ढेरी नज़र करके उसकी अधीनता स्वीकार की।

इस प्रकार दिग्विजय कर चुकने पर, अपने रथों की उड़ाई हुई धूल को छत्ररहित किये गये राजाओं के मुकुटों पर डालता हुआ, वह विजयी राजा लौट पड़ा। राजधानी में सकुशल पहुँच कर उसने उस विश्वजित् नामक यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया जिसकी दक्षिणा में यजमान को अपना सर्व्वस्व दे डालना पड़ता है। उसे ऐसाही करना मुनासिब भी था। क्योंकि, समुद्र से जल का आकर्षण करके जिस तरह मेघ उसे फिर पृथ्वी पर बरसा देते हैं, उसी तरह सत्पुरुष भी सम्पत्ति का

सञ्चय कर के उसे फिर सत्पात्रों को दे डालते हैं। दान करने ही के लिए वे धन इकट्ठा करते हैं, रख छोड़ने के लिए नहीं।

ककुत्स्थ के वंशज राजा रघु ने जिन राजाओं को युद्ध में परास्त किया था उन्हें भी वह अपने साथ अपनी राजधानी को लेता आया था; क्योंकि उसे विश्वजित्-यज्ञ करना था और यज्ञ के समय उनका उपस्थित रहना आवश्यक था। यज्ञ के समाप्त हो जाने पर उनको रोक रखना उसने व्यर्थ समझा। उधर वियोग के कारण उनकी रानियाँ भी उनके लौटने की राह उत्कण्ठापूर्वक देख रही थीं। अतएव अपने मन्त्रियों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने और सब का सुख-दुःख जानने वाले रघु ने, उन सारे राजाओं का अच्छा सत्कार कर के, उनके पराजय-सम्बन्धी दुःख को बहुत कुछ दूर कर दिया। तदनन्तर बड़े बड़े पुरस्कार देकर रघु ने उन्हें अपने अपने घर लौट जाने की आज्ञा दी। तब ध्वजा, वज्र और छत्र की रेखाओं से चिह्नित, और बड़े भाग्य से प्राप्त होने योग्य, चक्रवर्ती रघु के चरणों पर अपने अपने सिर रख कर उन राजाओं ने वहाँ से प्रस्थान किया। उस समय उनके मुकुटों पर गुँथे हुए फूलों की मालाओं के मकरन्द-कणों ने गिर कर रघु की अँगुलियों को गौर-वर्ण कर दिया।

पाँचवाँ सर्ग।

—:o:—

अज का जन्म और इन्दुमती के स्वयंवर में जाना।

राजा रघु के राज्य में वरतन्तु नाम के एक ऋषि थे। वे बड़े विद्वान्, बड़े महात्मा और बड़े तपस्वी थे। उनका आश्रम एक वन में था। सैकड़ों ब्रह्मचारियों का वे पालन-पोषण भी करते थे और उन्हें पढ़ाते भी थे। उनमें कौत्स नाम का एक ब्रह्मचारी था। उसका विद्याध्ययन जब समाप्त हो गया तब महात्मा वरतन्तु ने उसे घर जाने की आज्ञा दी। उस समय कौत्स ने आचार्य्य वरतन्तु को गुरु-दक्षिणा देनी चाही। अतएव, दक्षिणा के लिए धन माँगने की इच्छा से, वह राजा रघु के पास आया। परन्तु, उस समय, राजा रघु महानिर्धन हो रहा था; क्योंकि विश्वजित् नामक यज्ञ में उसने अपनी सारी सम्पत्ति खर्च कर डाली थी। अतएव, उसके खज़ाने में एक फूटी कौड़ी भी न थी। सोने और चाँदी के पात्रों की तो बात ही नहीं, पीतल के भी पात्र उसके पास न थे। पानी पीने और भोज्यपदार्थ रखने के लिए उसके पास मिट्टी ही के दो चार पात्र थे। वे पात्र यद्यपि चमकदार न थे, तथापि रघु का शरीर उसके अत्यन्त उज्ज्वल यश से ख़ूब चमक रहा था। शीलनिधान भी वह एक ही था। अतिथियों का—विशेष करके विद्वान् अतिथियों का—सत्कार करना वह अपना परम कर्तव्य समझता था। इस कारण जब उसने उस वेद-शास्त्र-सम्पन्न कौत्स के आने की ख़बर सुनी तब उन्हीं मिट्टी के पात्रों में अर्घ्य और पूजा की सामग्री लेकर वह उठ खड़ा हुआ। उठाही नहीं, वह उठ कर कुछ दूर तक गया भी, और उस तपोधनी अतिथि को अपने साथ लिवा लाया। यद्यपि रघु उस समय सुवर्ण-सम्पत्ति से धनवान् न था, तथापि मानरूपी धन को भी जो लोग धन समझते हैं उनमें वह सबसे बढ़ चढ़ कर था। महा-मानधनी होने पर भी रघु ने उस तपोधनी ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की। विद्या और तप

के धन को उसने और सब धनों से बढ़ कर समझा। चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु का अभ्यागत के आदरातिथ्य की क्रिया अच्छी तरह मालूम थी। अपने इस क्रिया-ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया। जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया तब रघु ने हाथ जोड़ कर, बहुत ही नम्रता-पूर्वक, उससे कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया। वह बोला:—

"हे कुशाग्रबुद्धे! कहिए, आप के गुरुवर तो अच्छे हैं? मैं उन्हें सर्वदर्शी महात्मा समझता हूँ। जिन ऋषियों ने वेद-मन्त्रों की रचना की है उनमें उनका आसन सब से ऊँचा है। मन्त्र-कर्ताओं में वे सबसे श्रेष्ठ हैं। जिस तरह सूर्य्य से प्रकाश प्राप्त होने पर, यह सारा जगत्, प्रातःकाल, सोते से जग उठता है, ठीक उसी तरह, आप अपने पूजनीय गुरु से समस्त ज्ञान-राशि प्राप्त करके और अपने अज्ञानजन्य अन्धकार को दूर करके जाग से उठे हैं। एक तो आपकी बुद्धि स्वभाव ही से कुश की नोक के समान तीव्र; फिर महर्षि वरतन्तु से अशेष ज्ञान की प्राप्ति। क्या कहना है!

"हाँ, महाराज, यह तो कहिए—आपके विद्यागुरु वरतन्तुजी की तपस्या का क्या हाल है? उनके तपश्चरण के बाधक कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं; विघ्नों के कारण तपश्चर्य्या को कुछ हानि तो नहीं पहुँचती। महर्षि बड़ा ही घोर तप कर रहे हैं। उनका तप एक प्रकार का नहीं, तीन प्रकार का है। कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों से शरीर के द्वारा, तथा वेद-पाठ और गायत्री आदि मन्त्रों के जप से वाणी और मन के द्वारा, वे अपनी तपश्चर्य्या की निरन्तर वृद्धि किया करते हैं। उनका यह कायिक, वाचिक और मानसिक तप सुरेन्द्र के धैर्य्य को भी चञ्चल कर रहा है। वह डर रहा है कि कहीं ये मेरा आसन न छीन लें। इसीसे महर्षि के तपश्चरण-सम्बन्ध में मुझे बड़ी फ़िक्र रहती है। मैं नहीं चाहता कि उसमें किसी तरह का विघ्न पड़े; क्योंकि मैं ऐसे महात्माओं को अपने राज्य का भूषण समझता हूँ।

"आपके आश्रम के पेड़-पौधे तो हरे भरे हैं? सूखे तो नहीं? आँधी और तूफ़ान आदि से उन्हें हानि तो नहीं पहुँची? आश्रम के इन पेड़ों से बहुत आराम मिलता है। आश्रमवासी तो इनकी छाया से आराम पाते ही हैं, अपनी शीतल छाया से ये पथिकों के श्रम का भी परिहार करते हैं।

इनके इसी गुण पर लुब्ध होकर महर्षि ने इन्हें बच्चे की तरह पाला है। थाले बना कर उन्होंने इनको, समय समय पर, सींचा है, तृण की टट्टियाँ लगा कर जाड़े से इनकी रक्षा की है, और काँटों से घेर कर इन्हें पशुओं से खा लिये जाने से बचाया है।

"मुनिजन बड़े ही दयालु होते हैं। आपके आश्रम की हरिणियाँ जब बच्चे देती हैं तब ऋषि लोग उनके बच्चों की बेहद सेवा-शुश्रूषा करते हैं। आश्रम के आस पास सब कहीं जङ्गल है। उसमें साँप और बिच्छू आदि विषैले जन्तु भरे हुए हैं। उनसे बच्चों को कष्ट न पहुँचे, इस कारण ऋषि प्रायः उन्हें अपनी गोद से नहीं उतारते। उत्पन्न होने के बाद, दस-बारह दिन तक, वे उन्हें रात भर अपने उत्सङ्ग ही पर रखते हैं। अतएव उनके नाभि-नाल ऋषियों के शरीर ही पर गिर जाते हैं। परन्तु इससे वे ज़रा भी अप्रसन्न नहीं होते। जब ये बच्चे बढ़ कर कुछ बड़े होते हैं तब यज्ञ आदि बहुत ही आवश्यक क्रियाओं के निमित्त लाये गये कुशों को भी वे खाने लगते हैं। परन्तु, उन पर ऋषियों का अत्यन्त स्नेह होने के कारण, वे उन्हें ऐसा करने से भी नहीं रोकते। उनके धार्मिक कार्य्यों में चाहे भले ही विघ्न आ जाय, पर मृगों के छौनों की इच्छा का वे विघात नहीं करना चाहते। आप की यह स्नेह-संवर्धित हरिण-सन्तति तो मज़े में है? उसे कोई कष्ट तो नहीं?

"आपके तीर्थ-जलों का क्या हाल है? उनमें कोई ख़राबी तो नहीं? वे सूख तो नहीं गये? पशु उन्हें गँदला तो नहीं करते? इन तीर्थ-जलों को इन तालावों और बावलियों को—मैं आपके बड़े काम की चीज़ समझता हूँ। यही जल नित्य आपके स्नानादि के काम आते हैं। अग्निष्वात्तादि पितरों का तर्पण भी आप इन्हीं से करते हैं। इन्हीं के किनारे, रेत पर, आप अपने खेतों की उपज का षष्ठांश भी, राजा के लिए, रख छोड़ते हैं।

"बलि-वैश्वदेव के समय यदि कोई अतिथि आ जाय तो उसे विमुख जाने देना मना है। अतएव जिस जङ्गली तृण-धान्य (साँवा, कोदो आदि) से आप अपने शरीर की भी रक्षा करते हैं और अतिथियों की क्षुधा भी शान्त करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं उसे, भूल से छूट आये हुए, गाँव और नगर के पशु खा तो नहीं जाते?

"सब विद्याओं में निष्णात करके आप के गुरु ने आप को गृहस्थाश्रम सुख भोगने के लिए क्या प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा दे दी है? ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमों पर उपकार करने का सामर्थ्य एक मात्र गृहस्थाश्रम ही में है। आपकी उम्र अब उसमें प्रवेश करने के सर्वथा योग्य है। आप मेरे परम पूज्य हैं। इस कारण सिर्फ़ आपके आगमन से ही मुझे आनन्द की विशेष प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि आप दया करके मुझ से कुछ सेवा भी लें तो अवश्य मुझे बहुत कुछ आनन्द और सन्तोष हो सकता है। अतएव, आप मेरे लिए कोई काम बतावें—कुछ तो आज्ञा करें? हाँ, भला यह तो कहिए कि आप ने जो मुझ पर यह कृपा की है वह आपने अपने ही मन से की है या अपने गुरु की आज्ञा से। वन से इतनी दूर मेरे पास आने का कारण क्या?"

राजा रघु के मिट्टी के पात्र देख कर कौत्स, विना कहे ही, अच्छी तरह समझ गया था कि यह अपना सर्वस्व दे चुका है; अब इसके पास कौड़ी नहीं। अतएव, यद्यपि राजा ने उसका बहुत ही आदर-सत्कार किया और बड़ी ही उदारता से वह उससे पेश आया, तथापि कौत्स को विश्वास हो गया कि इससे मेरी इच्छा पूर्ण होने की बहुतही कम आशा है। मन ही मन इस प्रकार विचार करके, उसने रघु के प्रश्नों का, नीचे लिखे अनुसार, उत्तर देना आरम्भ किया:—

"राजन्! हमारे आश्रम में सब प्रकार कुशल है। किसी तरह की कोई विघ्न-बाधा नहीं। आपके राजा होते, भला, हम लोगों को कभी स्वप्न में भी कष्ट हो सकता है। बीच आकाश में सूर्य्य के रहते, मजाल है जो रात का अन्धकार अपना मुँह दिखाने का हौसला करे। लोगों की दृष्टि का प्रति-बन्ध करने के लिए उसे कदापि साहस नहीं हो सकता। हे महाभाग! पूजनीय पुरुषों का भक्ति-भाव-पूर्वक आदरातिथ्य करना तो आपके कुल की रीति ही है। आपने तो अपनी उस कुल-रीति से भी बढ़ कर मेरा सत्कार किया। पूजनीयों की पूजा करने में आप तो अपने पूर्वजों से भी आगे बढ़े हुए हैं। मैं आप से कुछ याचना करने के लिए आया था, परन्तु याचना का समय नहीं रहा। मैं बहुत देरी से आया। इसी से मुझे दुःख हो रहा है। अपनी सारी सम्पत्ति का दान सत्पात्रों को करके आप,

इस समय, ख़ाली हाथ हो रहे हैं। कुछ भी धन-सम्पत्ति आपके पास नहीं। एक मात्र आपका शरीर ही अब अवशिष्ट है। अरण्य-निवासी मुनियों के द्वारा बालें तोड़ ली जाने पर साँवाँ, कोदों आदि तृण-धान्यों के पौधे जिस तरह धान्य-विहीन होकर खड़े रह जाते हैं, उसी तरह आप भी, इस समय, सम्पत्ति-हीन होकर शरीर धारण कर रहे हैं। विश्वजित यज्ञ करके और उसमें अपना सारा धन ख़र्च करके आपने, पृथ्वी-मण्डल के चक्रवर्ती राजा होने पर भी, अपने को निर्धन बना डाला है। आपकी यह निर्धनता बुरी नहीं। उसने तो आपकी कीर्ति को और भी अधिक उज्ज्वल कर दिया है—उससे तो आपकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई है। देवता लोग चन्द्रमा का अमृत जैसे जैसे पीते जाते हैं वैसे ही वैसे उसकी कलाओं का क्षय होता जाता है; और, सम्पूर्ण क्षय हो चुकने पर, फिर, क्रम क्रम से, उन कलाओं की वृद्धि होती है। परन्तु उस वृद्धि की अपेक्षा चन्द्रमा का वह क्षय ही अधिक लुभावना मालूम होता है। आपका साम्पत्तिक क्षय भी उसी तरह आपकी शोभा का बढ़ाने वाला है, घटाने वाला नहीं। हे राजा! गुरु-दक्षिणा तो मुझे कहीं से लानी ही होगी; और, आप से तो उसके मिलने की आशा नहीं। अतएव अब मैं और कहीं से उसे प्राप्त करने की चेष्टा करूँगा। आपको इस सम्बन्ध में मैं सताना नहीं चाहता। सारे संसार को जल-वृष्टि से सुखी करके शरत्काल को प्राप्त होने वाले निर्जल मेघों को, पतङ्ग-योनि में उत्पन्न हुए चातक तक, अपनी याचनाओं से, तङ्ग नहीं करते। फिर मैं तो मनुष्य हूँ और गुरु की कृपा से चार अक्षर भी मैंने पढ़े हैं। भगवान् आपका भला करे, मैं अब आप से बिदा होता हूँ।"

इतना कह कर महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स खड़ा हो गया और वहाँ से जाने लगा। यह देख, राजा रघु ने उसे रोक कर ज़रा देर ठहरने की प्रार्थना की। वह बोला:—

"हे पण्डितवर! आप यह तो बता दीजिए कि गुरु-दक्षिणा में कौनसी चीज़ आप अपने गुरु को देना चाहते हैं और कितनी देना चाहते हैं।"

यह सुन कर, इतने बड़े विश्वजित् नामक यज्ञ को यथाविधि करने पर भी जिसे गर्व छू तक नहीं गया, और, जिसने ब्राह्मण आदि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य्य आदि चारों आश्रमों की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है उस

राजा रघु से, उस चतुर ब्रह्मचारी ने अपना गुरु-दक्षिणा-सम्बन्धी प्रयोजन, इस प्रकार, साफ़ साफ़ शब्दों में, कहना आरम्भ किया। उसने कहा:—

"जब मेरा विद्याध्ययन हो चुका—जो कुछ मुझे पढ़ना था सब मैं पढ़ चुका—तब मैंने आचार्य्य वरतन्तु से प्रार्थना की कि आप कृपा करके गुरु-दक्षिणा के रूप में मेरी कुछ सेवा स्वीकार करें। परन्तु महर्षि के आश्रम में रह कर मैंने बड़े ही भक्ति-भाव से उसकी सेवा की थी। इससे वे मुझ पर पहले ही से बहुत प्रसन्न थे। अतएव, विदा होते समय, मेरी प्रार्थना के उत्तर में उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा कि तेरी अकृत्रिम भक्ति ही से मैं सन्तुष्ट हूँ; मुझे गुरु-दक्षिणा न चाहिए। परन्तु मैंने हठ की। गुरु-दक्षिणा स्वीकार करने के लिए मेरे बार बार प्रार्थना करने पर आचार्य्य को क्रोध हो आया। इस कारण, मेरी दरिद्रता का कुछ भी विचार न करके, उन्होंने यह आज्ञा दी कि मैंने जो तुझे चौदह विद्यायें सिखाई हैं उनमें से एक एक विद्या के बदले एक एक करोड़ रुपया ला दे। यही चौदह करोड़ रुपया माँगने के लिए मैं आप के पास आया था। परन्तु, मेरा सत्कार करने के समय आपने मिट्टी के जिन पात्रों का उपयोग किया उन्हें देख कर ही मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि इस समय आप के पास प्रभुता का सूचक "प्रभु" शब्द मात्र शेष रह गया है। सम्पत्ति के नाम से और कुछ भी आप के पास नहीं। फिर, महर्षि वरतन्तु से प्राप्त की गई चौदह विद्याओं का बदला भी मुझे थोड़ा नहीं देना! अतएव इतनी बड़ी रक़म आप से माँगने के लिए मेरा मन गवाही नहीं देता। मैं, इस विषय में, आपसे आग्रह नहीं करना चाहता।"

जिसके शरीर की कान्ति चन्द्रमा की कान्ति के समान आनन्द-दायक थी, जिसकी इन्द्रियों का व्यापार पापाचरण से पराङ्मुख था, जिसने कभी कोई पापकर्म नहीं किया था—ऐसे सार्वभौम राजा रघु ने, वेदार्थ जानने वाले विद्वानों में श्रेष्ठ, कौत्स, ऋषि की पूर्वोक्त विज्ञप्ति सुन कर, यह उत्तर दिया:—

"आपका कहना ठीक है; परन्तु मैं आपको विफल-मनोरथ होकर लौट नहीं जाने दे सकता। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा! सारे शास्त्रों का जानने वाला कौत्स ऋषि, अपने गुरु को दक्षिणा देने के लिए, याचक

बन कर आया ; परन्तु रघु उसका मनोरथ सिद्ध न कर सका। इससे लाचार होकर उसे अन्य दाता के पास जाना पड़ा। इस तरह के लोकापवाद से मैं बहुत डरता हूँ। मैं, अपने ऊपर, ऐसे अपवाद के लगाये जाने का मौक़ा नहीं देना चाहता। इस कारण, आप मेरी पवित्र और सुन्दर अग्निहोत्र-शाला में —जहाँ आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण, ये तीनों अग्नि निवास करते हैं— दो तीन दिन, मूर्त्तिमान् चौथे अग्नि की तरह, ठहरने की कृपा करें। मान्यवर, तब तक मैं आपका मनोरथ सिद्ध करने के लिए, यथाशक्ति, उपाय करना चाहता हूँ।"

यह सुन कर वह ब्राह्मण श्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा:— "बहुत अच्छा। महाराज, आप सत्यप्रतिज्ञ हैं। आपकी आज्ञा मुझे सर्वथा मान्य है।" यह कह कर वह ऋषि राजा रघु की यज्ञ-शाला में जा ठहरा।

इधर राजा रघु ने सोचा कि पृथ्वी-मण्डल में जितना द्रव्य था वह तो मैं, दिग्विजय के समय, प्रायः सभी ले चुका। थोड़ा बहुत जो रह गया है उसे भी ले लेना उचित नहीं। अतएव, कौत्स के निमित्त द्रव्य प्राप्त करने के लिए कुवेर पर चढ़ाई करनी चाहिए। इस प्रकार मन में सङ्कल्प करके उसने धनाधिप से ही चौदह करोड़ रुपया वसूल करने का निश्चय किया। कुवेर तक पहुँचना और उसे युद्ध में परास्त करना रघु के लिए कोई बड़ी बात न थी। महामुनि वशिष्ठ ने पवित्र-मन्त्रोच्चारण-पूर्वक रघु पर जो जल छिड़का था, उसके प्रभाव से राजा रघु का सामर्थ्य बहुत ही बढ़ गया था। बड़े बड़े पर्वतों के शिखरों पर, दुस्तर महासागर के भीतर, यहाँ तक कि आकाश तक में भी—वायु से सहायता पाये हुए मेघ की गति के समान—उसके रथ की गति थी। कोई जगह ऐसी न थी जहाँ उसका रथ न जा सकता हो।

राजा रघु ने कुवेर को एक साधारण माण्डलिक राजा समझ कर, अपने पराक्रम से उसे परास्त करने का निश्चय किया। अतएव उस महा-शूर-वीर और गम्भीर राजा ने, सायङ्काल, अपने रथ को अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया; और, प्रातःकाल, उठ कर प्रस्थान करने के इरादे से रात को उसी के भीतर शयन भी किया। परन्तु प्रभात होते ही उसके कोशागार के सन्तरी दौड़े हुए उसके पास आये। उन्होंने आकर

निवेदन किया कि महाराज, एक बड़े ही आश्चर्य की बात हुई है। आपके ख़ज़ाने में रात को आकाश से सोने की बेहद वृष्टि हुई है। यह समाचार पा कर राजा समझ गया कि देदीप्यमान सुवर्ण-राशि की यह वृष्टि धनाधिप कुवेर ही की कृपा का फल है। उसी ने यह सोना आसमान से बरसाया है। अतएव, अब उस पर चढ़ाई करने की ज़रूरत नहीं। इन्द्र के वज्राघात से कट कर ज़मीन पर गिरे हुए सुमेरु-पर्वत के शिखर के समान, आकाश से गिरा हुआ, सुवर्ण का वह सारा का सारा ढेर, उसने कौत्स को दे डाला। अब तमाशा देखिए। कौत्स तो इधर यह कहने लगा कि जितना द्रव्य मुझे गुरु-दक्षिणा में देना है उतना ही चाहिए, उससे अधिक मैं लूँगा ही नहीं। उधर राजा यह आग्रह करने लगा कि नहीं, आपको अधिक लेना ही पड़ेगा। जितना सोना मैं देता हूँ उतना सभी आपको लेना होगा। यह दशा देख कर अयोध्या-वासी जन दोनों को धन्य-धन्य कहने लगे। मतलब से अधिक द्रव्य न लेने की इच्छा प्रकट करने वाले कौत्स की जितनी प्रशंसा उन्होंने की, उतनी ही प्रशंसा उन्होंने माँगे हुए धन की अपेक्षा अधिक देने का आग्रह करने वाले रघु की भी की।

इसके अनन्तर राजा रघु ने उस सुवर्ण-राशि को, कौत्स के गुरु वरतन्तु के पास भेजने के लिए, सैकड़ों ऊँटों और ख़च्चरों पर लदवाया। फिर, कौत्स के विदा होते समय, अपने शरीर के ऊपरी भाग को झुका कर और विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़ कर, वह उसके सामने खड़ा हुआ। उस समय राजा के अलौकिक औदार्य्य से अत्यन्त सन्तुष्ट हो कर कौत्स ने उसकी पीठ ठोंकी और इस प्रकार उससे कहा:—

"हे राजा! न्याय-पूर्वक सम्पदाओं का सम्पादन, वर्द्धन, पालन और फिर उनका सत्पात्रों को दान—यह चार प्रकार का राज-कर्तव्य है। इन चारों कर्तव्यों के पालन में सदा-सर्वदा तत्पर रहने वाले राजा के सारे मनोरथ यदि पृथ्वी पूर्ण करे तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। परन्तु, महाराज, आपकी महिमा इस से कहीं बढ़ कर है। वह अतर्क्य है। उसे देख कर अवश्य ही आश्चर्य्य होता है। क्योंकि, आपने पृथ्वी ही को नहीं, आसमान को भी दुह कर अपना मनोरथ सफल कर लिया। अब मैं आपको क्या आशीर्वाद दूँ? कोई चीज़ ऐसी नहीं जो आपको प्राप्त न

हो। आपकी जितनी इच्छायें थीं सब परिपूर्ण हो चुकी हैं। उन्हीं में से फिर किसी इच्छा को परिपूर्ण करने के लिए आशीर्वाद देना पुनरुक्ति मात्र होगी। ऐसे चर्बित चर्वण से क्या लाभ? इस कारण, मेरा यह आशीर्वाद है कि जिस तरह आपके पिता दिलीप ने आपके सदृश प्रशंसनीय पुत्र पाया, उसी तरह, आप भी, अपने सारे गुणों से सम्पन्न, अपने ही सदृश एक पुत्र-रत्न पावें!"

राजा को यह आशीर्वाद देकर कौत्स ऋषि अपने गुरु वरतन्तु के आश्रम को लौट गया। उधर गुरु को दक्षिणा देकर उसके ऋण से उसने उद्धार पाया, इधर उसका आशीर्वाद भी शीघ्रही फलीभूत हुआ। जिस तरह प्राणिमात्र को सूर्य्य से प्रकाश की प्राप्ति होती है उसी तरह कौत्स के आशीर्वाद से राजा रघु को पुत्र की प्राप्ति हुई। अभिजित् नाम के मुहूर्त्त में उसकी रानी ने स्वामिकार्त्तिक के समान पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किया। यह मुहूर्त्त ब्राह्ममुहूर्त्त कहलाता है, क्योंकि इसके देवता ब्रह्मा हैं। इसी से रघु ने अपने पुत्र का नाम भी तदनुरूप ही रखना चाहा। ब्रह्मा का एक नाम 'अज' भी है। रघु को यही नाम सब से अधिक पसन्द आया। इस कारण उसने पुत्र का भी यही नाम रक्खा। जिस तरह किसी दीपक से जलाया गया दूसरा दीपक ठीक पहले के सदृश होता है, उसी तरह वह बालक भी अपने पिता रघु के ही सदृश हुआ। क्या रूप में, क्या तेज में, क्या बल में, क्या वीर्य्य में, क्या स्वाभाविक उदारता और उन्नति में—सभी बातों में वह अपने पिता के तुल्य हुआ; भिन्नता उसमें ज़रा भी न हुई।

यथासमय अजकुमार ने विद्योपार्ज्जन आरम्भ किया। कितने ही विद्वान् अध्यापक उसे पढ़ाने के लिए नियत किये गये। धीरे धीरे उसने उनसे सारी विद्यायें विधिपूर्वक पढ़ डालीं।

तब तक वह तरुण भी हो गया। अतएव उसकी शरीर-कान्ति और भी बढ़ गई—उसका रूप-लावण्य पहले से भी अधिक हो गया। इस कारण राज्यलक्ष्मी उसे बहुत चाहने लगी। रघु को पाने के लिए वह मन ही मन उत्कण्ठित हो उठी। परन्तु जिस तरह भले घर की उपवर कन्या, किसी योग्य वर को पसन्द कर लेने पर भी, उसके साथ विवाह करने के लिए, पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा में रहती है, उसी तरह उत्तर-कोशल

की राज्य-लक्ष्मी भी, अज के पास जाने के लिए, राजा रघु की आज्ञा की प्रतिक्षा करने लगी।

इतने में विदर्भ-देश के राजा भोज ने अपनी बहन इन्दुमती का स्वयंवर करना चाहा। अनेक राजाओं को उसने निमन्त्रण भेजा। अज के गुणों की उसने बड़ी प्रशंसा सुनी थी। इस कारण उसे स्वयंवर में बुलाने के लिए वह बहुतही उत्सुक हुआ। इस डर से कि साधारण रीति पर निमन्त्रण भेजने से कहीं ऐसा न हो कि अज न आवे, उसने अपना एक विश्वासपात्र दूत राजा रघु के पास रवाना किया और अज-कुमार को बड़े ही आदर से स्वयंवर में बुलाया। दूत ने आकर राजा भोज का निमन्त्रण-पत्र रघु को दिया। उसे पढ़ कर रघु बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मन में कहा —अज की उम्र अब विवाह-योग्य हो गई है; सम्बन्ध भी बुरा नहीं। इससे इस निमन्त्रण को स्वीकारही कर लेना चाहिए। यह सोच कर उसने बहुत सी सेना के साथ अज को राजा भोज की समृद्धि-पूर्ण राजधानी को भेज दिया।

अजकुमार के प्रस्थान करने पर, मार्ग में, उसके आराम के लिए पहले ही से जगह जगह डेरे लगा दिये गये। उनमें सोने के लिए अच्छे अच्छे पलँग, पीने के लिए शीतल जल और खाने के लिए सुस्वादु पदार्थ भी रख दिये गये। अज से मिलने के लिए दूर दूर से आये हुए प्रजा-जनों की दी हुई भेटों से वे पट-मण्डप और भी जगमगा उठे। इससे वे शहरों के क्रीड़ा-स्थानों की तरह शोभासम्पन्न दिखाई देने लगे। उन्होंने विहार करने के लिए बनाये गये उद्यानों को भी मात कर दिया।

कई दिन बाद, चलते चलते, अजकुमार नर्म्मदा के निकट जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि नदी के किनारे किनारे नक्तमाल नाम के सैकड़ों वृक्ष खड़े हुए हैं और जल-स्पर्श होने के कारण शीतल हुई वायु उन्हें धीरे धीरे हिला रही है। ऐसी आराम की जगह देख कर अज ने, धूलि लिपटी हुई ध्वजा वाली अपनी सेना को, वहीं, नर्मदा के तट पर, ठहर जाने की आज्ञा दी।

उस समय एक जङ्गली हाथी ने नर्मदा की धारा में गोता लगाया था। अज के सैनिकों ने उसे गोता लगाते न देखा था। परन्तु जिस जगह

उसने ग़ोता लगाया था उसी जगह, पानी के ऊपर, गज-मद के लोभी अनेक भौंरे उड़ रहे थे। इससे लोगों ने समझ लिया कि कोई न कोई वन-गज अवश्य ही इस जगह पानी के भीतर है। इतने में वह हाथी पानी के भीतर से निकल पड़ा। उस समय, मद के धुल जाने से, उसका स्वच्छ मस्तक बहुत ही सुहावना मालूम होने लगा। इस गज ने, नर्मदा में ग़ोता मारने के पहले, अपने दोनों दाँतों से, नदी के तीरवर्त्ती ऋत्त नामक पर्वत के तट तोड़ने का घंटों खेल किया था। अतएव, पर्वत की गेरू आदि धातुओं से उसके दाँत रङ्गीन हो गये थे। परन्तु, नर्म्मदा में नहाने के कारण, इस समय, उसके दाँतों पर लगी हुई वह धातु-रज बिलकुल ही धो गई थी। तथापि उसकी चित्र-विचित्र नीली रेखायें अब तक दाँतों के ऊपर देख पड़ती थीं। यही नहीं, किन्तु, क्रीड़ा के समय, शिलाओं से टकराने के कारण, उसके दाँतों पर जो रगड़ लगी थी उससे दाँतों की धार कुछ मोटी पड़ गई थी—दाँतों का नुकीलापन जाता सा रहा था। इन्हीं चिह्नों से यह सूचित होता था कि इसने, कुछ समय पहले, पूर्व्वोक्त पर्वत की जड़ में ज़रूर दाँतों की टक्करें मारी होंगी। यह हाथी जल के भीतर से ऊपर उठ कर अपनी सूँड़ों से बड़ी बड़ी लहरों को तोड़ने फोड़ने लगा। सूँड़ को कभी सिकोड़ कर और कभी दूर तक फैला कर उससे वह पानी को इस ज़ोर से जल्दी जल्दी मारने लगा कि आस पास का वह सारा प्रदेश उसके तुमुल नाद से व्याप्त होगया। इस प्रकार कुलाहल करता हुआ जिस समय वह तट की तरफ़ चला उस समय यह मालूम होने लगा जैसे वह अपने पैरों में पड़ी हुई ज़ंजीर को तोड़ डालने की चेष्टा कर रहा हो। वह पर्वताकार हाथी, सिवार की ढेरी को अपनी छाती से खींचता हुआ, नदी से निकल कर तट की ओर बढ़ा, परन्तु उस की सूँड़ के आघातों से पीड़ित किया गया नदी का प्रवाह, उसके पहुँचने के पहले ही, तट तक पहुँच गया। बढ़ी हुई लहरों ने पहले तट पर टक्कर खाई। उनके पीछे कहीं उस हाथी के तट तक पहुँचने की नौबत आई। पानी में बड़ी देर तक डूबे रहने के कारण उसकी दोनों कनपटियों से बहने वाला मद कुछ देर के लिए शान्त हो गया था। परन्तु, जल के बाहर निकलने पर, ज्योंही उसने रघु की सेना के हाथियों को

देखा त्योंही, अकेला होने पर भी, उन उतने हाथियों से भिड़ने के लिए वह तैयार हो गया। उसके शरीर में वीरता का आवेश उत्पन्न होते ही उसके मस्तक से फिर मद की धारा बहने लगी। सप्त-पर्ण नामक वृक्ष के दूध के समान उग्र गन्ध वाला उसका मद रघु के हाथियों से सहा न गया। उसका सुवास मिलते ही वे सारे हाथी अधीर हो उठे। यद्यपि उनके महावतों ने उनको अपने वश में रखने का बहुत कुछ यत्न किया, तथापि उनकी सारी चेष्टायें व्यर्थ हो गईं। सेना के समस्त हाथी अपनी अपनी दुमें दबा कर, और उस जङ्गली हाथी की तरफ़ पीठ करके, वहाँ से तत्काल भाग निकले।

राजा रघु के शिविर में उस जङ्गली हाथी का प्रवेश होते ही सर्वत्र हाहाकार मच गया। जितने ऊँट, घोड़े और बैल थे, सब अपने अपने बन्धन तोड़ कर भागे। इस कारण, रथों के जुए टूट गये और वे इधर उधर अस्त-व्यस्त हो उलटे पलटे जा गिरे। हाथी को आता देख बड़े बड़े योद्धाओं तक के होश उड़ गये; स्त्रियों की रक्षा करने के लिए वे इधर उधर दौड़-धूप करने लगे। सारांश यह कि उस हाथी ने उस उतनी बड़ी सेना को एक पल में बेतरह व्याकुल कर डाला।

शास्त्र की आज्ञा है कि राजा को जङ्गली हाथी न मारना चाहिए। इस बात को अजकुमार जानता था। अतएव, जब उसने देखा कि यह हाथी मुझ पर आघात करने के लिए दौड़ा चला ही आ रहा है तब उसने धीरे से धनुष को खींच कर सिर्फ़ उसके मस्तक पर इस इरादे से एक बाण मारा कि वह वहीं से लौट जाय, आगे न बढ़े। हाथी राजाओं के बड़े काम आते हैं। इसीसे युद्ध के सिवा और कहीं उन्हें मारना मना है। यहाँ युद्ध तो होता ही न था, इसी से अजकुमार ने उस पर ज़ोर से बाण नहीं मारा। केवल उसे वहाँ से भगा देना चाहा। अज का बाण लगते ही उस प्राणी ने हाथी का रूप छोड़ कर बड़ा ही रमणीय रूप धारण किया। उसे आकाश में निर्विघ्न विचरण करने योग्य शरीर मिल गया। उस समय उसके शरीर के चारों तरफ़ प्रकाशमान प्रभा-मण्डल उत्पन्न हो गया। उसके बीच में उस सुन्दर शरीर वाले व्योमचारी को खड़ा देख कर रघु की सेना आश्चर्य्य-सागर में डूब गई। इसके अनन्तर उस गगनचर ने अपने सामर्थ्य से कल्पवृक्ष के फूल ला कर अज पर बर-

साये। फिर, अपने दाँतों की चमक से अपने हृदय पर पड़े हुए सफ़ेद मोतियों के हार की शोभा को बढ़ाते हुए उसने, नीचे लिखे अनुसार, वक्तृता आरम्भ की। वक्तृता इस लिए कि वह कोई ऐसा वैसा साधारण बोलने वाला न था, किन्तु बहुत बड़ा वक्ता था। वह बोलाः—

"अजकुमार, मैं प्रियदर्शन नाम के गन्धर्व का पुत्र हूँ। मेरा नाम प्रियम्वद है। मेरे गर्व को देख कर एक बार मतङ्ग नामक ऋषि मुझ पर बहुत अप्रसन्न हुए। इससे उन्होंने शाप दिया कि जा, तू हाथी हो जा। तेरे सदृश घमण्डी को हाथी ही होना चाहिए। शाप दे चुकने पर मैंने मतङ्ग मुनि को नमस्कार किया, उनकी स्तुति भी की और शापमोचन के लिए उनसे नम्रतापूर्वक विनती भी की। इस पर मुनि का क्रोध शान्त हो गया। होना ही चाहिए था। अग्नि के संयोग से ही पानी को उष्णता प्राप्त होती है। यथार्थ में तो शीतलत्व ही पानी का स्वाभाविक धर्म है। मुनियों का स्वभाव भी दयालु और शान्त होता है। क्रोध उन्हें कोई बहुत बड़ा कारण उपस्थित हुए बिना नहीं आता। मेरी प्रार्थना पर तपोनिधि मतङ्ग मुनि को दया आई और उन्होंने कहाः—'अच्छा, जा, इक्ष्वाकु के वंश में अज नामक एक राजकुमार होगा। वह जब तेरे मस्तक पर लोहे के मुँह वाला बाण मारेगा तब तेरा हाथी का शरीर छूट जायगा और तुझे फिर अपना स्वाभाविक गन्धर्व-रूप मिल जायगा।' जिस दिन से मतङ्ग ऋषि ने यह शाप दिया उस दिन से आज तक मैं महाबलवान् इक्ष्वाकुवंशी अज के दर्शनों की प्रतीक्षा में था। आज कहीं आपने मुझे शाप से छुड़ा कर मेरी मनोरथ-सिद्धि की। अतएव आपने मुझ पर जो उपकार किया है उसका यदि मैं कुछ भी बदला न दूँ तो आपके प्रभाव से मुझे जो इस गन्धर्व-शरीर की फिर प्राप्ति हुई है वह व्यर्थ हो जायगी। प्रत्युपकार करने में असमर्थ मनुष्यों के लिए जीने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है। मित्र, मेरे पास सम्मोहन नाम का एक अस्त्र है। उसका देवता गन्धर्व है। उसी की कृपा से यह अस्त्र मिलता है। इसे शत्रु पर चलाने और फिर अपने पास लौटा लेने के मन्त्र जुदे जुदे हैं। वे सब मुझे सिद्ध हैं। यह अस्त्र मैं आपको देता हूँ। लीजिए। इसमें यह बड़ा भारी गुण है कि इसे चलाने से शत्रुओं की प्राण-हानि हुए बिना ही चलाने वाले की जीत होती है। इससे शत्रु मूर्छित हो जाते हैं;

उनमें युद्ध करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। अतएव, इस शस्त्र का प्रयोग कर्त्ता अवश्य ही विजयी होता है। इस बात को आप अपने मन में हरगिज़ न आने दें कि आपने तो मुझ पर बाण मारा और मैं आपको उसके बदले यह अस्त्र देने जाता हूँ। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं; क्योंकि मेरे मारने के लिए धनुष उठाने पर भी आपके मन में, क्षण भर के लिए, मुझ पर दया आ गई। इससे आपने मुझे मारा नहीं। मेरा मस्तक बाण से छेद कर ही मुझे आपने छोड़ दिया। इस कारण, इस अस्त्र को ले लेने के लिए मैं जो आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ, उसे आपको मान लेना चाहिए। अपने मन को कठोर करके उसका तिरस्कार करना आपको उचित नहीं।"

चन्द्रमा के समान समस्त संसार को आनंद देने वाले अजकुमार ने गन्धर्व की इस प्रार्थना को मान लिया। उसने कहा:—"बहुत अच्छा आपकी आज्ञा मुझे मान्य है।" यह कह कर अज ने सोमसुता नर्मदा का पवित्र जल लेकर आचमन किया। फिर उसने उत्तर की ओर मुँह करके शाप से छूटे हुए उस गन्धर्व से उस सम्मोहन-अस्त्र-सम्बन्धी मन्त्र ग्रहण कर लिये।

इस प्रकार, दैवयोग से, मार्ग में, जिस बात का कभी स्वप्न में भी ख़याल न था वह हो गई। अकस्मात् वे दोनों एक दूसरे के मित्र हो गये। इसके अनन्तर वह गन्धर्व तो कुवेर के उद्यान के पास वाले प्रदेश की तरफ़ चला गया, क्योंकि वह वहीं का रहने वाला था; और, अजकुमार ने उस विदर्भ देश की राह ली जिसका राजा अपनी प्रजा का यथा-न्याय पालन करता था, और जहाँ की प्रजा ऐसे अच्छे राजा को पाकर, सब प्रकार सुखी थी।

यथासमय अज विदर्भ नगरी के पास पहुँच गया और नगर के बाहर अपनी सेना सहित उतर पड़ा। उसके आने का समाचार पाकर विदर्भ-नरेश को परमानन्द हुआ। चन्द्रोदय होने पर, जिस तरह समुद्र अपनी बड़ी बड़ी लहरें ऊँची उठा कर चन्द्रमा से मिलने के लिए तट की तरफ़ बढ़ता है, उसी तरह विदर्भाधिप भी अजकुमार को अपने यहाँ ले आने के लिए आगे बढ़ा और जहाँ वह ठहरा हुआ था वहाँ जाकर उससे भेंट की। वहाँ से उसने अज को साथ लिया और सेवक के समान उसके आगे

आगे चलने लगा। बड़ी ही नम्रता से वह अजकुमार को अपनी राजधानी में ले आया। वहाँ राजश्री के सूचक छत्र और चमर आदि सारे ऐश्वर्य्यों से उसने उसकी बड़ी ही सेवा-शुश्रूषा की। उस आदर-सत्कार को देख कर, स्वयंवर में आये हुए लोगों ने अजकुमार को तो विदर्भदेश का राजा और विदर्भ-नरेश को एक साधारण अतिथि अनुमान किया—अर्थात् अज तो घर का स्वामी सा जान पड़ने लगा और राजा भोज पाहुना सा। सत्कार की हद हो गई।

नगर-प्रवेश होने पर, राजा भोज के कर्मचारियों ने महापराक्रमी राजा रघु के प्रतिनिधि अजकुमार से नम्रतापूर्वक यह निवेदन किया:—"महाराज, जिसके द्वार पर बनी हुई वेदियों पर जल से भरे हुए मङ्गलसूचक कलश स्थापित हैं वह रमणीय और नई विश्रामशाला आप ही के लिए है।" यह सुन कर अजकुमार ने—बाल्यावस्था के आगे वाली, अर्थात् यौवनावस्था, में मन्मथ के समान—उस मनोहर डेरे में निवास किया।

सायङ्काल होने पर स्वयंवर-सम्बन्धी चिन्ता में अज का चित्त मग्न हो गया। जिसके स्वयंवर में शरीक होने के लिए दूर दूर से सैकड़ों नरेश आये हुए हैं वह महासुन्दरी कन्या मुझे प्राप्त हो सकेगी या नहीं? यही विचार करते वह घंटों पलँग पर पड़ा रहा। उसे नींद ही न आई। बड़ी देर में, पति के आचरण से खिन्न हुई स्त्री के सदृश, निद्रा को अज की आँखों के सामने कहीं आने का साहस हुआ। नींद ने सोचा कि इस समय अज को इन्दुमती की विशेष चाह है, मेरी तो है ही नहीं। फिर मैं क्यों उसके पास जाने की जल्दी करूँ?

प्रातःकाल होने पर, पलँग पर लेटे हुए अज की छवि बहुत ही दर्शनीय थी। उसके कानों के कुण्डल उसके पुष्ट कन्धों पर पड़े हुए थे। पलँग-पोश की रगड़ से उसके शरीर पर लगा हुआ केसर-कस्तूरी आदि का सुगन्धित उबटन कुछ कुछ छूट गया था। ऐसे रम्य-रूप और विख्यात-बुद्धि वाले कुमार को अब तक सोता देख, उसी की उम्र के और बड़ी ही रसाल वाणी वाले सूत-पुत्रों ने, मधुर स्वर में, भैरवी गा गा कर, जगाना आरम्भ किया। वे बोले:—

"हे बुध-वर! रात बीत गई। सूर्य्य निकलने चाहता है। शय्या

छोड़िए । उठ बैठिए । ब्रह्मा ने इस संसार के भार के दो भाग कर दिये हैं । उनमें से एक भाग का भार तो आपका पिता, निद्रा छोड़ कर, बड़े ही निरालस भाव से, उठा रहा है । रहा दूसरा, सो उसे उठाना आपका काम है । अतएव, उठ कर उसे सँभालिए । दो आदमियों का काम एक से नहीं हो सकता ।

"आप पर लक्ष्मी अत्यन्त अनुरक्त है । वह आपको एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ना चाहती । तिस पर भी निद्रा के वशीभूत होकर आपने उसका स्वीकार न किया । इस कारण, वियोग-व्यथा ने उसे बहुत ही खिन्न कर दिया । आपको निद्रा की गोद में देख, खण्डिता स्त्री की तरह, वह बेतरह घबरा उठी । रात बिताना उसके लिए दुःसह हो गया । इस दशा को प्राप्त होने पर, वह अपने वियोग-दुःख को कम करने का उपाय ढूँढ़ने लगी । उसने देखा कि चन्द्रमा में आपके मुख की थोड़ी बहुत समता पा जाती है । इससे चलो, उसी को देख देख, किसी तरह जी बहलावें और रात काट दें । परन्तु, वह चन्द्रमा भी, इस समय, पश्चिम दिशा की तरफ़ जा रहा है और आपके मुख का सादृश्य अब उससे अदृश्य हो रहा है । अतएव, निद्रा छोड़ कर अब आप इस अनन्यशरण लक्ष्मी को अवश्य ही अवलम्ब दीजिए । चन्द्रास्त हो जाने पर इसे बिलकुल ही निराश्रित न कर डालिए । उठिए, उठिए ।

"बाल-सूर्य की किरणों का स्पर्श होते ही, अभी ज़रा ही देर में, सूर्य्य-विकासी कमल खिल उठेंगे । आप भी अब अपने सुन्दर नेत्र खोल दीजिए । फिर, देखिए कि चञ्चल और काली काली कोमल पुतली वाले आपके ने- और भीतर भरे हुए चञ्चल भौंरों वाले कमल किस तरह एक दूसरे की बराबरी करते हैं । यदि दोनों एकही साथ अच्छी तरह खिल उठें तो य- देखने को मिल जाय कि आपके नेत्रों और कमलों में परस्पर कितना सादृश्य है । कुमार, इस प्रातःकालीन पवन को तो देखिए । यह बड़ा ही ईर्ष्या- है । आपके मुख के सुगन्धिपूर्ण स्वाभाविक श्वासोच्छ्वास की बराबरी कर- के लिए यह बड़ी बड़ी चेष्टायें कर रहा है । दूसरों के गुण उधार लेक- यह उसके सदृश सुगन्धित होना चाहता है । जान पड़ता है, इसी से य- वृक्षों की डालियों से शिथिल हुए फूलों को बार बार गिराता और सूर्य्य क-

किरणों से विकसित हुए कमलों को बार बार जा जा कर छूता है। वृक्षों के लाल लाल कोमल पत्तों पर पड़े हुए, अनमोल हार के गोल गोल मोतियों के समान स्वच्छ, ओस के कणों का दृश्य भी तो देखिए। आपके अरुणिमा-मय अधरों पर स्थान पाने और आपके दाँतों की शुभ्रकान्ति से मिलाप होने से और भी अधिक सुन्दरता को पानेवाली, आपकी लीला—मधुर मन्द मुसकान की तरह, ओस के ये बूँद, इस समय, बहुत ही शोभायमान हो रहे हैं।

"तेजोनिधि भगवान् सूर्य्यनारायण का अभी तक उदय भी नहीं हुआ कि इतने ही में अरुणोदय ने शीघ्रही सारे अन्धकार का नाश कर डाला। वीरवर अज, आप ही कहिए, युद्ध में जब आप आगे बढ़ते हैं तब क्या कभी आपके पिता को भी शत्रु-नाश करने का परिश्रम उठाना पड़ता है? कदापि नहीं। योग्य पुरुष को काम सौंप देने पर स्वामी के लिए स्वयं कुछ भी करना बाक़ी नहीं रह जाता।

"सारी रात, कभी इस करवट कभी उस करवट सोकर, देखिए, आपके हाथी भी अब जाग पड़े हैं और 'खनखन' बजती हुई ज़ँजीरों को खींच रहे हैं। बालसूर्य्य की धूप पड़ने से इनके दाँत, इस समय, ऐसे मालूम हो रहे हैं जैसे कि ये हाथी किसी पहाड़ के गेरू-भरे हुए तटों को अभी अपने दाँतों से तोड़े चले आ रहे हों। इनके दाँतों पर पड़ी हुई धूप गेरूही को तरह चमक रही है। हाथियों ही की नहीं, आपके घोड़ों की भी नींद खुल गई है। हे कमल-लोचन! देखिए, बड़े बड़े तम्बुओं के भीतर बँधे हुए आपके ये ईरानी घोड़े, आगे पड़े हुए सेंधा नमक के टुकड़े चाट चाट कर, अपने मुँह की उष्ण भाफ से उन्हें मैला कर रहे हैं। उपहार में आये हुए फूलों के जो हार आप कण्ठ में धारण किये हुए हैं उनके फूल भी इस समय बेहद कुम्हला गये हैं। पहले वे ख़ूब घने थे, पर अब कुम्हला जाने के कारण, दूर दूर हो गये हैं। आपके शय्यागार के ये दीपक भी, किरण-मण्डल के न रहने से, निस्तेज हो रहे हैं। आपके इस मधुरभाषी तोते को भी सोते से उठे बड़ी देर हुई। देखिए, आपको जगाने के लिए हम लोग जो स्तुति-पाठ कर रहे हैं उसी की नक़ल पींजड़े में बैठा हुआ, वह कर रहा है।"

बन्दीजनों के बालकों के ऐसे मनोहर वचन सुन कर अजकुमार की

नींद खुल गई और उसने इस तरह पलँग को तत्काल ही छोड़ दिया जिस तरह कि उन्मत्त राजहंसों के मधुर शब्द सुन कर जागा हुआ सुप्रतीक नामक सुरगज गङ्गा के रेतीले तट को छोड़ देता है।

पलँग से उठ कर उस ललित-लोचन अजकुमार ने, शास्त्र की रीति से, सन्ध्यावन्दन आदि सारे प्रातःकालीन कृत्य किये। तदनन्तर उसके निपुण नौकरों ने उसका, उस अवसर के योग्य, शृङ्गार किया—उसे अच्छे अच्छे कपड़े और गहने पहनाये। इस प्रकार ख़ूब सज कर, उसने, स्वयंवर में आये हुए राजाओं की सभा में जाकर बैठने के लिए, अपने डेरे से प्रस्थान किया।

छठा सर्ग।

—:०:—

इन्दुमती का स्वयंवर।

स्वयंवर की रङ्गभूमि में जाकर अज ने देखा कि सजे हुए मञ्चों पर रक्खे हुए सिंहासनों के ऊपर सैकड़ों राजा बैठे हुए हैं। उनके वेश बड़े ही मनोहर हैं। वे इस सज-धज से वहाँ बैठे हुए हैं कि विमानों पर बैठ कर आकाश में विहार करने वाले देवताओं की भी वेश-भूषा और हास-विलास को वे मात कर रहे हैं। रति की प्रार्थना पर प्रसन्न होकर शङ्कर ने जिस मन्मथ को उसका पहले का शरीर फिर भी देने की कृपा की, साक्षात् उसी के समान सुन्दर अजकुमार को देखते ही, वहाँ जितने राजा उपस्थित थे वे सभी निराशा के समुद्र में एक दम डूब गये। उन्होंने मन ही मन कहा :—"अब इन्दुमती के मिलने की कोई आशा नहीं। इस अलौकिक रूपवान् युवक को छोड़ कर वह हमें क्यों पसन्द करने लगी!"

रङ्ग-भूमि में अज के पहुँचने पर, राजा भोज ने उसके लिए निर्दिष्ट किया गया मञ्च उसे दिखला दिया और कहा कि आप इसी पर जाकर बैठें। यह सुन कर अजकुमार सजी हुई सीढ़ियों पर पैर रखता हुआ उस मञ्च पर इस तरह चढ़ गया जिस तरह कि टूटी हुई शिलाओं पर पैर रखता हुआ सिंह का बच्चा पर्वत के ऊँचे शिखर पर चढ़ जाता है। मञ्च पर रत्नखचित सिंहासन रक्खा था। उस पर बड़े मोल के, और कई रङ्गों से रञ्जित, क़ालीन बिछे थे। जिस समय अज उस सिंहासन पर जा बैठा उस समय उसकी शोभा मोर पर सवार होने वाले स्वामिकार्त्तिक की शोभा से भी अधिक हो गई—उस समय उसने अपने सौन्दर्य्यातिशय से कार्त्तिकेय की कान्ति को भी तुच्छ कर दिया।

बिजली एकही होती है। परन्तु जिस समय उसकी धारा अनेक मेघों

की पंक्तियों में विभक्त होकर एक ही साथ चमक उठती है उस समय का दृश्य बड़ा ही अद्‌भुत होता है। उस समय उसकी प्रभा इतनी बढ़ जाती है कि दर्शकों की आँखों को वह अत्यन्त ही असह्य हो जाती है। यही हाल, उस समय, स्वयंवर में एकत्र हुए राजाओं की शोभा का भी था। राज-लक्ष्मी यद्यपि अनेक नहीं, एक ही थी; तथापि उन सैकड़ों राजाओं की पंक्तियों में विभक्त होकर, एक ही साथ, जो उसके अनेक दृश्य दिखाई दिये उन्होंने उसकी प्रभा को बेतरह बढ़ा दिया। शरीर पर धारण किये गये रत्नों और वस्त्रालङ्कारों की जगमगाहट से दर्शकों की आँखों के सामने चकाचौंध लग गई। उनके नेत्र चौंधिया गये। राजाओं पर नज़र ठहरना मुश्किल हो गया। तथापि, अज की सी तेजस्विता किसी में न पाई गई। बड़े ही सुन्दर वस्त्राभरण धारण करके, बहुमूल्य सिंहासनों पर बैठे हुए उन सारे राजाओं के बीच, अपने सर्वाधिक सौन्दर्य्य और तेज के कारण, रघुनन्दन अज—कल्पवृक्षों के बीच पारिजात की तरह—सुशोभित हुआ। अतएव, फूलों से लदे हुए सारे वृक्षों को छोड़ कर भौंरे जिस तरह महा सुगन्धित मद चूते हुए जङ्गली हाथी पर दौड़ जाते हैं उसी तरह सारे राजाओं को छोड़ कर पुरवासियों के नेत्र-समूह भी अजकुमार पर दौड़ गये। सब लोग उसे ही एकटक देखने लगे।

इतने में राजाओं की वंशावली जानने वाले वन्दीजन, स्वयंवर में आये हुए सूर्य्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं की स्तुति करने लगे। रङ्ग-भूमि को सुवासित करने के लिए जलाये गये कृष्णागुरु चन्दन की धूप का धुवाँ, राजाओं की उड़ती हुई पताकाओं के भी ऊपर, फैला हुआ सब कहीं दिखाई देने लगा। मङ्गल-सूचक तुरही और शङ्ख आदि बाजों की गम्भीर ध्वनि दूर दूर तक दिशाओं को व्याप्त करने लगी; और, उसे मेघगर्जना समझ कर, नगर के आस पास उद्यानों में रहने वाले मोर आनन्द से उन्मत्त होकर नाचने लगे। यह सब हो ही रहा था कि अपने मन के अनुकूल पति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाली राजकन्या इन्दुमती, विवाहोचित वस्त्र धारण किये हुए, सुन्दर पालकी पर सवार, और कितनी ही परिचारिकाओं को साथ लिये हुए, आती दिखाई दी। मण्डप के भीतर, दोनों तरफ़ बने हुए मञ्चों के बीच, चौड़े राज-मार्ग में, उसकी पालकी रख दी गई।

आहा ! इस कन्यारत्न के अलौकिक रूप का क्या कहना ! उसका अनुपम सौन्दर्य्य ब्रह्मा की कारीगरी का सर्वोत्तम नमूना था । रङ्ग-भूमि में पहुँचते ही वह दर्शकों की हज़ारों आँखों का निशाना हो गई । सब की दृष्टि सहसा उसी की ओर खिच गई । और, स्वयंवर में आये हुए राजा लोगों का तो कुछ हाल ही न पूछिए । उन्होंने तो अपने मन, प्राण और अन्तःकरण सभी उस पर न्यौछावर कर दिये । उनकी अन्तरात्मा, आँखों की राह से इन्दुमती पर जा पहुँची । शरीर मात्र उनका सिंहासन पर रह गया । वे लोग काठ की तरह निश्चल-भाव से अपने आसनों पर बैठे हुए उसे देखने लगे । कुछ देर बाद, जब उनका चित्त ठिकाने हुआ तब, उन्होंने अनुराग-सूचक इशारों के द्वारा इन्दुमती का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा । उन्होंने मन में कहाः—लाओ, तब तक, अपने मन का अभिलाष प्रकट करने के लिए, शृङ्गारिक चेष्टाओं से ही दूती का काम लें। यदि हम लोग कमल के फूल, हाथ की उँगलियाँ और गले में पड़ी हुई मुक्ता-माला आदि को, पेड़ों के कोमल पल्लवों की तरह, हिला डुला कर इन्दुमती को यह सूचित करें कि हम लोग तुझे पाने की हृदय से इच्छा रखते हैं तो बहुत अच्छा हो। प्रीति-सम्पादन करने के लिए इससे बढ़ कर और कोई बात ही नहीं । इस निश्चय को उन्होंने शीघ्र ही कार्य्य में परिणत करके दिखाना आरम्भ कर दिया ।

एक राजा के हाथ में कमल का नाल-सहित एक फूल था । क्रीड़ा के लिए योंही उसने उसे हाथ में रख छोड़ा था । नाल को दोनों हाथों से पकड़ कर वह उसे घुमाने—चक्कर देने—लगा । ऐसा करने से फूल के पराग का भीतर ही भीतर एक गोल मण्डल बन गया और चञ्चल पँखुड़ियों की मार पड़ने से आस पास मण्डराने वाले, सुगन्ध के लोभी, भौंरे दूर उड़ गये । यह तमाशा उसने इन्दुमती का मन अपने ऊपर अनुरक्त करने के लिए किया । परन्तु फल इसका उलटा हुआ । इन्दुमती ने उसके इस काम को एक प्रकार का कुलक्षण समझा । उसने सोचाः—जान पड़ता है, इसे व्यर्थ हाथ हिलाने की आदत सी है । अतएव, यह मेरा पति होने योग्य नहीं ।

एक और राजा बहुत ही छैल-छबीला बना हुआ बैठा था । उसके

कन्धे पर पड़ा हुआ दुशाला अपनी जगह से ज़रा खिसक गया था। इस कारण उसका एक छोर, रत्न जड़े हुए उसके भुजबन्द से, वार वार उलझ जाता था। इन्दुमती पर अपना अनुराग प्रकट करने के लिए उसे यह अच्छा बहाना मिला। अतएव, पहले तो उसने उलझे हुए छोर को छुड़ाया; फिर, अपना मनोमोहक मुख ज़रा टेढ़ा करके, बड़े ही हाव-भाव के साथ, उसने दुशाले को अपने कन्धे पर अच्छी तरह सँभाल कर रक्खा। इस लीला से उसका चाहे जो अभिप्राय रहा हो; पर इन्दुमती ने इससे यह अर्थ निकाला कि इसके शरीर में कोई दोष जान पड़ता है। उसी को अपने दुशाले से छिपाने का यह यत्न कर रहा है।

एक राजा को कुछ और ही सूझी। उसने अपनी आँखें ज़रा टेढ़ी करके, कटाक्षपूर्ण दृष्टि से, नीचे की तरफ़ देखा। फिर, उसने अपने एक पैर की उँगलियाँ सिकोड़ लीं। इससे उन उँगलियों के नखों की आभा तिरछी होकर सोने के पायदान पर पड़ने लगी। यह खेल करके वह उन्हीं उँगलियों से पायदान पर कुछ लिखने सा लगा--उनसे वह रेखायें सी खींचने लगा। इस तरह उसने शायद इन्दुमती को अपने पास आने का इशारा किया; परन्तु इन्दुमती को उसका यह काम अच्छा न लगा। वात यह है कि नखों से ज़मीन पर रेखायें खींचना शास्त्र में मना किया गया है। इससे इन्दुमती ने ऐसा निषिद्ध काम करने वाले राजा को त्याज्य समझा।

एक अन्य राजा ने अपने वायें हाथ की हथेली को आधे सिंहासन पर रख कर उस तरफ़ के कन्धे को ज़रा ऊँचा उठा दिया। उठा क्या दिया, इस तरह हाथ रखने से वह आप ही आप ऊँचा हो गया। साथ ही इसके उसके कण्ठ में पड़ा हुआ हार भी, हाथ और पेट के वीच से निकल कर, पीठ पर लटकता दिखाई देने लगा। अपने शरीर की स्थिति में इस तरह का परिवर्त्तन करके, अपनी वाँई ओर वैठे हुए अपने एक मित्र राजा से वह वातें करने लगा। इसका भी यह काम इन्दुमती को पसन्द न आया। उसने मन में कहा—इस समय इसे मेरे सम्मुख रहना चाहिए, न कि मुझसे मुँह फेर कर—पराङ्मुख होकर—दूसरे से वातें करना। जव अभी इसका यह हाल है तव यदि मैं इसी को अपना पति वनाऊँ तो न मालूम यह कैसा सुलूक मेरे साथ करे!

एक और तरुण राजपुत्र की बात सुनिए। शृंगारप्रिय स्त्रियों के कान
ं खोंसने योग्य, और, कुछ कुछ पीलापन लिये हुए, केवड़े के फूल की
क पँखुड़ी उसके हाथ में थी। उसी को वह अपने नखों से नोचने लगा।
स बेचारे को ख़बर ही न थी कि उसका यह काम इन्दुमती को बुरा लगेगा।
तनके तोड़ते और नखों से पत्तों आदि पर लकीरें बनाते बैठना बेकारी का
ाचण है। शास्त्र में ऐसा करने की आज्ञा नहीं। इस बात को इन्दुमती
ानती थी। इसी से यह राजा भी उसका अनुराग-भाजन न हो सका।

एक अन्य राजा को और कुछ न सूझा तो उसने खेलने के पाँसे
नकाले। उन्हें उसने, कमल के समान लाल और ध्वजा की रेखाओं से
वह्नित, अपनी हथेली पर रक्खा। फिर अपनी हीरा-जड़ी अँगूठी की
ाभा से उन पाँसों की चमक को और भी अधिक बढ़ाता हुआ, हाव-
ाव-पूर्वक, वह उन्हें उछालने लगा। यह देख कर इन्दुमती के हृदय में
सके जुवारी नहीं, तो खिलाड़ी, होने का निश्चय हो गया। अतएव इसे
ी उसने अपने लिए अयोग्य समझा।

एक राजा का मुकुट, उसके सिर पर, जहाँ चाहिए था वहीं ठीक
क्खा हुआ था। परन्तु उसने यह सूचित सा करना चाहा कि वह अपनी
गह पर नहीं है; कुछ खिसक गया है। इसी बहाने वह अपना एक हाथ,
तसकी उँगलियों के बीच की ख़ाली जगह रत्नों की किरणों से परिपूर्ण सी
ा गई थी, बार बार अपने मुकुट पर फेरने लगा। इस व्यापार के द्वारा
ाजा ने तो शायद इन्दुमती से यह इशारा किया कि मैं तुझे मुकुट ही की
रह, अपने सिर पर, स्थान देने को तैयार हूँ। परन्तु इन्दुमती ने इसे भी
ार्थ ही हाथ घुमाने फिराने वाला, अतएव कुलक्षणी, ठहराया।

इसके अनन्तर स्वयंवर का मुख्य काम आरम्भ हुआ। सुनन्दा नाम
ी एक द्वारपालिका बुलाई गई। उपस्थित राजा लोगों की वंशावली इसे
ख़ूब याद थी। प्रत्येक राजा के पूर्व-पुरुषों तक का चरित यह अच्छी तरह
ानती थी। बातूनी भी यह इतनी थी कि पुरुषों के कान काटती थी। उस
मय मगध-देश का राजा सबसे अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था। इससे
न्दुमती को सुनन्दा पहले उसी के सामने ले गई। वहाँ उसने समयानुकूल
कृता आरम्भ की। कुमारी इन्दुमती से वह कहने लगी:—

"देख, यह मगध-देश का महा पराक्रमी परन्तप नामक राजा है। 'पर' शत्रु को कहते हैं। अपने शत्रुओं पर यह बेहद तपता है—उन्हें बहुत अधिक सन्ताप पहुँचाता है—इसी कारण, इसका 'परन्तप' नाम सच-मुच ही सार्थक है। शरण आये हुओं की रक्षा करना, यह अपना धर्म्म समझता है—शरणार्थियों को शरण देने में कभी आनाकानी नहीं करता। अपनी प्रजा को भी यह सदा सन्तुष्ट रखता है। इससे इसने संसार में बड़ा नाम पाया है। इसकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है। यों तो इस जगत् में सैकड़ों नहीं, हज़ारों राजा हैं, परन्तु यह पृथ्वी केवल इसी को यथार्थ राजा समझती है। 'राजन्वती' नाम इसे इसी राजा की बदौलत मिला है। रात को आकाश में, न मालूम कितने नक्षत्र, तारे और ग्रह उदित हुए देख पड़ते हैं; परन्तु उनके होते हुए भी जब तक चन्द्रमा का उदय नहीं होता तब तक कहीं चाँदनी नहीं दिखाई देती। एक मात्र चन्द्रमा ही की बदौलत रात को, 'चाँदनी वाली' संज्ञा प्राप्त हुई है। भूमण्डल के अन्यान्य राजा नक्षत्रों, तारों और ग्रहों के सदृश भले ही इधर उधर चमकते रहें; पर उन सब में अकेला परन्तप ही चन्द्रमा की बराबरी कर सकता है। इस राजा को यज्ञानुष्ठान से बड़ा प्रेम है। एक न एक यज्ञ इसके यहाँ सदा हुआ ही करता है, और, इन यज्ञों में अपना भाग लेने के लिए यह इन्द्र को सदा बुलाया ही करता है। इस कारण बेचारी इन्द्राणी को चिरकाल तक पति-वियोग की व्यथा सहन करनी पड़ती है। उसका मुँह पीला पड़ जाता है, बालों में मन्दार के फूलों का गूँथा जाना बन्द हो जाता है, और कंघी-चोटी न करने से उसकी रूखी अलकें पाण्डु-वर्ण कपोलों पर पड़ी लटका करती हैं। फिर भी इस राजा की यज्ञ-क्रिया बन्द नहीं होती; और, इन्द्राणी को वियोगिनी बना कर इन्द्र को इसके यज्ञों में जाना ही पड़ता है। यदि इस नृप-श्रेष्ठ के साथ विवाह करने की तेरी इच्छा हो तो उसे पूर्ण कर ले, और इसकी पुष्पपुर (पटना) नामक राजधानी में प्रवेश करते समय, इसके महलों की खिड़कियों मे बैठी हुई पुरवासिनी स्त्रियों के नेत्रों को, अपने दर्शनों से, आनन्दित कर।"

सुनन्दा के मुख से मगधेश्वर की ऐसी प्रशंसा सुन कर कृशाङ्गी इन्दु-मती ने आँख उठा कर एक बार उसकी तरफ़ देखा तो ज़रूर, पर बोली

कुछ भी नहीं। बिना अधिक झुके ही उसने उसे एक सीधा सा प्रणाम किया। उस समय दूब लगी हुई उसकी महुए की माला कुछ एक तरफ़ को हट गई और वह उस राजा को छोड़ कर आगे बढ़ गई।

यह देख कर, पवन की प्रेरणा से ऊँची उठी हुई लहर जिस तरह मानससरोवर की हंसी को एक कमल के पास से हटा कर दूसरे कमल के पास ले जाती है, उसी तरह, सुवर्णदण्ड धारण करने वाली वह द्वारपालिका इन्दुमती को दूसरे राजा के पास ले गई। उसके सामने जाकर सुनन्दा फिर बोली :—

"यह अङ्ग देश का राजा है। इसे तू साधारण राजा मत समझ। इसके रूप-लावण्य आदि को देख कर अप्सरायें तक इसे पाने की इच्छा करती हैं। इसके यहाँ पर्वताकार हाथियों की बड़ी अधिकता है। गजशास्त्र के आचार्य्य गौतम आदि विद्वान् उन हाथियों को सिखाने के लिए इसके यहाँ नौकर हैं। यद्यपि यह भूलोक ही का राजा है, तथापि इसका ऐश्वर्य्य स्वर्ग लोक के स्वामी इन्द्र के ऐश्वर्य्य से कम नहीं। स्वर्ग का सुख इसे भूमि पर ही प्राप्त है। इसने अपने शत्रुओं का संहार करके उनकी स्त्रियों को बेहद रुलाया है। उनके वक्षःस्थलों पर बड़े बड़े मोतियों के समान आँसू इसने क्या गिराये, मानो पहले तो इसने उनके मुक्ता-हार छीन लिये, फिर उन्हें बिना डोरे के करके उन्हीं को वे लौटा से दिये। लक्ष्मी और सरस्वती में स्वभाव ही से मेल नहीं। वे दोनों कभी एक जगह एकत्र नहीं रहतीं। परन्तु अपना सारा विरोधभाव भूल कर, वे दोनों ही इसकी आश्रित हो गई हैं। अब मैं देखती हूँ कि शरीर-कान्ति में लक्ष्मी से और मधुर वाणी में सरस्वती से तू किसी तरह कम नहीं। इस कारण उन दोनों के साथ बैठने योग्य, संसार में, यदि कोई तीसरी स्त्री है तो तूही है। अतएव यदि तू इस राजा को पसन्द कर लेगी तो एक ही से गुणोंवाली लक्ष्मी, सरस्वती और तू, तीनों की तीनों, एक ही जगह एकत्र हो जायँगी।"

सुनन्दा की इस उक्ति को सुन कर इन्दुमती ने अङ्ग देश के उस नरेश से अपनी आँख फेर ली और सुनन्दा से कहा—"आगे चल।" इससे यह न समझना चाहिए कि वह राजा इन्दुमती के योग्यही न था। और, न यही कहना चाहिए कि इन्दुमती में भले बुरे की परीक्षा का ज्ञान ही न

था। बात यह है कि लोगों की रुचि एक सी नहीं होती। इन्दुमती की रुचि ही कुछ ऐसी थी कि उसे वह राजा पसन्द न आया। बस, और कोई कारण नहीं।

इसके अनन्तर द्वारपालिका सुनन्दा ने इन्दुमती को एक और राजा दिखाया। अत्यन्त पराक्रमी होने के कारण वह अपने शत्रुओं को दुःसह हो रहा था—उसका तेज उसके शत्रुओं को असह्य था। परन्तु इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि उसमें कान्ति और सुन्दरता की कमी थी। नहीं, महाशूरवीर और तेजस्वी होने पर भी, उसका रूप—नवीन उदित हुए चन्द्रमा के समान—बहुतही मनोहर था। उसके पास खड़ी होकर इन्दुमती से द्वारपालिका कहने लगी:—

"राजकुमारी! यह अवन्तिका का राजा है। देख तो इसकी भुजायें कितनी लम्बी हैं। इसकी छाती भी बहुत चौड़ी है। इसकी कमर गोल है, पर विशेष मोटी नहीं। इसके रूप का वर्णन मुझसे नहीं हो सकता। इसकी शरीर-शोभा का क्या कहना है! यह, विश्वकर्म्मा के द्वारा सान पर चढ़ा कर बड़ी ही सावधानी से खरादे हुए सूर्य्य के समान, मालूम हो रहा है। जिस समय यह सर्वशक्तिमान् राजा अपनी सेना लेकर युद्ध-यात्रा के लिए निकलता है उस समय सब से आगे चलने वाले इसके घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल, बड़े बड़े सामन्त राजाओं के मुकुटों पर गिर कर, उनके रत्नों की प्रभा के अंकुरों का एक क्षण में नाश कर देती है। इसके सेना-समूह को देख कर ही इसके शत्रुओं के हृदय दहल उठते हैं और उनका सारा तेज क्षीण हो जाता है। उज्जैन में महाकाल नामक चन्द्रमौलि शङ्कर का जो मन्दिर है उसके पास ही यह रहता है। इस कारण कृष्ण-पक्ष में भी इसे—इसेही क्यों, इसकी रानियों तक को—शुक्ल-पक्ष का आनन्द आता है। शङ्कर के जटा-जूट में विराजमान चन्द्रमा के निकट ही रहने के कारण इसके महलों में रात को सदा ही चाँदनी बनी रहती है। सुन्दरी! क्या यह युवा राजा तुझे पसन्द है? यदि पसन्द हो तो सिप्रा नदी की तरङ्गों के स्पर्श से शीतल हुई वायु से कम्पायमान इसके फूल-बाग़ में तू आनन्द-पूर्वक विहार कर सकती है।"

चन्द्र-विकासिनी कुमुदनी जिस तरह सूर्य्य को नहीं चाहती—उसे

प्रेमभरी दृष्टि से नहीं देखती—उसी तरह वह सुकुमारगात्री इन्दुमती भी उस, बन्धुरूपी कमलों को विकसित करने और शत्रुरूपी कीचड़ को सुखा डालने वाले, राजसूर्य्य को अपना प्रीतिपात्र न बना सकी। बना कैसे सकती? सुकुमारता और उग्रता का साथ कहीं हो सकता है?

जब इन्दुमती ने इस राजा को भी नापसन्द किया तब सुनन्दा उसे अपने साथ लेकर अनूप देश के राजा के पास गई। वहाँ पहुँच कर, जिसकी कान्ति कमल के भीतरी भाग की तरह गौर थी, जो सुन्दरता और विनय आदि सारे गुणों की खान थी, जिसके दाँत बहुत ही सुन्दर थे, और जो ब्रह्मा की रमणीय सृष्टि का सर्वोत्तम नमूना थी उस राज्यकन्या इन्दुमती से सुनन्दा ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया:—

"प्राचीन समय में कार्त-वीर्य्य नाम का एक ब्रह्मज्ञानी राजा हो चुका है। उसका दूसरा नाम सहस्रार्जुन था, क्योंकि युद्ध में उसके पराक्रम को देखकर यह मालूम होता था कि उसके दो नहीं, किन्तु हज़ार, भुजायें हैं। वह इतना प्रतापी था कि अठारहों द्वीपों में उसने यज्ञ-स्तम्भ गाड़ दिये थे। कोई द्वीप ऐसा न था जहाँ उसके किये हुए यज्ञों का चिह्न न हो। वह अपनी प्रजा का इतना अच्छी तरह रञ्जन करता था कि 'राजा' की पदवी उस समय एक मात्र उसी को शोभा देती थी, दूसरों के लिए वह असाधारण हो रही थी। अपने प्रजा-जनों में से किसी के मन तक में अनुचित विचार उत्पन्न होते ही, वह, अपना धनुर्बाण लेकर, तत्काल ही उस मनुष्य के सामने जा पहुँचता था और उसके मानसिक कुविचार का वहीं नाश कर देता था। दूसरे राजा केवल वाणी और शरीर से किये गये अपराधों का ही प्रतीकार करते और अपराधियों को दण्ड देते हैं; परन्तु राजा कार्तवीर्य्य, ब्रह्मज्ञानी होने के कारण, मन में उत्पन्न हुए अपराधों का भी निवारण करने में सिद्ध-हस्त था। इससे उसके राज्य में किसी के मन में भी किसी और को दुःख पहुँचाने का दुर्विचार न उत्पन्न होने पाता था। लङ्केश्वर बड़ा ही प्रतापी राजा था। इन्द्र तक को उससे हार माननी पड़ी थी। परन्तु उसी इन्द्र-विजयी रावण की बीसों भुजाओं को, एक बार, कार्तवीर्य्य ने अपने धन्वा की डोरी से ख़ूब कस कर बाँध दिया। इस कारण, क्रोध और सन्ताप से जलते और अपने दसों मुखों से

उष्ण-श्वास छोड़ते हुए उस बेचारे को कार्तवीर्य्य के क़ैदखाने में महीनों पड़ा रहना पड़ा; और, जब तक वह कार्तवीर्य्य को प्रसन्न न कर सका तब तक उसका वहाँ से छुटकारा न हुआ। वेदों और शास्त्रों के पारङ्गत पण्डितों की सेवा करने वाला प्रतीप नाम का यह राजा उसी कार्तवीर्य्य राजा के वंश में उत्पन्न हुआ है। लक्ष्मी पर यह दोष लगाया जाता है कि वह स्वभाव ही से चञ्चल है; कभी किसी के पास स्थिर होकर नहीं रहती। उसकी इस दुष्कीर्त्ति के धब्बे को इस राजा ने साफ़ धो डाला है। बात यह है कि लक्ष्मी अपने चञ्चल स्वभाव के कारण किसी को नहीं छोड़ती; किन्तु अपने आश्रय-दाता में दोष देख कर ही, विवश होकर, उसे छोड़ देती है। यह बात इस राजा के उदाहरण से निर्भ्रान्त सिद्ध होती है। इसमें एक भी दोष नहीं। इसी से, जिस दिन से लक्ष्मी ने इसका आश्रय लिया है उस दिन से आज तक इसे छोड़ कर जाने का विचार तक कभी उसने नहीं किया। विश्व-विख्यात परशुराम के कुठार की तेज़ धार क्षत्रियों के लिए काल-रात्रि के समान थी। उसकी सहायता से उन्होंने एक नहीं, अनेक बार, क्षत्रियों का संहार कर डाला। परन्तु युद्ध में अग्नि की सहायता प्राप्त करके यह राजा परशुराम के परशु की उस तीक्ष्ण धार की भी कुछ परवा नहीं करता। उसे तो यह कमल के पत्ते के समान कोमल समझता है। अग्नि इसके वश में है। इसकी इच्छा होते ही वह इसके शत्रुओं को, युद्ध के मैदान में, जला कर ख़ाक कर देता है। जिसे इस पर विश्वास न हो वह महाभारत खोल कर देख सकता है। फिर भला यह परशुराम के परशु को कमल के पत्ते के समान कोमल क्यों न समझे? माहिष्मती नगरी इसकी राजधानी है। वहीं इसका क़िला है। वह माहिष्मती के नितम्ब के समान शोभा पाता है। जलों के प्रवाह से बहुत ही रमणीय मालूम होने वाली नर्म्मदा नदी उस क़िलेरूपी नितम्ब पर करधनी के समान जान पड़ती है। इसके महलों की खिड़कियों में बैठ कर यदि तू ऐसी मनोहारिणी नर्म्मदा का दृश्य देखना चाहे तो, ख़ुशी से, इस लम्बी लम्बी भुजाओं वाले राजा के अङ्ग की शोभा बढ़ा सकती है— इसकी अर्द्धाङ्गिनी हो सकती है।"

वर्षा-ऋतु में बादल चन्द्रमा को ढके रहते हैं। परन्तु शरत्काल आते

ही वे तितर बितर हो जाते हैं; उनका आवरण दूर हो जाता है। इससे चन्द्रमा, आकाश में, अपनी सोलहों कलाओं से परिपूर्ण हुआ दिखाई देता है और सारे संसार की आनन्द-वृद्धि का कारण होता है। तथापि ऐसा भी सर्वकलासम्पन्न चन्द्रबिम्ब जिस तरह सूर्य्य-विकासिनी कमलिनी को पसन्द नहीं आता, उसी तरह, यह राजा, अत्यन्त रूपवान् और सारी कलाओं में पारङ्गत होने पर भी, इन्दुमती को पसन्द न आया।

तब वह द्वारपालिका शूरसेन (मथुरा-प्रान्त) के राजा सुषेण के समीप इन्दुमती को ले गई। इस राजा का आचरण बहुत ही शुद्ध था। वह अपनी माता और अपने पिता, दोनों, के कुलों का दीपक था—उसके निष्कलङ्क व्यवहार के कारण दोनों कुल एक से उजियाले थे। उसकी कीर्ति इसी लोक में नहीं, किन्तु स्वर्ग और पाताल तक में गाई जाती थी। ऐसे अलौकिक राजा सुषेण की तरफ़ उँगली उठा कर इन्दुमती से सुनन्दा इस तरह कहने लगी:—

"यह राजा नीप नाम के वंश में उत्पन्न हुआ है। इसने न मालूम आज तक कितने यज्ञ कर डाले हैं। विद्या, विनय, क्षमा, क्रूरता आदि गुणों ने इसका आसरा पाकर अपना परस्पर का स्वाभाविक विरोध इस तरह छोड़ दिया है जिस तरह कि सिंह और हाथी, व्याघ्र और गाय आदि प्राणी, किसी सिद्ध पुरुष के शान्त और रमणीय आश्रम के पास आकर, अपना स्वाभाविक वैरभाव छोड़ देते हैं। चन्द्रमा की किरणों के समान आँखों को आनन्द देने वाली इसकी कीर्ति तो इसके निज के महलों में चारों तरफ़ फैली हुई देख पड़ती है; और इसका असह्य तेज इसके शत्रुओं के नगरों के भीतर उन ऊँचे ऊँचे मकानों में, जिनकी छतों पर घास उग रही है, चमकता हुआ देख पड़ता है। आत्मीय जनों को तो इससे सर्वोत्तम सुख मिलता है, और, शत्रुओं को प्रचण्ड पीड़ा पहुँचती है। यह इसके पराक्रम ही का परिणाम है जो इसके शत्रुओं के नगर उजड़ गये हैं और उनके ऊँचे ऊँचे मकानों के आँगनों तथा अटारियों में घास खड़ी है। इसकी राजधानी यमुना के तट पर है। इससे इसकी रानियाँ बहुधा उसमें जल-विहार किया करती हैं। उस समय उनके शरीर पर लगा हुआ सफ़ेद चन्दन धुल कर यमुना-जल में मिल जाता है। तब एक विचित्र दृश्य देखने

को मिलता है। गङ्गा और यमुना का सङ्गम प्रयाग में हुआ है और मथुरा से प्रयाग सैकड़ों कोस दूर है। परन्तु, उस समय, मथुरा की यमुना, प्रयाग की गङ्गा सी बन जाती है। गङ्गा का जो दृश्य प्रयाग में देख पड़ता है वही दृश्य इस राजा की रानियों के जल-विहार के प्रभाव से मथुरा में उपस्थित हो जाता है। गरुड़ से डरा हुआ कालियनाग, अपने बचने का और कोई उपाय न देख, इसकी राजधानी के पास ही, यमुना के भीतर, रहता है और यह उसकी रक्षा करता है। इसी कालिय ने इसे एक अनमोल मणि दी है। उसी देदीप्यमान मणि को यह, इस समय भी, अपने हृदय पर धारण किये हुए है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि उसे पहन कर यह कौस्तुभ-मणि धारण करने वाले विष्णु भगवान् को लज्जित सा कर रहा है। हे सुन्दरी! इस तरुण राजा को अपना पति बना कर, कुबेर के उद्यान के तुल्य इसके वृन्दावन-नामक उद्यान में, कोमल पत्तों की सेज पर फूल बिछा कर तू आनन्दपूर्वक अपने यौवन को सफल कर सकती है; और, जल के कणों से सींची हुई तथा शिलाजीत की सुगन्धि से सुगन्धित शिलाओं पर बैठ कर, वर्षा-ऋतु में, गोवर्धन-पर्वत के रमणीय गुहा-गृहों के भीतर मोरों का नाच चैन से देख सकती है।"

सागर में जाकर मिलने वाली नदी, राह में किसी पर्वत के आ जाने पर, जिस तरह चक्कर काट कर उसके आगे निकल जाती है उसी तरह जलके भँवर के सदृश सुन्दर नाभिवाली इन्दुमती भी, उस राजा को छोड़ कर, आगे बढ़ गई। बात यह थी कि उसका पाना उस राजा के भाग्य ही में न था; वह तो और ही किसी की वधू होने वाली थी।

शूरसेन देश के राजा को छोड़ कर राज-कन्या, इन्दुमती, कलिङ्ग-देश के राजा, हेमाङ्गद, के पास पहुँची। यह राजा महापराक्रमी था। अपने शत्रुओं का सर्वनाश करने में इसने बड़ा नाम पाया था। एक भी इसका वैरी ऐसा न था जिसे इससे हार न माननी पड़ी हो। भुजबन्द से शोभित भुजा वाले इस राजा के सामने उपस्थित होकर सुनन्दा, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुखवाली इन्दुमती से, कहने लगी:—

"यह राजा महेन्द्र-पर्वत के समान शक्ति रखता है। यह महेन्द्राचल

का भी मालिक है और महासागर का भी। ये दोनों ही इसी के राज्य की सीमा के भीतर हैं। युद्ध-यात्रा में इसके पर्वताकार मस्त हाथियों के समूह को देख कर यह मालूम होता है कि हाथियों के बहाने प्रत्यक्ष महेन्द्राचल ही, इसका सहायक बन कर, इसकी सेना के आगे आगे चल रहा है। कोई धनुर्धारी इसकी बराबरी नहीं कर सकता। धनुर्धारी योद्धाओं में इसी का नम्बर सबसे ऊँचा है। इसने अपने धन्वा को खींच खींच कर इतने बाण छोड़े हैं कि उसकी डोरी की रगड़ से इसकी दोनों सुन्दर भुजाओं पर दो रेखायें बन गई हैं। अपने शत्रुओं की राजलक्ष्मी को इसने अपनी भुजाओं से बलपूर्वक पकड़ पकड़ अपने यहाँ क़ैद किया है। पकड़ी जाने पर, उस लक्ष्मी के कज्जलपूर्ण आँसू इसकी भुजाओं पर गिरे हैं। इससे जान पड़ता है कि धनुष की डोरी की वे दो रेखायें नहीं, किन्तु शत्रु लक्ष्मी के काले काले अश्रु-जल से छिड़के हुए दो रास्ते हैं। इसका महल समुद्र के इतना निकट है कि खिड़कियों से ही उसके उत्ताल तरङ्ग दिखाई देते हैं। इसके यहाँ, पहर पहर पर, समय की सूचक तुरही नहीं बजती। यदि बजे भी तो सागर की मेघ-गम्भीर ध्वनि में ही वह डूब जाय; सुनाई ही न पड़े। इस कारण समुद्र की गुरुतर गर्जना से ही यह घड़ी-घंटे का काम लेता है। स्वयं समुद्र ही इसे सोते से जगाता भी है। वह इसके राज्य में रहता है न! इसीसे उसे भी इसकी सेवा करनी पड़ती है। इसके राज्य में समुद्र के किनारे किनारे ताड़ के पेड़ों की बड़ी अधिकता है। उनके वन के वन दूर तक चले गये हैं। इन पेड़ों के पत्ते जिस समय हवा से हिलते हैं उस समय उनसे बड़ा ही मनोहर शब्द होता है। इस राजा के साथ, समुद्र तट पर, ताड़ के पेड़ों की कुञ्जों में तुझे ज़रूर विहार करना चाहिए। यदि तू मेरी इस सलाह को मान लेगी तो द्वीपान्तरों में लगे हुए लौंग के सुगन्धित फूलों को छू कर आये हुए पवन के झकोरे तक तुझे प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे। पसीने की बूँदों को ज़रा भी वे तेरे शरीर पर न ठहरने देंगे—निकलने के साथ ही वे उन्हें सुखा देंगे।"

द्वारपालिका सुनन्दा ने, यद्यपि, इस तरह, उस लुभावने रूपवाली विदर्भ-नरेश की छोटी बहन को बहुत कुछ लोभ दिखाया, तथापि उसकी सलाह इन्दुमती को पसन्द न आई। अतएव उद्योगपूर्वक दूर से लाई हुई

लक्ष्मी जिस तरह भाग्यहीन को छोड़ जाती है उसी तरह वह भी उस अभागी राजा को छोड़ कर आगे बढ़ गई ।

तब इन्दुमती को द्वारपालिका सुनन्दा ने उरगपुर के देवतुल्य रूपवान् राजा के सामने खड़ा किया; और, उस चकोरनयनी से उस राजा की तरफ़ देखने के लिए प्रार्थना करके, वह उसका परिचय कराने लगी। वह बोली:—

"देख, यह पाण्ड्य-नरेश है। इसके शरीर पर पीले पीले हरिचन्दन का कैसा अच्छा खौर लगा हुआ है और इसके कन्धों से बड़े बड़े मोतियों का हार भी कैसी सुघरता से लटक रहा है। जिसके शिखरों पर बाल-सूर्य्य की पीली पीली, लालिमा लिये हुए, धूप फैल रही है और जिसके ऊपर से स्वच्छ जल के झरने झर रहे हैं—ऐसे पर्वतपति की छवि इसे देख कर याद आ जाती है। इस समय यह उसी के सदृश मालूम हो रहा है। राजकुमारी ! तू अगस्त्यमुनि को जानती है ? एक दफ़े विन्ध्याचल पर्वत, ऊँचा होकर, सूर्य और चन्द्रमा आदि की राह रोकने चला था। उसका निवारण अगस्त्य ही ने किया था। उन्हीं ने पहले तो समुद्र को पी लिया था; पर पीछे से उसे अपने पेट से बाहर निकाल दिया था। यही महामुनि अगस्त्य इस राजा के गुरु हैं। अश्वमेधयज्ञ समाप्त होने पर, अवभृथ नामक स्नान के उपरान्त, इस राजा का बदन सूखने भी नहीं पाता तभी, यही अगस्त्य बड़े प्रेम से इससे पूछते हैं—"यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया न ?" इसके महत्व और प्रभुत्व का अन्दाज़ा तू इस एक ही बात से अच्छी तरह कर सकती है। ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र प्राप्त करना बड़ा ही दुःसाध्य काम है। परन्तु, इस राजा ने देवाधिदेव शङ्कर को प्रसन्न करके उसे भी प्राप्त कर लिया है। इससे, पूर्वकाल में, जिस समय महाभिमानी लंकेश्वर रावण, इन्द्र को जीतने के लिए, स्वर्ग पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा, उस समय उसे यह डर हुआ कि ऐसा न हो जो मेरी गैरहाज़िरी में पाण्ड्यनरेश दण्डकारण्य का तहस नहस करके, वहाँ रहनेवाली मेरी राक्षसप्रजा का बिलकुल ही सर्वनाश कर डाले। अतएव पाण्ड्यनरेश से सन्धि करके—उसे अपना मित्र बना कर—तब रावण ने अमरावती पर चढ़ाई की। इसके पहले उसे अपनी राजधानी से हटने का साहस ही न

हुआ। यह राजा दक्षिण दिशा का स्वामी है; और, इस दिशा को रत्नों से परिपूर्ण समुद्र ने चारों तरफ़ से घेर रक्खा है। इससे वह दक्षिण दिशा की कमर में पड़े हुए कमरपट्टे के समान मालूम होता है। मेरी सम्मति है कि इस महाकुलीन राजा के साथ विधिपूर्वक विवाह करके, गरुई पृथ्वी की तरह, तू भी दक्षिण दिशा की सौत बनने का सौभाग्य प्राप्त कर। मलयाचल की सारी भूमि एक मात्र इसी राजा के अधिकार में है। यह भूमि इतनी रमणीय है कि मुझसे इसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। वह देखने ही लायक़ है। सुपारी के पेड़ों पर पान की बेलें वहाँ इतनी घनी छाई हुई हैं कि उन्होंने पेड़ों को बिलकुल ही छिपा दिया है। चन्दन के पेड़ों से वहाँ इलायची की लतायें इस तरह लिपटी हुई हैं कि वे उनसे किसी तरह अलग ही नहीं की जा सकतीं। तमाल के पत्ते, सब कहीं, वहाँ इस तरह फैले हुए हैं जैसे किसी ने हरे हरे क़ालीन बिछा दिये हों। तू इस राजा के गले में जयमाल डाल कर, मलयाचल के ऐसे शोभामय और सुखदायक केलि-कानन में, नित नया विहार किया कर। मेरी बात मान ले। अब देरी मत कर। प्रसन्नतापूर्वक इसे माला पहना दे। इस राजा के शरीर की कान्ति नीले कमल के समान साँवली है, और तेरे शरीर की कान्ति गोरोचना के समान गोरी। इस कारण, भगवान् करे, तुम दोनों का सम्बन्ध काले मेघ और चमकती हुई गोरी बिजली के समान एक दूसरे की शोभा को बढ़ावे!"

इस प्रकार सुनन्दा ने यद्यपि बहुत कुछ लोभ दिखाया और बहुत कुछ समझाया बुझाया, तथापि उसकी सीख को राजा भोज की बहन के हृदय के भीतर धँसने के लिए तिल भर भी जगह न मिली। उसका वहाँ प्रवेश ही न हो सका। इन्दुमती पर सुनन्दा की विकालत का कुछ भी असर न हुआ। सूर्य्यास्त होने पर, जिस समय कमल का फूल अपनी पँखुड़ियों को समेट कर बन्द हो जाता है उस समय, हज़ार प्रयत्न करने पर भी, क्या चन्द्रमा की किरण का भी प्रवेश उसके भीतर हो सकता है?

इसी तरह और भी कितने ही राजाओं को उस राजकुमारी ने देखा भाला; पर उनमें से एक भी उसे पसन्द न आया। एक एक को देखती और निराशा के समुद्र में डुबोती हुई वह आगे बढ़ती ही गई। हाथ में लालटैन लेकर जब कोई रात को किसी चौड़ी सड़क पर चलता है तब

लक्ष्मी जिस तरह भाग्यहीन को छोड़ जाती है उसी तरह वह भी उस अभागी राजा को छोड़ कर आगे बढ़ गई।

तब इन्दुमती को द्वारपालिका सुनन्दा ने उरगपुर के देवतुल्य रूपवान् राजा के सामने खड़ा किया; और, उस चकोरनयनी से उस राजा की तरफ़ देखने के लिए प्रार्थना करके, वह उसका परिचय कराने लगी। वह बोली:—

"देख, यह पाण्ड्य-नरेश है। इसके शरीर पर पीले पीले हरिचन्दन का कैसा अच्छा खौर लगा हुआ है और इसके कन्धों से बड़े बड़े मोतियों का हार भी कैसी सुघरता से लटक रहा है। जिसके शिखरों पर बाल-सूर्य्य की पीली पीली, लालिमा लिये हुए, धूप फैल रही है और जिसके ऊपर से स्वच्छ जल के झरने झर रहे हैं—ऐसे पर्वतपति की छवि इसे देख कर याद आ जाती है। इस समय यह उसी के सदृश मालूम हो रहा है। राजकुमारी! तू अगस्त्यमुनि को जानती है? एक दफ़े विन्ध्याचल पर्वत, ऊँचा होकर, सूर्य और चन्द्रमा आदि की राह रोकने चला था। उसका निवारण अगस्त्य ही ने किया था। उन्हीं ने पहले तो समुद्र को पी लिया था; पर पीछे से उसे अपने पेट से बाहर निकाल दिया था। यही महामुनि अगस्त्य इस राजा के गुरु हैं। अश्वमेधयज्ञ समाप्त होने पर, अवभृथ नामक स्नान के उपरान्त, इस राजा का वदन सूखने भी नहीं पाता तभी, यही अगस्त्य बड़े प्रेम से इससे पूछते हैं—"यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया न?" इसके महत्व और प्रभुत्व का अन्दाज़ा तू इस एक ही बात से अच्छी तरह कर सकती है। ब्रह्मशिरा नामक अस्त्र प्राप्त करना बड़ा ही दुःसाध्य काम है। परन्तु, इस राजा ने देवाधिदेव शङ्कर को प्रसन्न करके उसे भी प्राप्त कर लिया है। इससे, पूर्वकाल में, जिस समय महाभिमानी लंकेश्वर रावण, इन्द्र को जीतने के लिए, स्वर्ग पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा, उस समय उसे यह डर हुआ कि ऐसा न हो जो मेरी ग़ैरहाज़िरी में पाण्ड्यनरेश दण्डकारण्य का तहस नहस करके, वहाँ रहनेवाली मेरी राक्षसप्रजा का बिलकुल ही सर्वनाश कर डाले। अतएव पाण्ड्यनरेश से सन्धि करके—उसे अपना मित्र बना कर—तब रावण ने अमरावती पर चढ़ाई की। इसके पहले उसे अपनी राजधानी से हटने का साहस ही न

हुआ। यह राजा दक्षिण दिशा का स्वामी है; और, इस दिशा को रत्नों से परिपूर्ण समुद्र ने चारों तरफ़ से घेर रक्खा है। इससे वह दक्षिण दिशा की कमर में पड़े हुए कमरपट्टे के समान मालूम होता है। मेरी सम्मति है कि इस महाकुलीन राजा के साथ विधिपूर्वक विवाह करके, गरुई पृथ्वी की तरह, तू भी दक्षिण दिशा की सौत बनने का सौभाग्य प्राप्त कर। मलयाचल की सारी भूमि एक मात्र इसी राजा के अधिकार में है। यह भूमि इतनी रमणीय है कि मुझसे इसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। वह देखने ही लायक़ है। सुपारी के पेड़ों पर पान की बेलें वहाँ इतनी घनी छाई हुई हैं कि उन्होंने पेड़ों को बिलकुल ही छिपा दिया है। चन्दन के पेड़ों से वहाँ इलायची की लतायें इस तरह लिपटी हुई हैं कि वे उनसे किसी तरह अलग ही नहीं की जा सकतीं। तमाल के पत्ते, सब कहीं, वहाँ इस तरह फैले हुए हैं जैसे किसी ने हरे हरे क़ालीन बिछा दिये हों। तू इस राजा के गले में जयमाल डाल कर, मलयाचल के ऐसे शोभामय और सुखदायक केलि-कानन में, नित नया विहार किया कर। मेरी बात मान ले। अब देरी मत कर। प्रसन्नतापूर्वक इसे माला पहना दे। इस राजा के शरीर की कान्ति नीले कमल के समान साँवली है, और तेरे शरीर की कान्ति गोरोचना के समान गोरी। इस कारण, भगवान् करे, तुम दोनों का सम्बन्ध काले मेघ और चमकती हुई गोरी बिजली के समान एक दूसरे की शोभा को बढ़ावे!"

इस प्रकार सुनन्दा ने यद्यपि बहुत कुछ लोभ दिखाया और बहुत कुछ समझाया बुझाया, तथापि उसकी सीख को राजा भोज की बहन के हृदय के भीतर धँसने के लिए तिल भर भी जगह न मिली। उसका वहाँ प्रवेश ही न हो सका। इन्दुमती पर सुनन्दा की विकालत का कुछ भी असर न हुआ। सूर्य्यास्त होने पर, जिस समय कमल का फूल अपनी पँखुड़ियों को समेट कर बन्द हो जाता है उस समय, हज़ार प्रयत्न करने पर भी, क्या चन्द्रमा की किरण का भी प्रवेश उसके भीतर हो सकता है?

इसी तरह और भी कितने ही राजाओं को उस राजकुमारी ने देखा भाला; पर उनमें से एक भी उसे पसन्द न आया। एक एक को देखती और निराशा के समुद्र में डुबोती हुई वह आगे बढ़ती ही गई। हाथ में लालटैन लेकर जब कोई रात को किसी चौड़ी सड़क पर चलता है तब

जैसे जैसे वह आगे बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे सड़क पर ऊँचे उठे हुए पुश्ते, जिन्हें वह छोड़ता जाता है, अँधेरे में छिपते चले जाते हैं। ठीक उसी तरह, जिस जिस राजा को छोड़ कर पतिंवरा इन्दुमती आगे बढ़ती गई उस उसका मुँह धुँवा होता चला गया। उस उसके चेहरे पर अन्धकार के सदृश कालिमा छाती हुई चली गई।

जब वह अजकुमार के पास पहुँची तब यह सोच कर कि मुझसे यह विवाह करेगी या नहीं, उसका चित्त चिन्ता से आकुल हो उठा। इतने ही में उसकी दाहनी भुजा इस ज़ोर से फड़की कि उस पर बँधे हुए भुजबन्द का बन्धन ढीला पड़ गया। इस शकुन ने अज के सन्देह को दूर कर दिया। उसे विश्वास हो गया कि इन्दुमती अवश्य ही मेरे गले में वरणमाला पहनावेगी। अज बहुत ही रूपवान् राजकुमार था। उसका प्रत्येक अवयव सुन्दरता की खान था। उसके किसी अङ्ग में दोष का लवलेश भी न था। इस कारण, अज के सौन्दर्य्य पर इन्दुमती मोहित हो गई। अतएव, और किसी राजा के पास जाकर उसे देखने की इच्छा को उसने अपने हृदय से एक दम दूर कर दिया। ठीक ही है। फूले हुए आम के पेड़ पर पहुँच कर, भौंरों की भीड़ फिर और किसी पेड़ पर जाने की इच्छा नहीं करती।

बोलने में सुनन्दा बड़ी ही प्रवीण थी। चतुर भी वह एक ही थी। इससे वह झट ताड़ गई कि चन्द्रमा के समान कान्तिवाली चन्द्रवदनी इन्दुमती का चित्त अजकुमार के सौन्दर्य्य-सागर में मग्न हो गया है। अतएव वह अज का वर्णन, बड़े विस्तार के साथ, इन्दुमती को सुनाने लगी। वह बोली:—

"इक्ष्वाकु के कुल में ककुत्स्थ नाम का एक राजा हो गया है। वह अपने समय के सारे राजाओं में श्रेष्ठ था। गुणवान् भी वह सब राजाओं से अधिक था। तबसे, उसी के नामानुसार, उत्तर-कोशल के सभी उदाराशय राजा काकुत्स्थ कहलाते हैं। इस संज्ञा—इस पदवी—को बड़े मोल की चीज़ समझ कर वे इसे बराबर धारण करते चले आ रहे हैं। देवासुर-संग्राम के समय एक दफ़े इन्द्र ने राजा ककुत्स्थ से सहायता माँगी। ककुत्स्थ ने कहा—"तुम बैल बन कर अपनी पीठ पर मुझे सवार होने दो तो मैं तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ। मेरे लिए और कोई वाहन

सुभीते का नहीं। और से मेरा तेज सहन भी न होगा। इन्द्र ने इस बात को मान लिया। वह बैल बना और ककुत्स्थ उस पर सवार हुआ। उस समय वह साक्षात् वृषभवाहन शङ्कर के समान मालूम होने लगा। उसने, युद्ध में, अपने बाणों से अनन्त दैत्यों का नाश करके साथ ही उनकी स्त्रियों के कपोलों पर बने हुए केसर, कस्तूरी आदि के बेल-बूटों का भी नाश कर दिया। उन्हें विधवा करके उनके चेहरों को उसने शृङ्गार-रहित कर डाला। यह न समझ कि अपना मतलब निकालने ही के लिए बैल बन कर इन्द्र ने ककुत्स्थ को अपने ऊपर बिठाया था। नहीं, युद्ध समाप्त होने पर, जब इन्द्र ने अपनी स्वाभाविक मनोरमणीय मूर्त्ति धारण की तब भी उसने ककुत्स्थ का बेहद आदर किया। यहाँ तक कि उसे सुरेश ने अपने आधे सिंहासन पर बिठा लिया। उस समय ककुत्स्थ और इन्द्र एक ही सिंहासन पर इतने पास पास बैठे कि ऐरावत को बार बार थपकारने के कारण इन्द्र के ढीले पड़ गये भुजबन्द से राजा ककुत्स्थ का भुजबन्द रगड़ खाने लगा। इसी ककुत्स्थ के वंश में दिलीप नामक एक महा कीर्त्तिमान् और कुलदीपक राजा हुआ। उसका इरादा पूरे सौ यज्ञ करने का था। परन्तु उसने सोचा कि ऐसा न हो जो इन्द्र यह समझे कि पूरे एक सौ यज्ञ करके यह मेरी बराबरी करना चाहता है। अतएव इन्द्र के व्यर्थ द्वेष से बचने और उसे सन्तुष्ट रखने ही के लिए वह केवल निन्नानवेही यज्ञ करके रह गया। राजा दिलीप के शासन-समय में चोरी का कहीं नाम तक न था। फूल-बाग़ों में और बड़े बड़े उद्यानों में विहार करने के लिए गई हुई स्त्रियाँ, जहाँ चाहती थीं, आनन्द से सो जाया करती थीं। सोते समय उनके वस्त्रों को हटाने या उड़ाने का साहस वायु तक को तो होता न था। चोरी करने के लिए भला कौन हाथ उठा सकता था? इस समय उसका पुत्र रघु पिता के सिंहासन पर बैठा हुआ प्रजा का पालन कर रहा है। वह विश्वजित् नामक बहुत बड़ा यज्ञ कर चुका है। चारों दिशाओं को जीत कर उसने जो अनन्त सम्पत्ति प्राप्त की थी उसे इस यज्ञ में ख़र्च कर के, आज कल, वह मिट्टी के ही पात्रों से अपना काम चला रहा है। अपना सर्वस्व दान कर देने से अब उसके पास सम्पत्ति के नाम से केवल मिट्टी के बर्त्तन ही रह गये हैं। इस राजा का यश पर्वतों के शिखरों के

ऊपर तक पहुँच गया है; समुद्रों को तैर कर उनके पार तक निकल गया है; पाताल फोड़ कर नाग लोगों के नगरों तक फैल गया है; और, ऊपर, आकाश में, स्वर्गलोक तक चला गया है। इसके त्रिकालव्यापी यश की कोई सीमा ही नहीं। कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ वह न पहुँचा हो। न वह तौला ही जा सकता है और न मापा ही जा सकता है। यह अज-कुमार उसी राजा रघु का पुत्र है। स्वर्ग के स्वामी इन्द्र से जैसे जयन्त की उत्पत्ति हुई है वैसे ही रघु से इसकी उत्पत्ति हुई है। संसार के बहुत बड़े भार को यह, अपने राज-कार्य-कुशल पिता के समान, उसी तरह अपने ऊपर धारण कर रहा है जिस तरह नया निकाला हुआ बछड़ा, बड़े बैल के साथ जोते जाने पर, गाड़ी के बोझ को उसी के सदृश धारण करता है। कुल में, रूप-लावण्य में, नई उम्र में, और विनय आदि अन्य गुणों में भी यह सब तरह तेरी बराबरी का है। अतएव तू इसी को अपना वर बना। इस अजरूपी सोने का तेरे सदृश स्त्रीरूपी रत्न से यदि संयोग हो जाय तो क्या ही अच्छा हो। मणि-काञ्चन का संयोग जैसे अभिनन्दनीय होता है वैसे ही तुम दोनों का संयोग भी बहुत ही अभिनन्दनीय होगा।"

सुनन्दा का ऐसा मनोहारी भाषण सुन कर, राजकुमारी इन्दुमती ने अपने संकोच-भाव को कुछ कम करके, अजकुमार को प्रसन्नता-पूर्ण दृष्टि से अच्छी तरह देखा। देखा क्या मानो उसने दृष्टिरूपिणी वरमाला अर्पण कर के अज के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। शालीनता और लज्जा के कारण यद्यपि, उस समय, वह मुँह से यह न कह सकी कि मैंने इसे अपनी प्रीति का पात्र बना लिया, तथापि उस कुटिल-केशी का अज-सम्बन्धी प्रेम उसके शरीर को वेध कर, रोमाञ्च के बहाने, बाहर निकल ही आया। वह किसी तरह न छिपा सकी। अज को देखते ही, प्रेमाधिक्य के कारण, उसके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये।

अपनी सखी इन्दुमती की यह दशा देख कर, हाथ में बेत धारण करने वाली सुनन्दा को दिल्लगी सूझी। वह कहने लगी—"आर्य्ये! खड़ी क्या कर रही हो? इसे छोड़ो। चलो और किसी राजा के पास चलें।" यह सुन कर इन्दुमती ने रोषभरी तिरछी निगाह से सुनन्दा की तरफ़ देखा।

इसके अनन्तर मनोहर जंघाओं वाली इन्दुमती ने हलदी, कुमकुम

आदि मङ्गल-सूचक वस्तुओं से रँगी हुई माला, सुनन्दा के दोनों हाथों से, अज के कण्ठ में, आदरपूर्वक, यथा स्थान, पहनवा दी। उसने वह माला क्या पहनाई, उसके बहाने मानो उसने अज को अपना मूर्तिमान् अनुराग ही अर्पण कर दिया। फूलों की उस मङ्गलमयी माला को अपनी चौड़ी छाती पर लटकती हुई देख, चतुर-चूड़ामणि अज ने कहा—'यह माला नहीं, किन्तु विदर्भ-राज भोज की छोटी बहन इन्दुमती ने अपना बाहुरूपी पाश ही मेरे कण्ठ के चारों तरफ़ डाला है। इन्दुमती के बाहु-स्पर्श से जो सुख मुझे मिलता वही इस माला से मिल रहा है।'

अजकुमार के गले में इन्दुमती की पहनाई हुई वर-माला को देख कर, स्वयंवर में जितने पुरवासी उपस्थित थे उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। अज और इन्दुमती में गुणों की समानता देख कर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। अतएव एक-स्वर से वे सब बोल उठे:—"बादलों के घेरे से छूटे हुए चन्द्रमा से चाँदनी का संयोग हुआ है; अथवा अपने अनुरूप महासागर से भागीरथी गङ्गा जा मिली है।" ये वाक्य औरों को तो बड़े ही मीठे मालूम हुए; परन्तु जो राजा इन्दुमती को पाने की इच्छा से स्वयंवर में आये थे उनके कानों में ये काँटे के समान चुभ गये। उस समय एक तरफ़ तो वर-पक्ष के लोग आनन्द से फूले न समाते थे; दूसरी तरफ़ आशा-भङ्ग होने के कारण राजा लोग उदास बैठे हुए थे। ऐसी दशा में स्वयंवर-मण्डप के भीतर बैठा हुआ राज-समुदाय प्रातःकालीन सरोवर की उपमा को पहुँच गया—वह सरोवर जिसमें सूर्य्य-विकासी कमल तो खिल रहे हैं और चन्द्र-विकासी कुमुद, बन्द हो जाने के कारण, मलिन हो रहे हैं।

सातवाँ सर्ग।

—:o:—

इन्दुमती से अज का विवाह।

स्वयंवर समाप्त हो गया। इन्दुमती ने अपने अनुरूप पति पाया। महादेव के पुत्र, साक्षात् स्कन्ध, के साथ उनकी पत्नी देवसेना जिस तरह सुशोभित हुई थी उसी तरह वह भी सर्वगुण-सम्पन्न अज के साथ सुशोभित हुई। विदर्भ-नरेश को भी इस सम्बन्ध से बड़ी खुशी हुई। उसने अपनी बहन और बहनोई को साथ लेकर, स्वयंवर के स्थान से अपनी राजधानी के लिए प्रस्थान किया। जो राजा स्वयंवर में आये थे वे भी अपने अपने डेरों को गये। उस समय उन बेचारों की बड़ी बुरी दशा थी। उनका तेज क्षीण हो रहा था। उनके मुँह सूर्योदय होने के कुछ पहले, चन्द्रमा आदि ग्रहों के समान फीके पड़ गये थे। उनके चेहरों पर उदासीनता छाई हुई थी। इन्दुमती को न पाने से उनके सारे मनोरथ मिट्टी में मिल गये। उन्होंने अपने रूप को भी व्यर्थ समझा और अपनी वेश-भूषा को भी। यदि उनकी चलती तो वे अवश्य ही स्वयंवर के काम में विघ्न डालते। परन्तु यह उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। कारण यह था कि स्वयंवर की विधि आरम्भ होने के पहले ही इन्द्राणी की यथा-शास्त्र पूजा हुई थी। उसके प्रभाव से किसी भी राजा को विघ्न उपस्थित करने का ज़रा भी साहस न हुआ। अज को इन्दुमती का मिलना यद्यपि उन्हें बहुत ही बुरा लगा—मत्सर की आग से यद्यपि वे बेतरह जले—तथापि, वहाँ पर, उस समय, उनसे कुछ भी करते धरते न बना। लाचार वहाँ से उन्हें चुपचाप उठ जाना ही पड़ा।

उधर वह राज-समूह अपने अपने डेरों को गया। इधर अज ने, अपनी वधू के साथ, राजा भोज के महलों का मार्ग लिया। स्वयंवर से नगर तक चौड़ी सड़क थी। उस पर फूल बिछे हुए थे। जगह जगह पर मङ्गल-सूचक

सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं। इन्द्र-धनुष की तरह चमकते हुए रङ्ग-बिरंगे तोरण बँधे हुए थे। मार्ग के दोनों तरफ़ सैकड़ों झण्डियाँ गड़ी हुई थीं। ध्वजाओं और पताकों के कारण सड़क पर सर्वत्र छाया थी। धूप का कहीं नामो-निशान भी न था। अज ऐसे सजे हुए मार्ग से, वहाँ का दृश्य देखते देखते, नगर के समीप आ पहुँचा। अज के आगमन की सूचना पाते ही नगर की सुन्दरी स्त्रियाँ अपने अपने मकानों की, सोने की जाली लगी हुई, खिड़कियों में जमा होने लगीं। अज को देखने के चाव से वे इतनी उत्कण्ठित हो उठीं कि उन्होंने घर के सारे काम छोड़ दिये। जो जिस काम को कर रही थी उसे वह वैसा ही छोड़ कर, अज को देखने के लिए, खिड़की के पास दौड़ आई।

एक स्त्री अपने बाल सँवार रही थी। वह वैसी ही खुली अलकें लेकर उठ दौड़ी। इससे उनमें गुँथे हुए फूल ज़मीन पर टपकते चले गये। परन्तु इसकी उसे ख़बर भी न हुई। एक हाथ से अपनी बेनी पकड़े हुए वह वैसी ही चली गई। जब तक खिड़की के पास नहीं पहुँची तब तक उसने अपने खुले हुए बाल नहीं सँभाले। जब बालों पर हाथ ही लगाया था तब बाँधने में कितनी देरी लगती। परन्तु उसे एक पल की भी देरी सहन न हुई।

एक और स्त्री, उस समय, अपने पैरों पर महावर लगवा रही थी। उसका दाहना पैर नाइन के हाथ में था। उस पर आधा लगाया हुआ गीला महावर चुहचुहा रहा था। परन्तु इस बात की उसने कुछ भी परवा न की। पैर को उसने नाइन के हाथ से खींच लिया, और, अपनी लीला-ललाम मन्द-गति छोड़ कर, दौड़ती हुई खिड़की की तरफ़ भागी। अतएव जहाँ पर वह बैठी थी वहाँ से खिड़की तक महावर के बूँद बराबर टपकते चले गये और उसके पैर के लाल चिह्न बनते चले गये।

एक और स्त्री, उस समय, सलाई से काजल लगा रही थी। दाहनी आँख में तो वह सलाई फेर चुकी थी। पर बाईं में काजल लगाने के पहले ही अज के आने की उसे ख़बर मिली। इससे उसमें काजल लगाये बिना ही, सलाई को हाथ में लिये हुए ही, वह खिड़की के पास दौड़ गई।

एक और स्त्री का हाल सुनिए। वह बेतरह घबरा कर खिड़की की तरफ़ टकटकी लगाये दौड़ी। जल्दी में, चलते समय, उसकी साड़ी की गाँठ

खुल गई। परन्तु उसे उसने बाँधा तक नहीं। योंही उसे हाथ से थाँमे हुए वह खिड़की के पास खड़ी रह गई। उस समय उसके उस हाथ के आभूषणों की आभा उसकी नाभि के भीतर चली जाने से अपूर्व शोभा हुई।

एक स्त्री अपनी करधनी के दाने पोह रही थी। वह काम आधा भी न हो चुका था कि वह जल्दी से उठ खड़ी हुई और उलटे सीधे डग डालते अज को देखने के लिए दौड़ी। इससे करधनी के दाने ज़मीन पर गिरते चले गये। यहाँ तक कि सभी गिर गये। खिड़की के पास पहुँचने पर उसके पैर के अँगूठे में बँधा हुआ डोरा मात्र बाक़ी रह गया।

इस प्रकार उस रास्ते के दोनों तरफ़ जितने मकान थे उनकी खिड़कियों में इतनी स्त्रियाँ एकत्र हो गईं कि सर्वत्र मुख ही मुख दिखाई देने लगे। कहीं तिल भर भी जगह ख़ाली न रह गई। इससे ऐसा मालूम होने लगा कि उन खिड़कियों में हज़ारों कमल खिले हुए हैं। अज को देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुई इन स्त्रियों के मुख, कमल के सभी गुणों से, युक्त थे। कमल में सुगन्धि होती है; मुखों से भी सुवासित मद्य की सुगन्धि आ रही थी। कमलों पर भौंरे उड़ा करते हैं; मुखों में भी काले काले नेत्र चञ्चलता दिखा रहे थे।

अज को देखते ही पुरवासिनी स्त्रियों ने उसे अपनी आँखों से पीना सा आरम्भ कर दिया। उनकी दर्शनोत्कण्ठा इतनी बढ़ी हुई थी कि उस समय उन्हें संसार के और सभी काम भूल गये। यहाँ तक कि नेत्रों को छोड़ कर उनकी और इन्द्रियों ने अपने अपने विषय-व्यापार ही बन्द कर दिये। कानों ने सुनना और मुँह ने बोलना छोड़ दिया। सारांश यह कि सारी स्त्रियाँ बड़ी ही एकाग्र-दृष्टि से अज को देखने लगीं। उनका निर्निमेष अवलोकन देख कर यह भासित होने लगा जैसे उनकी अन्य सारी इन्द्रियाँ सम्पूर्ण-भाव से उनकी आँखों ही में घुस गई हों। अजकुमार को अच्छी तरह देख चुकने पर, पुरवासिनी स्त्रियों की दर्शनोत्कण्ठा जब कुछ कम हुई, तब वे परस्पर इस प्रकार बातें करने लगीं:—

"कितने ही बड़े बड़े राजाओं ने राजा भोज के पास दूत भेज कर इन्दुमती की मँगनी की थी—उन्होंने इन्दुमती के साथ विवाह करने की हार्दिक इच्छा, अपने ही मुँह से, प्रकट की थी—परन्तु इन्दुमती को यह बात पसन्द

न आई। उसने उनकी प्रार्थना स्वीकार न की। उसने साफ़ कह दिया कि बिना देखे मैं किसी के भी साथ विवाह करने का वचन नहीं दे सकती। जान पड़ता है, इसी से वे राजा लोग अप्रसन्न हो गये और स्वयंवर में नहीं आये। परन्तु हमारी समझ में इन्दुमती ने यह बहुत ही अच्छा किया जो उनमें से किसी को भी स्वीकार न किया। स्वयंवर में मनमाना पति आपही ढूँढ़ लेने का यदि वह निश्चय न करती तो—लक्ष्मी को नारायण के समान—उसे अज के सदृश अनुरूप पति कभी न मिलता। अज-इन्दुमती की अलौकिक जोड़ी हमें तो लक्ष्मीनारायण ही की जोड़ी के समान सुन्दर जान पड़ती है। हमने, आज तक, ऐसा अप्रतिम रूप और कहीं नहीं देखा था। यदि ब्रह्मा इन दोनों को परस्पर न मिला देता तो इन्हें इतना सुन्दर बनाने के लिए उसने जो प्रचण्ड परिश्रम किया था वह सारा का सारा अकारथ जाता। हमारी भावना तो यह है कि ये दोनों—इन्दुमती और अज—निःसन्देह रति और मन्मथ के अवतार हैं। यदि ऐसा न होता तो इतनी अप्रगल्भ होने पर भी यह इन्दुमती, हज़ारों राजाओं में से अपने ही अनुरूप इस राजकुमार को किसी तरह ढूँढ़ निकालती। बात यह है कि मन को पूर्व-जन्म के संस्कारों का ज्ञान बना रहता है। इन्दुमती और अज का, पूर्व-जन्म में, ज़रूर सङ्ग रहा होगा। उसी संस्कार की प्रेरणा से इन्दुमती ने अज को ही फिर अपना पति बनाया।"

इस तरह पुरवासिनी स्त्रियों के मुख से निकले हुए, कानों को अलौकिक आनन्द देने वाले, वचन सुनते सुनते अजकुमार राजा भोज के महल के पास पहुँच गया। जा कर उसने देखा कि द्वार पर जल से भरे कलश रक्खे हुए हैं। केले के खम्भ गड़े हुए हैं। वन्दनवार बँधे हुए हैं। अनेक प्रकार की मङ्गलदायक वस्तुओं और रचनाओं से महल की शोभा बढ़ रही है। द्वार पर पहुँच कर अजकुमार अपनी सवारी की हथिनी से उतर पड़ा। कामरूप-देश के राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे महल के भीतर ले चला। वहाँ राजा भोज के दिखाये हुए चौक में उसने प्रवेश क्या किया मानो राज-मन्दिर में एकत्र हुई स्त्रियों के मन में ही वह घुस गया—राजा भोज के मन्दिर में प्रवेश होने के साथही स्त्रियों के मन में भी

खुल गई। परन्तु उसे उसने बाँधा तक नहीं। योंही उसे हाथ से थाँमे हुए वह खिड़की के पास खड़ी रह गई। उस समय उसके उस हाथ के आभूषणों की आभा उसकी नाभि के भीतर चली जाने से अपूर्व शोभा हुई।

एक स्त्री अपनी करधनी के दाने पोह रही थी। वह काम आधा भी न हो चुका था कि वह जल्दी से उठ खड़ी हुई और उलटे सीधे डग डालते अज को देखने के लिए दौड़ी। इससे करधनी के दाने ज़मीन पर गिरते चले गये। यहाँ तक कि सभी गिर गये। खिड़की के पास पहुँचने पर उसके पैर के अँगूठे में बँधा हुआ डोरा मात्र बाक़ी रह गया।

इस प्रकार उस रास्ते के दोनों तरफ़ जितने मकान थे उनकी खिड़कियों में इतनी स्त्रियाँ एकत्र हो गईं कि सर्वत्र मुख ही मुख दिखाई देने लगे। कहीं तिल भर भी जगह ख़ाली न रह गई। इससे ऐसा मालूम होने लगा कि उन खिड़कियों में हज़ारों कमल खिले हुए हैं। अज को देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुई इन स्त्रियों के मुख, कमल के सभी गुणों से, युक्त थे। कमल में सुगन्धि होती है; मुखों से भी सुवासित मद्य की सुगन्धि आ रही थी। कमलों पर भौंरे उड़ा करते हैं; मुखों में भी काले काले नेत्र चञ्चलता दिखा रहे थे।

अज को देखते ही पुरवासिनी स्त्रियों ने उसे अपनी आँखों से पीना सा आरम्भ कर दिया। उनकी दर्शनोत्कण्ठा इतनी बढ़ी हुई थी कि उस समय उन्हें संसार के और सभी काम भूल गये। यहाँ तक कि नेत्रों को छोड़ कर उनकी और इन्द्रियों ने अपने अपने विषय-व्यापार ही बन्द कर दिये। कानों ने सुनना और मुँह ने बोलना छोड़ दिया। सारांश यह कि सारी स्त्रियाँ बड़ी ही एकाग्र-दृष्टि से अज को देखने लगीं। उनका निर्निमेष अवलोकन देख कर यह भासित होने लगा जैसे उनकी अन्य सारी इन्द्रियाँ सम्पूर्ण-भाव से उनकी आँखों ही में घुस गई हों। अजकुमार को अच्छी तरह देख चुकने पर, पुरवासिनी स्त्रियों की दर्शनोत्कण्ठा जब कुछ कम हुई, तब वे परस्पर इस प्रकार बातें करने लगीं:—

"कितने ही बड़े बड़े राजाओं ने राजा भोज के पास दूत भेज कर इन्दुमती की मँगनी की थी—उन्होंने इन्दुमती के साथ विवाह करने की हार्दिक इच्छा, अपने ही मुँह से, प्रकट की थी—परन्तु इन्दुमती को यह बात पसन्द

न आई। उसने उनकी प्रार्थना स्वीकार न की। उसने साफ़ कह दिया कि बिना देखे मैं किसी के भी साथ विवाह करने का वचन नहीं दे सकती। जान पड़ता है, इसी से वे राजा लोग अप्रसन्न हो गये और स्वयंवर में नहीं आये। परन्तु हमारी समझ में इन्दुमती ने यह बहुत ही अच्छा किया जो उनमें से किसी को भी स्वीकार न किया। स्वयंवर में मनमाना पति आपही ढूँढ़ लेने का यदि वह निश्चय न करती तो—लक्ष्मी को नारायण के समान—उसे अज के सदृश अनुरूप पति कभी न मिलता। अज-इन्दुमती की अलौकिक जोड़ी हमें तो लक्ष्मीनारायण ही की जोड़ी के समान सुन्दर जान पड़ती है। हमने, आज तक, ऐसा अप्रतिम रूप और कहीं नहीं देखा था। यदि ब्रह्मा इन दोनों को परस्पर न मिला देता तो इन्हें इतना सुन्दर बनाने के लिए उसने जो प्रचण्ड परिश्रम किया था वह सारा का सारा अकारथ जाता। हमारी भावना तो यह है कि ये दोनों—इन्दुमती और अज—निःसन्देह रति और मन्मथ के अवतार हैं। यदि ऐसा न होता तो इतनी अप्रगल्भ होने पर भी यह इन्दुमती, हज़ारों राजाओं में से अपने ही अनुरूप इस राजकुमार को किसी तरह ढूँढ़ निकालती। बात यह है कि मन को पूर्व-जन्म के संस्कारों का ज्ञान बना रहता है। इन्दुमती और अज का, पूर्व-जन्म में, ज़रूर सङ्ग रहा होगा। उसी संस्कार की प्रेरणा से इन्दुमती ने अज को ही फिर अपना पति बनाया।"

इस तरह पुरवासिनी स्त्रियों के मुख से निकले हुए, कानों को अलौकिक आनन्द देने वाले, वचन सुनते सुनते अजकुमार राजा भोज के महल के पास पहुँच गया। जा कर उसने देखा कि द्वार पर जल से भरे कलश रक्खे हुए हैं। केले के खम्भ गड़े हुए हैं। बन्दनवार बँधे हुए हैं। अनेक प्रकार की मङ्गलदायक वस्तुओं और रचनाओं से महल की शोभा बढ़ रही है। द्वार पर पहुँच कर अजकुमार अपनी सवारी की हथिनी से उतर पड़ा। कामरूप-देश के राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे महल के भीतर ले चला। वहाँ राजा भोज के दिखाये हुए चौक में उसने प्रवेश क्या किया मानो राज-मन्दिर में एकत्र हुई स्त्रियों के मन में ही वह घुस गया—राजा भोज के मन्दिर में प्रवेश होने के साथही स्त्रियों के मन में भी

उसका प्रवेश हो गया। राज-मन्दिर के चौक में एक बड़ा ही मूल्यवान् सिंहासन रक्खा हुआ था। उसी पर भोज-नरेश ने अज को आदरपूर्वक बिठाया। फिर उसने मधुपर्क और अर्घ्य आदि से उसकी पूजा की। तद-नन्तर थोड़े से रमणीय रत्न और रेशमी कपड़ों का एक जोड़ा उसने अज के सामने रक्खा। इस समय विदर्भ-नगर की स्त्रियाँ, अज पर, अपने कटाक्षों की वर्षा करने—उसे तिरछी नज़रों से देखने—लगीं। दी गई चीज़ों को अज ने स्त्रियों के कटाक्षों के साथही स्वीकार किया। उसने उन चीज़ों को भी सहर्ष लिया और स्त्रियों के कटाक्षों पर भी, मनही मन, हर्ष प्रकट किया। इस विधि के समाप्त हो जाने पर, रेशमी वस्त्र धारण किये हुए अज को, राजा भोज के चतुर और नम्र सेवकों ने, वधू के पास पहुँचाया। उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे नये चन्द्रमा के किरण-समूह ने, स्वच्छ फेन से परिपूर्ण समुद्र को, तट की भूमि के पास पहुँचा दिया हो। वहाँ, राजा भोज के परम-पूज्य और अग्निसमान तेजस्वी पुरोहित ने घी, साकल्य और समिधा आदि से अग्नि की पूजा की। हवन हो चुकने पर, उसी अग्नि को विवाह का साक्षी करके, उसने अज और इन्दुमती क ग्रन्थिबन्धन कर दिया—दोनों को वैवाहिक सूत्र में बाँध दिया। पासही उगी हुई अशोकलता के कोमल पल्लव से आम के पल्लव का संयोग होने आम जैसे अत्यधिक शोभा पाता है वैसेही वधू इन्दुमती के हाथ को नने हाथ पर रखने से अज की शोभा भी अत्यधिक बढ़ गई। उस समय ... वह दृश्य बहुतही हृदयहारी हो गया। वर का हाथ कण्टकित हो उठा—उस पर रोमाञ्च हो आया। वधू की उँगलियाँ भी पसीने से तर हो गईं। उन दोनों के हाथों का इस तरह मिलाप होने पर यह मालूम होने लगा जैसे प्रेम-देवता ने अपनी वृत्ति उन्हें एकसी बाँट दी हो। उन दोनों के मन में एक दूसरे के विषय में जो प्रीति थी वह काँटे में तुली हुई सी जान पड़ी। न किसी में रत्ती भर कम, न रत्ती भर अधिक। उस समय वे दोनों एक दूसरे को कनखियों देखने की चेष्टा करने लगे। परन्तु, उनमें से एक भी यह न चाहता था कि यह बात दूसरे को मालूम हो जाय। यदि भूल से उनकी आँखें आमने सामने हो जाती थीं तो तुरन्तही वे उन्हें नीची कर लेते थे। तिस पर भी एक दूसरे

को देखने की लालसा उनमें, उस समय, इतनी बलवती हो रही थी कि फिर भी वे अपनी चेष्टा से विरत न होते थे। अतएव लज्जा और लालसा के झूले में झूलने वाली उनकी आँखों की तत्कालीन मनोहरता देखने ही योग्य थी। कन्यादान हो चुकने पर वे दोनों, वधू-वर, प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करने लगे। उस समय—सुमेरु-पर्वत के आस पास फिरते हुए, अतएव एक दूसरे में मिल से गये दिन-रात की तरह—वे मालूम होने लगे। प्रदक्षिणा हो चुकने पर, राजा भोज के विधाता-तुल्य पुरोहित ने इन्दुमती को हवन करने की आज्ञा दी। तब बड़े बड़े नितम्बों वाली इन्दुमती ने धान की खीलें अग्नि में, लजाते हुए, डालीं। उस समय हवन का धुवाँ लगने से उसकी आँखें लाल हो गईं। इससे वे मतवाले चकोर पक्षी की आँखों की तरह मालूम होने लगीं। खीलें, शमी-वृक्ष की समिधा और घी आदि पदार्थों की आहुतियाँ हवन-कुण्ड में पड़ते ही अग्नि से उठे हुए पवित्र धुएँ की शिखा इन्दुमती के कपोलों पर छा गई। अतएव, ज़रा देर के लिए, वह इन्दुमती के कानों पर रक्खी हुई नीलकमल की कली की समानता को पहुँच गई—ऐसा मालूम होने लगा कि इन्दुमती के कानों के आस पास धुआँ नहीं छाया, किन्तु नीले कमल का गहना उसने कानों में धारण किया है। वैवाहिक हवन का धुआँ लगने से वधू के मुख-कमल की शोभा कुछ और ही हो गई। उसकी आँखें आकुल हो उठीं—उनसे काजल मिले हुए काले काले आँसू टपकने लगे; कानों में यवांकुर के गहने जो वह पहने हुए थी वे कुम्हला गये, और उसके कपोल लाल हो गये। इसके अनन्तर सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर और वधू के सिर पर (रोचनारंजित) गीले अक्षत डाले गये। पहले स्नातक गृहस्थों ने अक्षत डाले, फिर बन्धु-बान्धवों सहित राजा ने, फिर पति-पुत्रवती पुरवासिनी स्त्रियों ने।

इस प्रकार भोजवंश के कुलदीपक उस परम सौभाग्यशाली राजा ने, अपनी बहन का विधिपूर्वक विवाह-संस्कार कर के, स्वयंवर में आये हुए अन्य राजाओं का भी अच्छी तरह, अलग अलग, आदर-सत्कार करने के लिए अपने कर्म्मचारियों और अधिकारियों को आज्ञा दी। उन लोगों ने सारे राजाओं की यथेष्ट सेवा-शुश्रूषा की; उनके आदरातिथ्य में ज़रा भी कसर न पड़ने दी। परन्तु विदर्भ-नरेश के आतिथ्य से वे लोग सन्तुष्ट न

हुए । आतिथ्य चाहे कुछ भी न होता, इन्दुमती यदि उन्हें मिल जाती तो
वे अवश्य सन्तुष्ट हो जाते । परन्तु वह तो उसके भाग्यही में न थी । मिलती
कैसे ? ऊपर से तो इन लोगों ने प्रसन्नता प्रकट की, पर भीतरही भीतर
ईर्षा की आग से जलते रहे । उस समय उनकी दशा उस तालाब के सदृश
थी जिसका जल देखने में तो मोती के समान निर्मल हो, पर भीतर उसके
मगर और घड़ियाल आदि वड़े ही भयानक जलचर भरे हों । राजा भोज के
दिये हुए वस्त्र, शस्त्र और घोड़े आदि पहले तो उन्होंने ले लिये; पर, पीछे
से, विदा होते समय, वे उन्हीं चीज़ों को यह कह कर लौटाते गये कि इन्हें
आप हमारी दी हुई भेंट समझिए । इन राजाओं ने आपस में सलाह कर
के पहलेही यह निश्चय कर लिया था कि जिस तरह हो सके, इस इन्दुमती-
रूपी आमिष को अज से ज़रूरही छीन लेना चाहिए । अतएव, इन्दुमती
को साथ लेकर, विदर्भनगरी से अज के रवाना होने की वे ताक में थे ।
अपनी कार्य्यसिद्धि के लिए उन्होंने इसी मौक़े को सब से अच्छा समझा
था । इससे राजा भोज से विदा होकर वे उसकी राजधानी से चल तो
दिये; पर अपने अपने घर न जाकर, वीचही में, अज का रास्ता रोक कर
खड़े हो गये ।

इधर छोटी वहन का विवाह निर्विघ्न समाप्त हो चुकने पर, राजा भोज
ने अज को, अपने सामर्थ्य के अनुसार, दहेज में, वहुत कुछ धन-सम्पत्ति
देकर उसे प्रसन्न किया । तदनन्तर उसे विदा करके, कुछ दूर तक उसे
पहुँचा आने के इरादे से, आप भी उसी के साथ रवाना हुआ । त्रिलोक-
विख्यात अज के साथ वह कई मञ्जिल तक चला गया । रास्ते में तीन रातें
उसने काटीं । इसके वाद—अमावस्या समाप्त होते ही चन्द्रमा जिस प्रकार
सूर्य्य से अलग हो जाता है उसी प्रकार—वह भी अज का साथ छोड़ कर
लौट पड़ा ।

स्वयंवर में जितने राजा आये थे उनमें से प्रायः सभी की सम्पत्ति
राजा रघु ने छीन ली थी—सव को परास्त करके उसने उनसे कर लिया
था । इस वात ने पहले ही इन्हें रघु पर अत्यन्त क्रुद्ध कर दिया था । इकट्ठे
होने पर, इन लोगों का वह क्रोध और भी वढ़ गया; और, रघु के पुत्र अज
का स्त्री-रत्न पाना इन्हें असह्य हो उठा । अतएव, राजा वलि की दी हुई

सम्पत्ति लेते समय, वामनावतार विष्णु के तीसरे पैर को, वामन-पुराण के लेखानुसार, जिस तरह प्रह्लाद ने रोका था, उसी तरह, इन्दुमती को ले जाते हुए अज के मार्ग को इन उद्धत और अभिमानी राजाओं के समूह ने रोका। अपनी अपनी सेना लेकर वे मार्ग में खड़े हो गये और युद्ध के लिए अज को ललकारने लगे। यह देख, अपने पिता के विश्वासपात्र मंत्री को बहुत से योद्धे देकर, इन्दुमती की रक्षा का भार तो अज न उसे सौंपा; और, स्वयं आप उन राजाओं की सेना पर इस तरह जा गिरा—इस तरह टूट पड़ा—जिस तरह कि उत्ताल-तरङ्ग-धारी सोनभद्र नद हहराता हुआ गङ्गा में जा गिरता है।

घन-घोर युद्ध छिड़ गया। पैदल पैदल से, घोड़े का सवार घोड़े के सवार से, हाथी का सवार हाथी के सवार से भिड़ गया। जो जिसके जोड़ का था वह उसको ललकार कर लड़ने लगा। तुरही आदि मारू बाजे, दोनों पक्षों की सेनाओं में, बजने लगे। उनके तुमुलनाद से दिशायें इतनी परिपूर्ण हो गईं कि धनुर्धारी योद्धाओं के शब्दों का सुना जाना असम्भव हो गया। इस कारण उन लोगों ने मुँह से यह बताना व्यर्थ समझा कि हम कौन हैं और किस वंश में हमारा जन्म हुआ है। यदि वे इस तरह अपना परिचय देकर एक दूसरे से भिड़ते तो उनके मुख से निकले हुए शब्द ही न सुनाई पड़ते। तथापि यह कठिनाई एक बात से हल हो गई। योद्धाओं के बाणों पर उनके नाम खुदे हुए थे। उन्हीं को पढ़ कर उन लोगों को एक दूसरे का परिचय प्राप्त हुआ।

रथों के पहियों से उड़ी हुई धूल ने घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल को और भी गाढ़ी कर दिया। धूल के उस घनीभूत पटल को हाथियों ने अपने कान फटकार फटकार कर चारों तरफ़, इतना फैला दिया कि वह मोटे कपड़े की तरह आकाश में तन गई। फल यह हुआ कि सूर्य्य बिलकुल ही ढक गया—दिन की रात सी हो गई। ज़ोर से हवा चलने के कारण मछलियों के चिह्न वाली सेना की ध्वजायें ख़ूब फैल कर उड़ने लगीं। उनके तन जाने से ध्वजाओं पर बनी हुई मछलियों के मुँह भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गये। उन पर ज्यों ज्यों सेना की उड़ाई हुई गाढ़ी धूल गिरने लगी त्यों त्यों वे उसे पीने सी लगीं। उस समय ऐसा मालूम होने

लगा जैसे जीती जागती सच्ची मछलियाँ पहली बरसात का गँदला पानी पी रही हों। धीरे धीरे धूल ने और भी अधिक अपना प्रभाव जमाया। हाथ मारा न सूझने लगा। पहियों की आवाज़ न होती तो रथों के अस्तित्व का ज्ञान ही न हो सकता; गले में पड़े हुए घंटे न बजते तो हाथियों की स्थिति भी न जानी जा सकती; और, योद्धा लोग यदि चिल्ला चिल्ला कर अपने अपने स्वामियों का नाम न बताते तो शत्रु-मित्र की पहचान भी न हो सकती। शस्त्रों की चोट खा खाकर हज़ारों हाथी, घोड़े और सैनिक, लड़ाई के मैदान में, लोट गये। उनके घायल शरीरों से निकले हुए रुधिर की धारा बह चली। उसने, दृष्टि के अवरोधक उस रजोमय अन्धकार के लिए बाल-सूर्य्य का काम किया। सूर्य्योदय होने से अन्धकार जैसे दूर हो जाता है वैसे ही उस लाल लाल लोहू के प्रवाह ने, सब कहीं फैली हुई धूल को, कुछ कम कर दिया। उसने धूल की जड़ काट दी। वह नीचे होकर बहने लगा, धूल उसके ऊपर हो गई। ज़मीन से उसका लगाव छूट गया। इतने में हवा चलने से वह धूल ऊपर ही ऊपर उड़ने लगी। उस समय ऐसा जान पड़ने लगा जैसे लपट निकल चुकने पर आग में अङ्गारों का केवल ढेर रह गया हो और उसके ऊपर पहले का उठा हुआ धुआँ मँड़रा रहा हो।

गहरी चोट लगने से रथ पर सवार कितने ही सैनिक मूर्च्छित हो गये। यह देख, उनके सारथी उन्हें रथ पर डाल, युद्ध के मैदान से ले भागे। परन्तु, इतने में जो उन सैनिकों की मूर्च्छा छूटी और उन्हें होश आया तो उन्होंने इस तरह मैदान से भागने के कारण सारथियों को बेतरह धिकारा—उनकी बेहद निर्भर्त्सना की। अतएव उन्हें फिर रथ लौटाने पड़े। लौट कर उन सैनिकों ने अपने ऊपर प्रहार करने वालों को ढूँढ़ निकाला। यह काम सहजही हो गया, क्योंकि उन्होंने उनके रथों की ध्वजायें, अपने ऊपर प्रहार होते समय, पहलेही, अच्छी तरह देख ली थीं। अतएव, उन्हें ढूँढ़ कर, क्रोध से भरे हुए वे उन पर टूट पड़े और सूद-समेत बदला ले लिया। उन्होंने उनमें से एक को भी जीता न छोड़ा।

कोई कोई धनुषधारी धनुर्विद्या में बड़ेही निपुण थे। वे जब अपने शत्रुओं में से किसी को अपने बाण का निशाना बनाते थे तब बहुधा उनके

बाण उनके शत्रु बीचही में काट देते थे। परन्तु वे बाण इतने वेग से छूटते थे कि पिछला भाग कट जाने पर भी, लोहे का फल लगा हुआ उनका अगला भाग निशाने पर ही जाकर गिरता था। पिछला भाग तो कट कर गिर जाता था, पर अगला भाग निष्फल न जाता था—शत्रु को मार कर ही वह गिरता था।

जो सैनिक हाथियों पर सवार थे उनके चक्रों की धार छुरे की धार के समान तेज थी। उन चक्रों के आघात से महावतों के सिर कट कर कुछ दूर ऊपर आकाश में उड़ गये। वहाँ, सिरों के केश चीलहों के नखों में फँस जाने के कारण मुश्किल से छूटे। इससे, बड़ी देर बाद, वे ज़मीन पर धड़ाधड़ गिरे।

अब ज़रा घुड़सवारों के युद्ध की भी एक आध बात सुन लीजिए। एक ने यदि दूसरे पर प्रहार किया और वह मूर्च्छित होकर, घोड़े की गरदन पर सिर रख कर, रह गया—उसे अपने ऊपर वार करनेवाले पर हाथ उठाने का मौकाही न मिला—तो दुबारा प्रहार करने के लिए पहला तब तक ठहरा रहा जब तक दूसरे की मूर्च्छा न गई। मूर्च्छित अवस्था में शत्रु पर वार करना उसने अन्याय समझा। युद्ध में योद्धाओं ने धर्म्माधर्म्म का इतना खयाल रक्खा।

कवच धारण किये हुए योद्धाओं ने, मृत्यु को तुच्छ समझ कर, बड़ा ही भीषण युद्ध किया। अपने शरीर और प्राणों को उन्होंने कुछ भी न समझा। म्यान से तलवारें निकाल कर हाथियों के लम्बे लम्बे दाँतों पर, वे तड़ा तड़ मारने लगे। इस कारण उनसे चिनगारियाँ निकलने लगीं। इस पर हाथी बेतरह भयभीत हो उठे और सूँड़ों में भरे हुए पानी के कण बरसा कर किसी तरह उस आग को वे बुझा सके।

लड़ाई के मैदान ने, क्रम क्रम से, इतना भीषण और विकराल रूप धारण किया कि वह मृत्यु की पानभूमि, अर्थात् शराबखाने, की समता को पहुँच गया। पानभूमि में मद्य की नदियाँ बहती हैं; यहाँ रुधिर की नदियाँ बह निकलीं। वहाँ मद्य पीने के लिए काँच और मिट्टी के पात्र रहते हैं; यहाँ योद्धाओं के सिरों से गिरे हुए लोहे के टोपों ने पानपात्रों का काम दिया। वहाँ शराबियों की चाट के लिए फल रक्खे रहते हैं; यहाँ बाणों से काट गिराये गये हज़ारों सिर ही स्वादिष्ट फल हो गये।

किसी सैनिक की कटी हुई भुजा को मांसभोजी पक्षी खाने लगे। उसके दोनों सिरों से नोच नोच कर बहुत सा मांस वे खा भी गये। इतने में एक स्यारनी ने उसे देख पाया। वह झपटी और पक्षियों से उस अध-खाई भुजा को छीन लाई। उस पर, बीच में, मारे गये सैनिक का भुजबन्द ज्यों का त्यों बँधा था। इससे उसके नीचे का मांस पक्षियों के खाने से बच रहा था। स्यारनी ने जो दाँत उस पर मारे तो भुजबन्द की नोकों से उसका तालू छिद गया। अतएव, यद्यपि मांस उसे बहुतही प्यारा था, तथापि, लाचार होकर, उसे वह बाहु-खण्ड छोड़ ही देना पड़ा।

शत्रु के खड्गाघात से एक वीर का सिर कट कर ज्योंही ज़मीन पर गिरा त्योंही युद्ध में लड़ कर मरने के पुण्यप्रभाव से, वह देवता हो गया। साथही एक देवाङ्गना भी उसे प्राप्त हो गई और तत्काल ही वह उसकी बाईं तरफ़ विमान पर बैठ भी गई। इधर यह सब हुआ उधर उसका मस्तकहीन धड़, तब तक, समर-भूमि में, नाचता ही रहा। उसके नाच को विमान पर बैठे हुए इस वीर ने बड़े कुतूहल से देर तक देखा। अपने ही धड़ का नाच देखने को मिलना अवश्य ही कुतूहल की बात थी।

दो और वीर, रथ पर सवार, युद्ध कर रहे थे। उन दोनों ने परस्पर एक दूसरे के सारथी को मार गिराया। सारथीहीन रथ हो जाने पर वे खुदही सारथी का भी काम करने लगे और लड़ने भी। कुछ देर में उन दोनों के घोड़े भी मर कर गिर गये। यह देख वे अपने अपने रथ से उतर पड़े और गदा-युद्ध करने लगे। उन्होंने ऐसा भीषण युद्ध किया कि ज़रा देर बाद उनकी गदायें चूर चूर हो गईं। तब वे दोनों, परस्पर, योंही भिड़ गये और जब तक मरे नहीं बराबर मल्लयुद्ध करते रहे।

दो और वीरों का हाल सुनिए। बड़ी देर तक परस्पर युद्ध करके वे दोनों एक ही साथ घायल हुए और एक ही साथ मर भी गये। स्वर्ग जाने पर एक ने जिस अप्सरा को पसन्द किया, दूसरे ने भी उसी को पसन्द किया। फल यह हुआ कि वहाँ भी दोनों आपस में विवाद करने और लड़ने लगे—देवता हो जाने पर भी उनका पारस्परिक वैर-भाव न गया।

कभी आगे और कभी पीछे बहनेवाली वायु की बढ़ाई हुई, महासागर की दो प्रचण्ड लहरें जिस तरह कभी आगे को बढ़ जाती हैं और कभी

पीछे लौट जाती हैं, उसी तरह कभी तो अज की सेना, एकत्र हुए राजाओं की सेना की तरफ़, बढ़ती हुई चली गई और उसे हरा दिया; और, कभी राजाओं की सेना अज की सेना की तरफ़ बढ़ती हुई चली आई और उसे हरा दिया। बात यह कि कभी इसकी जीत हुई कभी उसकी। दो में से एक की भी हार पूरे तौर से न हुई। युद्ध जारी ही रहा। इस जय-पराजय में एक विशेष बात देख पड़ी। वह यह कि शत्रुओं के द्वारा अज की सेना के परास्त होने और थोड़ी देर के लिए पीछे हटजाने पर भी अज ने कभी एक दफ़े भी, अपना पैर पीछे को नहीं हटाया। वह इतना पराक्रमी था कि अपनी सेना को पीछे लौटती देख कर भी शत्रुओं की सेना ही की तरफ़ बढ़ता और उस पर आक्रमण करता गया। जब उसका कदम उठा तब आगे ही को कभी पीछे को नहीं। घास के ढेर में आग लग जाने पर, हवा उसके धुवें को चाहे भले ही इधर उधर कर दे; पर आग को वह उसके स्थान से ज़रा भी नहीं हटा सकती। वह तो वहीं रहती है जहाँ घास होती है। शरीर पर लोहे का कवच धारण किये, पीठ पर बाणों से भरा हुआ तूणीर लटकाये, हाथ में धनुष लिये, रथ पर सवार, उस महाशूर वीर और रणदुर्मद अज ने उन राजाओं के समूह का इस तरह निवारण किया जिस तरह कि महावराह विष्णु भगवान् ने, महाप्रलय के समय, बेतरह बढ़े हुए महासमुद्र का निवारण किया था। अज का वे बाल तक बाँका न कर सके। बाणविद्या में अज इतना निपुण था कि वह अपना दाहना अथवा बायाँ हाथ, बाण निकालने के लिए, कब अपने तूणीर में डालता और बाण निकालता था, यही किसी को मालूम न होता था। उस अलौकिक योद्धा के हस्तलाघव का यह हाल था कि उसके दाहने और बायें, दोनों हाथ, एक से उठते थे। धनुष की डोरी जहाँ उसने एक दफ़े कान तक तानी तहाँ यही मालूम होता था कि शत्रुओं का संहार करनेवाले असंख्य बाण उस डोरी से ही निकलते से—उससे ही उत्पन्न होते से—चले जाते हैं। अज ने इतनी फुर्ती से भल्ल नामक बाण बरसाना आरम्भ किया कि ज़रा ही देर में, कण्ठ कट कट कर, शत्रुओं के अनगिनत सिर ज़मीन पर बिछ गये। जिस समय अज के बाण शत्रुओं पर गिरते थे उस समय पहले तो उनके मुँह से हुङ्कार शब्द निकलता था। फिर मारे क्रोध के वे

अपने ही होंठ अपने दाँतों से काटने लगते थे। इससे होंठ और भी अधिक लाल हो जाते थे। इसके साथ ही, क्रोधाधिक्य के कारण, उनकी भौंहें बेतरह टेढ़ी हो जाती थीं। इससे भौंहों के ऊपर की रेखा और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगती थीं।

अज के अतुल पराक्रम को देख कर उसके शत्रु थर्रा उठे। उन्होंने कहा—इसे इस तरह जीतना असम्भव है। आवो, सब मिल कर इस पर एकबारगी टूट पड़ें। इस प्रकार उन्होंने उसके साथ अधर्म्मयुद्ध करने का निश्चय किया। हाथी, घोड़े, रथ आदि जितने अङ्ग सेना के हैं उन सबको, विशेष करके हाथियों को, उन्होंने एक ही साथ धावा करने के लिए आज्ञा दे दी। दृढ़ से भी दृढ़ कवचों को फाड़ कर शरीर के भीतर घुस जाने की शक्ति रखनेवाले जितने अस्त्र-शस्त्र थे उन सबको भी उन्होंने साथ लिया। इसके सिवा और भी जो जो उपाय उनसे करते बने वे भी सब उन्होंने किये। इस प्रकार ख़ूब तैयारी करके वे, सब के सब राजा, अकेले अज पर, आक्रमण करने के लिए दौड़ पड़े। उधर सर्वसिद्धता इधर एकाकीभाव! फल यह हुआ कि शत्रुओं की शस्त्रास्त्र-वर्षा से अज का रथ, प्रायः बिलकुल ही, ढक गया। उसकी ध्वजा मात्र, ऊपर, थोड़ी सी दिखाई देती रही। जिस दिन प्रातःकाल कुहरा अधिक पड़ता है उस दिन, यदि सूर्य्य का थोड़ा बहुत भी प्रकाश न हो तो, यही न मालूम हो सके कि प्रातःकाल हो गया है या अभी तक रात ही है। ऐसी दशा में, सूर्य्य के अत्यल्प प्रकाश से जिस तरह प्रातःकाल का ज्ञान लोगों को होता है, उसी तरह रथ के ऊपर उड़ती हुई ध्वजा की चोटी को देख कर ही सैनिक लोग अज को पहचान सके। शत्रुओं ने शस्त्र बरसा कर अज के रथ की ऐसी गति कर डाली।

इस दशा को प्राप्त होने पर, सार्वभौम राजा रघु के पुत्र, पञ्चशायक के समान सुन्दर, अज को प्रियंवद नामक गन्धर्व से पाये हुए सम्मोहनास्त्र की याद आई। कर्त्तव्य-पालन में अज बहुत ही दृढ़ था। आलस्य उसे छू तक न गया था। अतएव कर्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर उसने उस नींद लानेवाले अस्त्र को उन राजाओं पर छोड़ ही दिया। उसके छूटते ही राजाओं की सेना एकदम सो गई। सैनिकों के हाथ जहाँ के तहाँ जकड़

से गये। धनुष की डोरी खींचने में वे सर्वथा असमर्थ हो गये। लोहे की जाली के टोप सिरों से खिसक कर, एक तरफ़, उन लोगों के कन्धों पर आ रहे। सारे रथारोही सैनिक, अपने अपने शरीर ध्वजाओं के बाँसों से टेक कर, मूर्तियों के समान अचल रह गये। उँगली तक किसी से उठाई न गई। शत्रुओं की ऐसी दुर्दशा देख वीर-शिरोमणि अज ने अपने ओठों पर रख कर बड़े ज़ोर से शङ्ख बजाया। उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे, शङ्ख को मुँह से लगाने के बहाने, वह अपने बाहुबल से प्राप्त किये गये मूर्तिमान् यश को ही पी रहा हो।

अज के विजय-सूचक शङ्खनाद को उसके योद्धा पहचान गये। उसे सुनते ही उन्हें मालूम हो गया कि अज की जीत हुई। पहले तो वे तितर बितर होकर भाग रहे थे; पर शङ्खध्वनि सुन कर वे लौट पड़े। लौट कर उन्होंने देखा कि उनके सारे शत्रु निद्रा में मग्न हैं। अकेला अज ही उनके बीच, चैतन्य अवस्था में, फिर रहा है। रात के समय कमलों के बन्द हो जाने पर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस तरह उनके बीच में झिलमिलाता हुआ देख पड़ता है, चेष्टारहित शत्रुओं के समूह में अज को भी उन्होंने उसी तरह चलता फिरता देखा।

वैरियों को अच्छी तरह परास्त हुआ देख, अज ने युद्ध के मैदान से लौटना चाहा। परन्तु युद्ध-स्थल छोड़ने के पहले, रुधिर लगे हुए अपने बाणों की नोकों से उसने उन राजाओं के पताकों पर यह लिख दिया:—"याद रक्खो, अज तुम्हारे साथ निर्दयता का व्यवहार नहीं करना चाहता। दयार्द्र होकर उसने तुम्हारे प्राण नहीं लिये। केवल तुम्हारा यश ही लेकर उसने सन्तोष किया। यश खोकर और प्राण लेकर अब तुम ख़ुशी से अपने अपने घर जा सकते हो।"

यह करके वह संग्राम-भूमि से लौट पड़ा और भयभीत हुई प्रियतमा इन्दुमती के पास आया। उस समय उसके शरीर की शोभा देखने ही योग्य थी। उसके धनुष का एक सिरा तो ज़मीन पर रक्खा था। दूसरे, अर्थात् ऊपर वाले, सिरे पर उसका दाहना हाथ था। लोहे के टोप को सिर से उतार कर उसने बायें हाथ में ले लिया था। इससे उसका सिर खुला हुआ था।

पसीने के बूँद उसके मस्तक पर छाये हुए थे। इस तरह इन्दुमती के साम
खड़े होकर उसने कहा:—

“वैदर्भी! मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके ज़रा मेरे शत्रुओं को तो
एक नज़र से देख। कैसे काठ के से पुतले हो रहे हैं! न इनका हाथ हिलता
है, न पैर! इस समय, एक बच्चा भी, यदि चाहे तो, इनके हाथ से हथियार
छीन सकता है। इसी बल, पौरुष और पराक्रम के भरोसे ये तुझे मेरे हाथ
से छीन लेना चाहते थे। इन बेचारों को क्या ख़बर थी कि मेरे हाथ आ
जाने पर त्रिकाल में भी तू इन्हें न मिल सकेगी।”

अज के मुख से ऐसी आनन्द-दायक बात सुन कर इन्दुमती का शत्रु
सम्बन्धी सारा डर एकदम छूट गया—उसके मुख से भय और विषाद
के चिह्न दूर हो गये। अतएव—साँस की भाफ़ पुछ जाने से, पहली ही सी
निर्म्मलता पाये हुए आईने के समान—वह मुख बहुत ही मनोहर और
कान्तिमान हो गया। अज की जीत से इन्दुमती को यद्यपि परमानन्द हुआ
तथापि, लज्जा के कारण, वह अपने ही मुँह से अज की प्रशंसा और अपनी
प्रसन्नता न प्रकट कर सकी। यह काम उसने अपनी सखियों से कराया।
वर्षा के आरम्भ में नये जल की बूँदों से छिड़की गई भूमि जिस तरह
मयूरों की कूक से मेघों के समूह की प्रशंसा करती है, उसी तरह पति
के पराक्रम से प्रसन्न हुई इन्दुमती ने भी सखियों के मुख से उसकी
प्रशंसा की।

इस तरह सारे राजाओं के सिरों पर अपना बायाँ पैर रख कर—उन्हें
अच्छी तरह परास्त करके—और, सर्व-गुण-सम्पन्न इन्दुमती को साथ लेकर
निर्दोष अज अपने घर गया। अपने रथों और घोड़ों की उड़ाई हुई धूल
पड़ने से रूखे केशों वाली इन्दुमती को ही उसने रण की मूर्तिमती विजय-
लक्ष्मी समझा। उसने अपने मन में कहा—इन्दुमती की प्राप्ति के मुक़ाबले
में शत्रुओं पर प्राप्त हुई जीत कोई चीज़ नहीं। जीत की अपेक्षा इन्दुमती
को ही मैं अधिक आदरणीय और अधिक महत्व की चीज़ समझता हूँ।

अज के विवाह और विजय की बात राजा रघु को पहले ही मालूम हो
गई थी। अतएव बहुगुणशालिनी वधू को साथ लिये हुए जब वह अपने
नगर में पहुँचा तब राजा रघु ने उसकी बड़ी बड़ाई की और उसका [illegible]

चित स्वागत भी किया। ऐसे विजयी और पराक्रमी पुत्र को राज्यभार सौंप देने के लिए वह उत्सुक हो उठा। फल यह हुआ कि राज्य-शासन और कुटुम्ब-पालन का काम उसी क्षण उसने अज को दे दिया; और, आप शान्ति-पूर्वक मोक्षसाधन के काम में लग गया। उसने यह उचित ही किया। सूर्य्य-वंशी राजाओं की यही रीति है। अपने कुल में राज्य कार्य्य-धुरन्धर और कुटुम्ब-पोषक पुत्र होने पर, गृहस्थाश्रम में बने रहने की वे कभी इच्छा नहीं करते।

आठवाँ सर्ग।

—:०:—

अज का विलाप।

अज के हाथ में बँधा हुआ विवाह का कमनीय कङ्कण भी न खुलने पाया था कि उसके पिता रघु ने पृथ्वी भी, दूसरी इन्दुमती के समान, उसे सौंप दी। इन्दुमती की प्राप्ति के बाद ही पिता ने उसे पृथ्वी दे डाली। रघु ने उसी को राजा बना दिया; आप राज्य-शासन के झंझटों से अलग हो गया। अज के सौभाग्य को तो देखिए। जिसकी प्राप्ति के लिए राजाओं के लड़के बड़े बड़े घोर पाप—विष-प्रदान और हत्या आदि—तक करते हैं वही पृथ्वी अज को, बिना प्रयत्न किये ही, मिल गई। आपही आप आकर वह अज के सामने उपस्थित सी हो गई। उसे इस तरह हाथ आई देख अज ने उसे ग्रहण तो कर लिया; पर भोग करने की इच्छा से ग्रहण नहीं किया—चैन से सुखोपभोग करने के इरादे से उसने राज-पद को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा:—"मेरी तो यह इच्छा नहीं कि पिता के रहते मैं पृथ्वीपति बनूँ; परन्तु जब पिता की आज्ञा ही ऐसी है तब उसका उल्लंघन भी मैं नहीं कर सकता। इससे, लाचार होकर, मुझे पृथ्वी का पालन करना ही पड़ेगा।"

कुलगुरु वशिष्ठ ने, शुभ मुहूर्त में, उसकी अभिषेक क्रिया समाप्त की। अनेक तीर्थों से पवित्र जल मँगा कर वशिष्ठ ने उन जलों को अपने हाथ से अज पर छिड़का। ऐसा करते समय जलों के छींटे पृथ्वी पर भी गिरे। अतएव अज के अभिषेक के साथ ही पृथ्वी का भी अभिषेक हो गया। इस पर पृथ्वी ने, जल पड़ने से उठी हुई उज्ज्वल भाफ के बहाने, अपनी कृतार्थता प्रकट की। अज के सदृश प्रजारञ्जक राजा पाकर उसने अपने को धन्य माना।

अथर्ववेद के पूरे ज्ञाता महर्षि वशिष्ठ ने अज का अभिषेक-संस्कार विधिपूर्वक किया—अथर्ववेद में अभिषेक का जैसा विधान है उसी के अनुसार उन्होंने सब काम निबटाया। इस कारण अज का प्रताप, पौरुष और पराक्रम उसके शत्रुओं को दुःसह हो गया। वे उसका नाम सुनते ही थर थर काँपने लगे। अकेले अज का ही क्षात्र तेज उसके शत्रुओं को कँपाने के लिए काफ़ी था। वशिष्ठ के मन्त्र-प्रभाव से वह तेज और भी प्रखर हो गया। पवन के संयोग से अग्नि जैसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठता है वैसे ही ब्रह्म-तेज के संयोग से अज का क्षात्र तेज भी पहले से अधिक तीव्र हो गया।

अज, किसी बात में, अपने पिता से कम न था। पिता की केवल राज्य-लक्ष्मी ही उसने न प्राप्त की थी; उसके सारे गुण भी उसने प्राप्त कर लिये थे। इस कारण उसकी प्रजा ने उस नये राजा को फिर से तरुण हुआ रघु ही समझा। उस समय दो चीज़ों के दो जोड़े बहुत ही अधिक शोभायमान हुए। एक तो, अज के साथ उसके बाप-दादे के सम्पत्तिशाली राज्य का संयोग होने से, अज और राज्य का जोड़ा पहले से अधिक शोभाशाली हो गया। दूसरे, अज की स्वाभाविक नम्रता के साथ उसके नये यौवन का योग होने से, नम्रता और यौवन का जोड़ा विशेष शोभासम्पन्न हो गया। लम्बी लम्बी भुजाओं वाले—महाबाहु—अज ने, नई पाई हुई पृथ्वी का, नवोढ़ा वधू की तरह, सदय होकर भोग किया। उसने कहा:—"ऐसा न हो जो सख़्ती करने से यह डर जाय। अतएव, अभी, कुछ दिन तक, इसका शासन और उपभोग लाड़-प्यार से ही करना चाहिए।" इस प्रकार के आचरण का फल यह हुआ कि उसकी सारी प्रजा उससे प्रसन्न हो गई। सब लोग यही समझने लगे कि राजा अकेले हमीं को सबसे अधिक चाहता है। समुद्र में सैकड़ों नदियाँ गिरती हैं—सैकड़ों उसका आश्रय लेती हैं—परन्तु समुद्र उनमें से किसी को भी विमुख नहीं लौटाता; सब के साथ एक सा प्रीतिपूर्ण वर्त्ताव करता है। इसी तरह अज ने भी अपनी प्रजा में से किसी को भी अप्रसन्न होने का मौक़ा न दिया। जो उस तक पहुँचा उसे उसने प्रसन्न करके ही छोड़ा। न उसने बहुत कठोर ही नीति का अवलम्बन किया और न बहुत कोमल ही का। कठोरता का

व्यवहार करने की ज़रूरत पड़ने पर, कठोरता उसने दिखाई; पर बहुत अधिक नहीं। इसी तरह कोमलता का व्यवहार करने के लिए बाध्य होते पर कोमलता, से उसने काम लिया सही; पर इतना कोमल भी न हुआ कि कोई उससे डरे ही नहीं। कठोरता और कोमलता के बीच का मार्ग ग्रहण करके उसने—पवन जिस तरह पेड़ों को झुका कर छोड़ देता है उसी तरह—माण्डलिक राजाओं को झुका कर ही छोड़ दिया; उन्हें जड़ से नहीं उखाड़ा।

वृद्ध रघु को यह देख कर परमानन्द हुआ कि मेरे पुत्र को प्रजा इतना चाहती है और उसका राज्य सब तरह निष्कण्टक है। अब तक मोक्ष-साधन के उपायों में लगे रहने से उसे आत्मज्ञान भी हो गया था। अतएव, इस समय, उसने स्वर्ग के इन्द्रिय-भोग्य पदार्थों को भी तुच्छ समझा। उसने सोचा कि स्वर्ग के हों या पृथ्वी के, जितने भोग हैं, सभी विनाशवान् हैं। उनकी इच्छा करना मूर्खता है। अतएव वह उनसे एकदम विरक्त हो गया। बात यह है कि इस वंश के राजाओं की यह रीति ही थी। वृद्ध होने पर, ये लोग, अपने गुण-सम्पन्न पुत्र को राज्य सौंप कर, वृक्षों की छाल पहनने वाले योगियों का अनुकरण करते थे—विषयोपभोगों का परित्याग करके, संयमी बन, वन में, ये तपस्या करने चले जाते थे। रघु ने भी, इसीसे, उस रीति का अनुसरण करना चाहा। वह वन जाने के लिए तैयार हो गया। यह देख कर अज को बड़ा दुःख हुआ। सरपेंच से सुशोभित सिर को पिता के पैरों पर रख कर उसने कहा:—"तात! ऐसा न कीजिए। मुझे न छोड़िए। मैं निराश्रित हो जाऊँगा।" पुत्र को इस तरह कहते और रोते बिलखते देख, पुत्रवत्सल रघु ने अज की बात मान ली। वह वन को तो न गया; परन्तु, सर्प जिस तरह छोड़ी हुई केंचुल को फिर नहीं ग्रहण करता उसी तरह, उसने भी परित्याग की हुई लक्ष्मी को फिर नहीं लिया। छोड़ दिया सो छोड़ दिया। वह संन्यासी हो गया और नगर के बाहर, एक कुटी में, रहने लगा। वहाँ उसने अपनी सारी इन्द्रियों को जीत लिया। उस समय उसकी पुत्रभोग्या राज्य-लक्ष्मी ने उसके साथ पुत्रवधू की तरह व्यवहार किया। लक्ष्मी का पूर्व-सम्बन्ध रघु से छूट गया; उसका उपभोग अब उसका पुत्र करने लगा। तथापि, भले घर की पुत्रवधू जिस तरह अपने

ससुर की सेवा, जी लगा कर, करती है उसी तरह लक्ष्मी भी जितेन्द्रिय रघु की सेवा करती रही।

इधर तो रघु, एकान्त में, मोक्ष-प्राप्ति के उपाय में लगा; उधर नया राज्य पाये हुए अज का दिनों दिन अभ्युदय होने लगा। एक की शान्ति का समय आया, दूसरे के उदय का। अतएव, उस समय, इस प्रकार के दो राजाओं को पाकर इक्ष्वाकु का कुल उस प्रातःकालीन आकाश की उपमा को पहुँच गया जिसमें एक तरफ़ तो चन्द्रास्त हो रहा है और दूसरी तरफ़ सूर्य्योदय। रघु को संन्यासियों के, और, अज को राजाओं के चिह्न धारण किये देख सब लोगों को ऐसा मालूम हुआ जैसे मोक्ष और ऐश्वर्य्य रूपी भिन्न भिन्न दो फल देने वाले धर्म्म के दो अंश पृथ्वी पर उतर आये हों। अज की यह इच्छा हुई कि मैं सभी को जीत लूँ—ऐसा एक भी राजा न रह जाय जिसे मैंने न जीता हो। अतएव, इस उद्देश की सिद्धि के लिए उसने तो बड़े बड़े नीति-विशारदों को अपना मन्त्री बनाया और अपना अधिकांश समय उन्हीं के समागम में व्यतीत करने लगा। उधर रघु ने यह चाहा कि मुझे परम पद की प्राप्ति हो—मुझे आत्मज्ञान हो जाय। इससे सत्यवादी महात्माओं और योगियों की सङ्गति करके वह ब्रह्मज्ञान की चर्चा और योग-साधन में लीन रहने लगा। तरुण अज ने तो प्रजा के मामले-मुक़दमे करने और उनकी प्रार्थनायें सुनने के लिए न्यायासन का आसरा लिया। बूढ़े रघु ने, चित्त की एकाग्रता सम्पादन करने के लिए, एकान्त में, पवित्र कुशासन ग्रहण किया। एक ने तो अपने प्रभुत्व और बल की महिमा से पास-पड़ोस के सारे राजाओं को जीत लिया; दूसरे ने गहरे योगाभ्यास के प्रभाव से शरीर के भीतर भ्रमण करने वाले प्राण, अपान और समान आदि पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया। नये राजा अज के वैरियों ने, उसके प्रतिकूल, इस पृथ्वी पर, जितने उद्योग किये उन सब के फलों को उसने जला कर ख़ाक कर दिया; उनका एक भी उद्योग सफल न होने पाया। पुराने राजा रघु ने भी अपने जन्म-जन्मान्तर के कर्म्मों के बीजों को ज्ञानाग्नि से जला कर भस्म कर दिया; उसके सारे पूर्वसञ्चित संस्कार नष्ट हो गये। राजनीति में कहे गये सन्धि, विग्रह आदि छहों प्रकार के गुणों—व्यवहारों—का अज को पूरा पूरा ज्ञान था। उन पर उसका पूरा

अधिकार था। किस तरह के व्यवहार का कैसा परिणाम होगा, यह पह
ही से अच्छी तरह सोच कर, उसने इनमें से जिस व्यवहार क
जिस समय ज़रूरत समझी उसी का उस समय प्रयोग किया। रघु ने भी
मिट्टी और सोने को तुल्य समझ कर माया के सत्व, रज और तम
नामक तीनों गुणों को जीत लिया। नया राजा बड़ा ही दृढ़कर्म्मा था।
कोई काम छेड़ कर विना उसे पूरा किये वह कभी रहा ही नहीं। जब तक
कार्य्यसिद्धि न हुई तब तक उसने अपना उद्योग बराबर जारी ही रक्खा।
वृद्ध राजा रघु भी बड़ा ही स्थिर-बुद्धि और दृढ़-निश्चय था। जब तक उसे
ब्रह्म का साक्षात्कार न हो गया—जब तक उसने परमात्मा के दर्शन न कर
लिये—तब तक वह योगाभ्यास करता ही रहा। इस प्रकार दोनों ही ने
अपने अपने काम बड़ी ही दृढ़ता से किये। एक तो अपने शत्रुओं की चालों
को ध्यान से देखता हुआ उनके सारे उद्योगों को निष्फल करता गया।
दूसरे ने अपने इन्द्रियरूपी वैरियों पर अपना अधिकार जमा कर उनकी
वासनाओं का समूल नाश कर दिया। एक ने लौकिक अभ्युदय की
इच्छा से यह सब काम किया; दूसरे ने आत्मा को सांसारिक बन्धनों
से सदा के लिए छुड़ा कर मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से किया। अन्त को
दोनों के मनोरथ सिद्ध हो गये। दोनों ने अपनी अपनी अभीष्ट-सिद्धि पाई।
अज ने अजेय-पद पाया; रघु ने मोक्ष-पद।

समदर्शी रघु ने, अज की इच्छा पूर्ण करने के लिए, कई वर्ष तक,
योग-साधन किया। तदनन्तर, समाधि-द्वारा प्राण छोड़ कर, मायातीत और
अविनाशी परमात्मा में वह लीन हो गया।

पिता के शरीर-त्याग का समाचार सुन कर, नियम-पूर्वक अग्नि की
सेवा—अग्निहोत्र—करने वाले अज को बड़ा दुःख हुआ। उसने बहुत
विलाप किया और शोक से सन्तप्त होकर घंटों आँसू बहाये। तदनन्तर,
कितने ही योगियों और तपस्वियों को साथ लेकर उसने पिता की यथा-
विधि अन्त्येष्टि-क्रिया की; पर, पिता के शरीर का अग्नि-संस्कार न किया।
बात यह थी कि राजा रघु गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यासी हो गया था।
इस कारण संन्यासियों के मृत शरीर का जिस तरह संस्कार किया जाता
है उसी तरह अज ने भी पिता के शरीर का संस्कार किया। पितरों से

सम्बन्ध रखनेवाली जितनी क्रियायें हैं उन सब को अज अच्छी तरह जानता था। अतएव, पिता के परलोक-सम्बन्धी सारे कार्य्य उसने यथा-शास्त्र किये। पिता पर उसकी बड़ी भक्ति थी। इसी से उसने विधि-पूर्वक उसके और्ध्व-दैहिक कार्य्य निपटाये; यह समझ कर नहीं कि उनकी आवश्यकता थी। बात यह है कि इन कार्य्यों की कोई आवश्यकता ही न थी; क्योंकि संन्यास-ग्रहण के अनन्तर रघु ने समाधिस्थ होकर शरीर छोड़ा था। और, इस तरह शरीर छोड़ने वाले पुरुष, पुत्रों के दिये हुए पिण्डदान की आकाङ्क्षा ही नहीं रखते। वे तो ब्रह्म-पद को पहुँच जाते हैं। पिण्डदान से उन्हें क्या लाभ ?

पिता पर अज की इतनी प्रीति थी कि बहुत दिनों तक उसे पिता के मरने का शोक बना रहा। यह देख, बड़े बड़े विद्वानों और तत्व-वेत्ताओं ने उसे समझाना बुझाना शुरू किया। उन्होंने कहा—"आपके पिता तो परम-पद को प्राप्त हो गये—वे तो परमात्मा में लीन हो गये। अतएव उनके विषय में शोक करना वृथा है। शोक कहीं ऐसों के लिए किया जाता है ? इस प्रकार के तत्व-ज्ञान-पूर्ण उपदेश सुनने से, कुछ दिनों में, अज के हृदय से पिता के वियोग की व्यथा दूर हो गई। तब वह फिर अपना राज-काज, पहले ही की तरह, करने लगा। बरसों उसने अपने धनुष की डोरी खोली ही नहीं। सदा ही उसका धनुष चढ़ा रहा। फल यह हुआ कि वह सारे संसार का एकच्छत्र राजा हो गया।

महाप्रतापी राजा अज की एक रानी तो इन्दुमती थी ही। पृथ्वी भी उसकी दूसरी रानी ही के समान थी; क्योंकि उसका भी पति वही था। पहली ने तो अज के लिए एक वीर पुत्र उत्पन्न किया; और दूसरी, अर्थात् पृथ्वी, ने अनन्त रत्नों की ढेरी उसे भेंट में दी—इन्दुमती से तो उसने पुत्र पाया और पृथ्वी से नाना प्रकार के रत्नों की राशि। अज के पुत्र का नाम दशरथ पड़ा। दशानन के वैरी रामचन्द्र के पिता होने का सौभाग्य अज के इसी पुत्र को प्राप्त हुआ। वह दस सौ, अर्थात् एक हज़ार, किरण वाले सूर्य्य के सदृश कान्तिमान हुआ। दसों दिशाओं में अपना विमल यश फैलाने से उसकी बड़ी ही प्रसिद्धि हुई। बड़े बड़े विद्वानों और तपस्वियों तक ने उसकी कीर्ति के गीत गाये।

वेदाध्ययन करके ऋषियों के, यज्ञ कर के देवताओं के और पुत्र उत्पन्न कर के पितरों के ऋण से अज ने अपने को छुड़ा लिया। अतएव, तीनों प्रकार के ऋणों से छूटने पर, उसकी ऐसी शोभा हुई जैसी कि चारों तरफ़ उत्पन्न हुए घेरे—परिधि—से छूटे हुए सूर्य्य की शोभा होती है। उसने अपने वल और पौरुष का उपयोग भय-भीत लोगों का भय दूर करने ही के लिए किया, किसी को सताने के लिए नहीं। इसी तरह अपने शास्त्र-ज्ञान और पाण्डित्य का उपयोग उसने विद्वानों का आदर-सत्कार करने ही—उनके सामने नम्रता दिखाने ही—के लिए किया, अभिमानी वन कर उनकी अवज्ञा करने के लिए नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु इस महाप्रभुता-शाली सम्राट् ने अपना सारा धन भी परोपकार ही में ख़र्च किया। और कहाँ तक कहा जाय, उसने अपने अन्य गुणों से भी दूसरों ही को लाभ पहुँचाया। परोपकार ही को उसने सव कुछ समझा, स्वार्थ को कुछ नहीं।

कुछ दिनों तक सुपुत्र-प्राप्ति के सुख का अनुभव कर के और प्रजा को सव प्रकार प्रसन्न कर के, एक वार वह अपनी रानी इन्दुमती के साथ, अपने नगर के फूल-वाग़ में,—इन्द्राणी को साथ लिये हुए, नन्दनवन में, इन्द्र की तरह—विहार करने के लिए गया। उस समय, आकाश में, नारद मुनि उसी मार्ग से जा रहे थे जिस मार्ग से कि सूर्य्य आता जाता है। दक्षिणी समुद्र के तट पर गोकर्ण नामक एक स्थान है। वहाँ देवाधिदेव शङ्कर का निवास है— उनका वहाँ पर एक मन्दिर है। वीणा वजा कर उन्हीं को अपना गाना सुनाने के लिए देवर्षि चले जाते थे।

इतने में ज़ोर से हवा चली और उनकी वीणा के सिरे की खूँटियों पर लटकी हुई दिव्य फूलों की माला अपने स्थान से भ्रष्ट हो गई। उसकी अलौकिक सुगन्धि ने वायु के हृदय में मत्सर सा उत्पन्न कर दिया। अतएव वायु ने उस माला को गिरा दिया। सुगन्धि के लोभी कितने ही भौंरे उस माला पर मँड़रा रहे थे। माला के गिरते ही वे भी उसके साथ वीणा के ऊपर से उड़े। उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे वायु के इस काम से वीणा ने अपना अपमान समझा हो। अतएव दुखी हो कर वह, भौंरों के वहाने, काजल मिले हुए काले काले आँसू गिरा रही हो।

इस माला में अद्भुत सुगन्धि थी। इसके फूलों में मधु भी अलौकिक

ही था। अपनी अपनी ऋतु में फूलने वाली लताओं के सौन्दर्य्य, सुवास, पराग और रस-माधुर्य्य आदि गुण, इस माला के इन गुणों के सामने, कोई चीज़ ही न थे। यह जो नारद की वीणा से खिसकी तो अज की रानी इन्दुमती की छाती पर आ गिरी।

नर-श्रेष्ठ अज की प्रियतमा के वक्षःस्थल पर गिर कर वह माला वहाँ एक पल भर भी न ठहरी होगी कि इन्दुमती की दृष्टि उस पर पड़ी। उसे देखते ही इन्दुमती विह्वल हो गई और—राहु के द्वारा ग्रास किये गये चन्द्रमा की चाँदनी के समान--आँखें बन्द करके सदा के लिए अस्त हो गई। देखना, सुनना, बोलना आदि उसके सारे इन्द्रिय-व्यापार एकदम बन्द हो गये। उसके अचेतन शरीर ने अज को भी बेहोश करके ज़मीन पर गिरा दिया। प्रियतमा इन्दुमती को प्राणहीन देखतेही अज भी बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। गिरना ही चाहिए था। क्या दीपक के जलते हुए तेल के बूँद के साथ ही दीपक की लौ भी ज़मीन पर नहीं गिर जाती? अज और इन्दुमती की यह दशा हुई देख, उन दोनों के सेवकों ने बड़े ही उच्च-स्वर से रोना और विलाप करना आरम्भ कर दिया। उनका रोना-धोना सुन कर उस फूल-बाग़ के कमल-सरोवर में रहने वाले पक्षी तक घबरा उठे। भयभीत होकर वे भी कलकल शब्द करने और रोने लगे। उन्हें इस प्रकार रोता देख ऐसा मालूम होने लगा जैसे, राजा और रानी के सेवकों की तरह, वे भी दुखी हो रहे हैं। पंखा झलने और शीतल जल छींटने से अज की मूर्छा तो किसी तरह दूर होगई—वह तो होश में आ गया; पर, इन्दुमती वैसी ही निष्प्राण पड़ी रह गई। बात यह है कि ओषधि तभी तक अपना गुण दिखाती है जब तक आयु शेष रहती है। आयु का अन्त आ जाने पर ओषधियाँ काम नहीं करतीं।

चेतनता जाती रहने से निश्चेष्ट हुई इन्दुमती, उतरे हुए तारों वाली वीणा की उपमा को पहुँच गई। अत्यन्त प्रीति के कारण अज ने उसे उसी दशा में उठा लिया और अपने गोद पर रक्खा—उस गोद पर जिससे उसकी रानी पहले ही से परिचित थी। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण इन्दुमती के शरीर का रङ्ग बिलकुल ही पलट गया। उसकी चेष्टा ही कुछ और हो गई। उसके सर्वाङ्ग पर कालिमा सी छा गई। अतएव उसे

की गुञ्जार न सुनाई देती हो। सोते हुए निःशब्द कमल के समान तेरे इस मुख को देख कर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। रात से चन्द्रमा का वियोग हो जाने पर फिर भी वह उसे मिल जाती है। इसी तरह चकवे के साथ चकवी का भी फिर मिलाप हो जाता है। इसी से वे दोनों, किसी तरह, अपने वियोग-दुःख को सह लेते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी अपनी प्रियतमाओं के फिर मिलने की आशा रहती है। परन्तु तेरे तो फिर मिलने की मुझे कुछ भी आशा नहीं। तू तो सदा ही के लिए मुझे छोड़ गई। फिर, भला, तेरा वियोग मुझे आग की तरह क्यों न जलावे? हाँ, सुजंघे! एक बात तो बता। नये निकले हुए लाल लाल पत्तों के बिछौने पर भी लेटने से तेरा मृदुल गात दुखने लगता था। सो वही अब जलती हुई चिता पर कैसे चढ़ेगा? उसकी ज्वाला वह किस तरह सहेगा? यह सोच कर मेरी तो छाती फटी जाती है! देख, तेरी इस करधनी की क्या दशा हुई है! इस पर तेरी बड़ी ही प्रीति थी। तू सदा इसे कमर पर ही रखती थी। एकान्त की पहली सखी तेरी यही है। तेरा चलना-फिरना और विलास-विभ्रम आदि बन्द हो जाने से, इसने भी, इस समय, मौन धारण कर लिया है। यह जान गई है कि अब तू ऐसी सोई है कि फिर जागने की नहीं। इसी से, इसे इस तरह चुपचाप पड़ी देख, कोई यह नहीं कह सकता कि यह मरी नहीं, जीती है। देखने से तो यही जान पड़ता है कि तेरे वियोग से व्याकुल होकर इसने भी तेरा अनुगमन किया है। परलोक जाने के लिए यद्यपि तू उतावली हो रही थी, तथापि, मुझे धीरज देने के लिए, तू अपने कई गुण यहाँ छोड़ती गई। अपने मधुर वचन कोयलों को, मन्द-गमन हंसियों को, चञ्चल दृष्टि मृगनारियों को और हाव-भाव पवन की हिलाई हुई लताओं को तू देती गई। यह सब सच है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये चिह्न छोड़ कर तूने मुझ पर बड़ी कृपा की; परन्तु इनमें से एक की भी पहुँच मेरे हृदय तक नहीं हो सकती। तेरे वियोग की व्यथा से मेरा हृदय इतना व्याकुल हो रहा है कि यदि ये उस तक पहुँचें भी, तो भी, इन से उसकी सान्त्वना न हो सके। उसे अवलम्ब-दान देने में ये बिलकुल ही असमर्थ हैं।

"इस आम और प्रियंगुलता पर तेरी बड़ी ही प्रीति थी। तू ने इन

दोनों का एक जोड़ा बनाना चाहा था। तेरी इच्छा थी कि इन दोनों का विवाह हो जाय। परन्तु इनका मङ्गल-मय विवाह-विधान किये बिना ही तू जा रही है। यह बहुत ही अनुचित है। भला ऐसा भी कोई करता है? देख, यह तेरा अशोक-वृक्ष है। पैरों से छू कर तू ने इसका दोहद किया था। इस पर अब शीघ्र ही फूल खिलेंगे। यदि तू जीवित रहती तो इन्हीं फूलों को तू अपने बालों में गूँथती; यही तेरी अलकों की शोभा बढ़ाते। परन्तु, हाय! यही फूल अब मुझे तेरी अन्त्येष्टि-क्रिया में लगाने पड़ेंगे! तू ही कह, ऐसा हृदयविदारी काम किस तरह मुझ से हो सकेगा? हे सुन्दरी! नूपुर बजते हुए तेरे चरणों के स्पर्श को याद सा करता हुआ यह अशोक, फूलरूपी आँसू बरसा कर, तेरे लिए रो रहा है। इस पर तेरा बड़ा ही अनुग्रह था। इसी से, तेरे पैरों के जिस स्पर्श के लिए और पेड़ लालायित रहते थे उसी को तू ने इसके लिए सुलभ कर दिया था। तेरे उसी अनुग्रह को याद करके, तेरे सोच में, यह आँसू गिरा रहा है। अपनी साँस के समान सुगन्धित बकुल के फूलों की जिस सुन्दर करधनी को तू मेरे साथ बैठी हुई गूँथ रही थी, उसे अधगूँथी ही छोड़ कर तू सदा के लिए सो गई। हे किन्नरों के समान कण्ठवाली! यह तेरा सोना कैसा? इस तरह का व्यवहार करना तुझे शोभा नहीं देता। तेरे सुख में सुखी और दुख में दुखी होने वाली ये तेरी सखियाँ हैं। प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान छोटा, तथापि सुन्दर और हम लोगों की आशा का आधार, यह तेरा पुत्र है। एक मात्र तुझ से ही अनुराग रखने वाला यह तेरा प्रेमी मैं हूँ। तिस पर भी इन सारे प्रेम-बन्धनों को तोड़ कर तू ने यहाँ से प्रस्थान कर दिया! निष्ठुरता की हद हो गई।

"मेरा सारा धीरज छूट गया। मेरे सांसारिक सुखों ने जवाब दे दिया। मेरा गाना-बजाना बन्द हुआ। ऋतु-सम्बन्धी मेरे उत्सव समाप्त हो चुके। वस्त्राभूषणों की आवश्यकता जाती रही। घर मेरा सूना हो गया। हाय! हाय! मेरी इस दुःख-परम्परा का कहीं ठिकाना है! मैं किस किस बात को सोचूँ? मेरे घर की तू स्वामिनी थी। सलाह करने की आवश्यकता होने पर मेरी तू सलाहकार थी। एकान्त में मेरी तू सखी थी। और, सङ्गीत आदि ललित-कलाओं में मेरी तू प्यारी विद्यार्थिनी थी। निर्दयी मृत्यु

ने, तेरा नाश करके, मेरे सर्वस्व ही का नाश कर दिया। अब मेरे पास रह क्या गया? उसने तो सभी ले लिया; कुछ भी न छोड़ा। हे मतवाले नेत्रों वाली! मेरे मद्य पी चुकने पर, बचे हुए रसीले मद का स्वाद तुझे बहुत ही अच्छा लगता था। इसी से तू सदा मेरे पीछे मद्यपान किया करती थी। हाय! हाय! वही तू, अब, मेरे आँसुओं से दूषित हुई मेरी जलाञ्जली को, जो तुझे परलोक में मिलेगी किस तरह पी सकेगी? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरे लिए अनेक प्रकार के वैभव और ऐश्वर्य्य सुलभ हैं। परन्तु तेरे बिना वे मेरे किसी काम के नहीं। अज को जो सुख मिलना था मिल चुका। उसकी अवधि आज ही तक थी। संसार में जितने प्रलोभनीय पदार्थ और सुखोपभोग के सामान हैं उनकी तरफ़ मेरा चित्त नहीं खिंचता। मेरा सारा सांसारिक भोग-विलास एक मात्र तेरे आसरे था। तेरे साथ ही वह भी चला गया।"

अपनी प्रियतमा के मरने पर, कोसलेश्वर अज ने, इस प्रकार, घंटों बड़ा ही कारुणिक विलाप किया। उसका रोना-विलखना सुन कर मनुष्य ही नहीं, पेड़-पौधे तक रो उठे। डालों से टपकते हुए रसरूपी आँसू बरसवा कर अज ने पेड़ों को भी रुला दिया। उसके दुख से दुखी होकर, रस टपकाने के बहाने, पेड़ भी बड़े बड़े आँसू गिराने लगे।

बहुत देर बाद, अज के बन्धु-बान्धवों ने इन्दुमती के शव को अज की गोद से अलग कर पाया। तदनन्तर, उन्होंने इन्दुमती का शृङ्गार किया, जैसा कि मरने पर सौभाग्य स्त्रियों का किया जाता है। फिर उन्होंने उस मृत शरीर को अगर और चन्दन आदि से रची गई चिता पर रख कर उसे अग्नि के हवाले कर दिया। इन्दुमती पर अज का इतना प्रेम था कि वह भी उसी के साथ ही जल जाता। परन्तु उसने सोचा कि यदि मैं ऐसा करूँगा तो लोग यह कहेंगे कि इतना बड़ा राजा होकर भी स्त्री के वियोग-दुःख को न सह सका और उसी के सोच में वह भी उसी का अनुगमन कर गया। इसी अपवाद से बचने के लिए अज ने जल जाना मुनासिब न समझा, जीने की आशा अथवा जलने के डर से नहीं।

इन्दुमती तो रही नहीं; उसके गुणमात्र, याद करने के लिए, रह गये। उन्हीं का स्मरण करते हुए उस शास्त्रवेत्ता और विद्वान् राजा ने किसी तरह सूतक के दस दिन विताये। तदनन्तर, राजधानी के फूल-बाग़ में ही उसने

दशाह के बाद के सारे कृत्यों का सम्पादन, राजोचित रीति पर, बहुत ही अच्छी तरह किया। अपनी प्रियतमा रानी के परलोकगमन-सम्बन्धी कृत्य समाप्त करके, प्रातःकाल के क्षीणप्रभ चन्द्रमा के समान, उदासीन और कान्तिरहित अज ने, बिना इन्दुमती के, अकेले ही, अपने नगर में प्रवेश किया। उसे इस दशा में आते देख पुरवासिनी स्त्रियों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। अज ने उनके आँसुओं को आँसू न समझा। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे अश्रुधारा के बहाने स्त्रियों के मुखों पर उनके शोक का प्रवाह सा बह रहा हो। उसे देखते देखते, किसी तरह, वह अपने महलों में पहुँचा।

जिस समय यह दुर्घटना हुई—जिस समय अज पर यह विपत्ति पड़ी—महामुनि वशिष्ठ, अपने आश्रम में, यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे। इस कारण, अज को सान्त्वना देने के लिए वे उसकी राजधानी में न आ सके। परन्तु, योग-बल से उन्हें अज का सारा हाल मालूम हो गया। ध्यानस्थ होते ही उन्होंने जान लिया कि अज, इस समय, अपनी रानी के शोक में आकण्ठ, मग्न हो रहा है; वह अपने होश में नहीं। अतएव उन्होंने, अज को समझाने के लिए, अपना एक शिष्य भेजा। उसने आकर अज से कहा:—

"महर्षि वशिष्ठ को आपके दुःख का कारण मालूम हो गया है। उन्हें यह अच्छी तरह विदित हो गया है कि आप, इस समय, प्रकृतिस्थ नहीं। परन्तु वे यज्ञ की दीक्षा ले चुके हैं। इससे अपने सदुपदेश द्वारा आपका दुःख दूर करने के लिए वे स्वयं नहीं आ सके। यज्ञ का आरम्भ न कर दिया होता तो वे स्वयं आते और आपके स्वभाव में जो विकार उत्पन्न हो गया है उसे अवश्य ही दूर कर देते। मेरे द्वारा उन्होंने कुछ सँदेशा भेजा है। उस संक्षिप्त सन्देश को अपने हृदय में धारण करके मैं आपके पास उपस्थित हुआ हूँ। आप तो बड़े ही सदाचारशील और विवेकपूर्ण पुरुष हैं। धैर्य्य भी आप में बहुत है। आपके ये गुण सभी को विदित हैं। अतएव जो कुछ मैं आप से निवेदन करने जाता हूँ उसे सावधान होकर सुन लीजिए। यही नहीं, किन्तु उसे अपने हृदय में सादर स्थान देकर, उसके अनुसार वर्त्ताव भी कीजिए। सुनिए:—

"पुराण-पुरुष भगवान् त्रिविक्रम के तीनों पदों, अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और

पाताल इन तीनों लोकों, में जो कुछ हो चुका है, जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होनेवाला है उस सबको महर्षि वशिष्ठ अपनी प्रतिबन्धरहित ज्ञान-दृष्टि से देख सकते हैं। उस अजन्मा परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी एक भी बात नहीं जिसका ज्ञान महर्षि को न हो। वे सर्वज्ञ हैं। त्रिभुवन की समस्त घटनायें उन्हें हस्तामलक हो रही हैं। अतएव उनकी बातों को आप सर्वथा सच और विश्वसनीय समझिएगा। उनमें सन्देह न कीजिएगा। ऋषि ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं आपको एक पुरानी कथा सुनाऊँ। वह यह है कि तृणविन्दु नाम के एक ऋषि थे। एक दफ़े उन्होंने बड़ी ही घोर तपस्या आरम्भ की। उन्हें बहुत ही उग्र तप करते देख इन्द्र डर गया। उसने समझा, कहीं ऐसा न हो जो ये, इस तपस्या के प्रभाव से, मेरा आसन छीन लें। इस कारण उसने हरि नाम की अप्सरा को, तृणविन्दु मुनि की तपस्या भङ्ग करने के लिए, मुनि के आश्रम में भेजा। उसकी करतूत से मुनिवर तृणविन्दु के तपश्चरण में विघ्न उपस्थित हो गया। अतएव उन्हें बेहद क्रोध हो आया। प्रलय-काल की तरङ्गमाला के समान उस क्रोध ने मुनि की शान्ति-मर्य्यादा तोड़ दी। तब उन्होंने, सामने खड़ी होकर अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाने वाली हरिणी को, शाप दिया। उन्होंने कहा—जा तू, पृथ्वी पर, मानवी स्त्री हो।

"यह शाप सुनते ही हरिणी के होश उड़ गये। उसने निवेदन किया—मुनिवर! मैं पराधीन हूँ। दूसरे की भेजी हुई यहाँ आई हूँ। लाचार होकर मुझे स्वामी की आज्ञा माननी पड़ी है; खुशी से नहीं। इस कारण मेरा अपराध क्षमा कीजिए। निःसन्देह मैंने बहुत बुरा काम किया। इस प्रार्थना को सुन कर तृणविन्दु मुनि का हृदय दयार्द्र हो आया। उन्होंने कहा—अच्छा, देवताओं की पुष्पमाला का दर्शन होने तक ही तू पृथ्वी पर रहेगी। उसके दर्शन होते ही तेरा मानवी शरीर छूट जायगा और तू फिर अप्सरा होकर सुरलोक में आ जायगी।

"मुनि के शाप से उस अप्सरा का क्रथकैशिक वंश में जन्म हुआ। वहाँ उसने इन्दुमती नाम पाया और आपकी रानी बनने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ। बहुत काल तक आपके पास रहने के अनन्तर उसके शाप-मोचन का समय आया। तब आकाश से गिरी हुई माला के स्पर्श से उसका

मानवी शरीर छूट गया। वह करती क्या? आपको छोड़ जाने के लिए वह बेचारी विवश थी। इस कारण रानी के मरने की चिन्ता अब आप और न करें। जन्मधारियों को एक न एक दिन अवश्यही मरना पड़ता है—'जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः'। ऐसा कौन है जिसे जन्म लेकर विपत्तिग्रस्त न होना पड़ा हो? विपत्तियाँ तो मनुष्य के सामने सदाही खड़ी रहती हैं। अब आप इस पृथ्वी की तरफ़ देखें। आपको अब इसी का पालन करना चाहिए। क्योंकि पृथ्वी भी तो आपकी स्त्री है। अथवा यों कहना चाहिए कि पृथ्वी से ही राजा लोग कलत्रवान् हैं। वे पृथ्वी के पति कहलाते हैं न? इतना ऐश्वर्य्य और वैभव पाकर भी आप कभी राजमद से मत्त नहीं हुए; कभी आपने कोई काम ऐसा नहीं किया जिससे आप की निन्दा हो। आपने अपने आत्मज्ञान की बदौलत जो कुछ किया सभी शास्त्र-सम्मत किया। आपके शास्त्रज्ञान की सदा ही प्रशंसा हुई है। अब, दुर्दैववश, आप पर आपत्ति आई है। इस कारण आपके चित्त में विकार उत्पन्न हो गया है। इस विकार को भी आप अपने आत्मज्ञान की सहायता से दूर कर दीजिए। जिस तरह सम्पत्ति-काल में आप स्थिर रहे—कभी चञ्चल नहीं हुए—उसी तरह विपत्ति-काल में भी दृढ़तापूर्वक अचल रहिए। घबराइए नहीं। शास्त्रज्ञों और तत्त्वज्ञानियों का काम घबराना नहीं।

"रोने से भला क्या लाभ? रोना तो दूर रहा, यदि आप इन्दुमती का अनुगमन भी करेंगे—यदि उसके पीछे आप भी मर जायँगे—तो भी वह न मिल सकेगी। जितने शरीरधारी हैं; परलोक जाने पर, सब की गति, अपने अपने कर्म्मों के अनुसार, जुदा जुदा होती है। जो जैसा कर्म्म करता है उसकी वैसी ही गति भी होती है। जिस रास्ते एक को जाना पड़ता है उस रास्ते दूसरे को नहीं—सब का पथ जुदा जुदा है। इससे अब आप व्यर्थ शोक न कीजिए। जलाञ्जलि और पिण्डदान आदि से आप अपनी कुटुम्बिनी का उपकार कीजिए। यदि आपके द्वारा उसे कुछ लाभ पहुँच सकता है तो इसी तरह पहुँच सकता है, और किसी तरह नहीं। लोग इस बात को विश्वास-पूर्वक कहते हैं कि कुटुम्बियों और बन्धु-बान्धवों के बार बार रोने से प्रेत को कुछ लाभ तो पहुँचता नहीं उलटा उसे दुःख होता है। देह धारण कर के ज़रूर ही मरना पड़ता है। मरना तो प्राणियों का

स्वभाव ही है। जिसे लोग जीना कहते हैं वह तो एक प्रकार का विकार है। जितने बुद्धिमान् और विद्वान् हैं वे मरने को स्वाभाविक और जीने को अस्वाभाविक समझते हैं। इस दशा में जो जीवधारी क्षण भर भी साँस ले सकें—क्षण भर भी जीते रह सकें—उन्हें इतने ही को वहुत समझना चाहिए। उनके लिए यही क्या कम है? यह थोड़ा लाभ नहीं! जब अपना कोई प्रेमपात्र मर जाता है तव मूढ़ मनुष्यों को ऐसा मालूम होता है जैसे उनके हृदय में किसी ने भाला गाड़ दिया हो। परन्तु जो पण्डित हैं उन्हें ठीक इसका उलटा भास होता है। उनका हृदय तो और हलका हो जाता है। उन्हें तो ऐसा जान पड़ता है कि उनके हृदय में गड़े हुए भाले को किसी ने खींच सा लिया। वात यह है कि समझदार आदमी मृत्यु को सुख-प्राप्ति का द्वार समझते हैं। वे जानते हैं कि यदि मृत्यु न हो तो मनुष्य के भावी कल्याण का द्वार ही वन्द सा पड़ा रह जाय। अपने शरीर और आत्मा का भी तो साथ सदा नहीं रहता। उनका भी सदा ही संयोग और वियोग हुआ करता है। इस दशा में यदि वाहरी विषयों अथवा पदार्थों से किसी का सम्वन्ध छूट जाय—यदि उनसे उसे सदा के लिए अलग होना पड़े—तो, आपही कहिए, समझदार आदमी को क्यों सन्तप्त होना चाहिए? ज़रा इस वात को तो सोचिए कि जव आत्मा और शरीर का सम्वन्ध भी स्थायी नहीं तव और वस्तुओं का सम्वन्ध किस तरह अविच्छिन्न रह सकता है? आप तो जितेन्द्रिय जनों में सब से श्रेष्ठ हैं। इससे साधारण आदमियों की तरह आपको शोक करना उचित नहीं। यदि वायु के वेग से पेड़ों की तरह पर्वत भी हिलने लगें तो फिर उन दोनों में अन्तर ही क्या रहा? फिर तो पर्वतों की 'अचल' संज्ञा व्यर्थ हो गई समझिए।"

उदारात्मा वशिष्ठ का यह उपदेश, उस मुनिवर के मुख से सुन कर, अज ने कहा—"गुरुवर का कथन वहुत ठीक है।" यह कह कर और महर्षि के वचनों को सादर स्वीकार करके उसने उस मुनि को भक्तिभावपूर्वक विदा किया। परन्तु उसका हृदय इन्दुमती के शोक से इतना परिपूर्ण हो रहा था कि उसमें महर्षि वशिष्ठ के उपदेश को ठहरने के लिए जगह न मिली। अतएव उसे, उस मुनि के साथ ही, वशिष्ठ के पास लौट सा जाना पड़ा।

इस समय अज का पुत्र दशरथ बिलकुल ही अबोध बालक था। अतएव मधुरभाषी सत्यव्रत अज ने, पुत्र के बचपन के आठ वर्ष, कभी अपनी प्रियतमा रानी का चित्र देख कर और कभी पल भर के लिए स्वप्न में उसके दर्शन करके, किसी तरह, बड़ी मुश्किलों से बिताये। महल की छत तोड़ कर पीपल का पेड़ जैसे भीतर चला जाता है वैसे ही इन्दुमती की मृत्यु का शोक-शर अज की छाती को फाड़ कर बलपूर्वक भीतर धँस गया। परन्तु इससे उसने अपनी भलाई ही समझी। उसने कहा—"बहुत अच्छी बात है जो इस शोक-शर ने मेरे हृदय में इतना गहरा घाव कर दिया। इसकी दवा वैद्यों के पास नहीं। यह अवश्य ही मेरी मृत्यु का कारण होगा।" बात यह थी कि वह अपनी प्यारी रानी का अनुगमन करने के लिए बहुत ही उतावला हो रहा था। इसी से उसने प्रेमपूर्वक मृत्यु का आह्वान किया।

तब तक कुमार दशरथ ने शास्त्रों का अभ्यास भी कर लिया और युद्ध-विद्या भी अच्छी तरह सीख ली। शस्त्रास्त्रों से सज कर वह कवच धारण करने योग्य हो गया। अतएव पुत्र को समर्थ देख कर अज ने उसे विधिपूर्वक प्रजापालन करने की आज्ञा दी—उसने अपना राज्य पुत्र को सौंप दिया। तदनन्तर, अपने शरीर को रोग का बुरा घर समझ कर, उसमें और अधिक दिन तक न रहने की इच्छा से उसने अन्न खाना छोड़ दिया—अनशन-व्रत धारण कर लिया। इस तरह, कुछ दिन बाद, गङ्गा और सरयू के सङ्गम-तीर्थ में अज का शरीर छूट गया। इस तीर्थ में मरने का फल यह हुआ कि मरने के साथ, तत्काल ही, वह देवता हो गया; और, नन्दन-वन के विलास-भवनों में, पहले से भी अधिक सुन्दर शरीर वाली कामिनी के साथ फिर वह विहार करने लगा।

———

नवाँ सर्ग।

—:o:—

दशरथ का राज्यशासन, वसन्तोत्सव और आखेट।

दशरथ बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। रथ पर सवार होकर यु
करने वाले पराक्रमी पुरुषों में से कोई भी उसकी बराबर
न कर सका। योग-साधन द्वारा उसने अपनी इन्द्रियो
तक को जीत लिया। अतएव राजाओं में ही उसने श्रेष्ठता न प्राप्त की,
योगियों में भी उसने सर्वोच्च आसन पाया। पिता की मृत्यु के अनन्तर
उत्तर-कोसल का राज्य पाकर, योग्यतापूर्वक वह उसका शासन करने
लगा। क्रौञ्चनामक पर्वत के तोड़ने वाले कुमार कार्तिकेय के समान तेजस्वी
दशरथ ने, पिता से राज्य पाकर, अपनी राजधानी ही का नहीं, किन्तु
सारे प्रजामण्डल का पालन इतनी अच्छी तरह किया कि सब कहीं पहले
की भी अपेक्षा अधिक सुख-समृद्धि विराजने लगी। विधिपूर्वक प्रजापालन
करने से उसकी प्रजा उसमें अत्यन्त अनुरक्त हो गई। वह सब का प्यारा
हो गया। विद्वानों की सम्मति है कि त्रिलोक में दो ही पुरुष ऐसे हुए
हैं जिन्होंने अपना अपना काम करने वालों के श्रम को दूर करने के लिए
समय पर पानी और धन-मान आदि की वर्षा की है। एक तो बल-नामक
दैत्य का संहार करने वाला इन्द्र, दूसरा मनु का वंशधर राजा दशरथ।
पहले ने तो यथासमय जल बरसा कर सुकर्म करने वालों का श्रम सफल
किया और दूसरे ने यथासमय उपहार और पुरस्कार आदि देकर।
मतलब यह कि दशरथ ने अच्छा काम करने वालों का सदा ही आदर
किया और ख़िलतें तथा जागीरें आदि देकर उन्हें माला-माल कर दिया।

अज-नन्दन दशरथ बड़ा ही शान्तचित्त राजा था। तेजस्वी भी वह
ऐसा वैसा न था; तेजस्विता में वह देवताओं की बराबरी का था।

उसके शान्तिपूर्ण राज्य में पेड़-पौधे फलों और फूलों से लद गये। पृथ्वी पहले से भी अधिक अन्न उत्पन्न करने लगी। देश में रोग का कहीं चिह्न तक न रह गया। वैरियों से भयभीत होने का तो नाम ही न लीजिए। दसों दिशाओं के जीतने वाले राजा रघु, और, उसके अनन्तर अज को पाकर जिस तरह पृथ्वी कृतार्थ हुई थी—जिस तरह वह शोभा और समृद्धि से सम्पन्न हो गई थी—उसी तरह वह दशरथ जैसे परम प्रतापी स्वामी को पाकर भी शोभाशालिनी और समृद्धिमती हुई। दशरथ किसी भी बात में अपने पिता और पितामह से कम न था। अतएव उसके समय में पृथ्वी पर सुख-समृद्धि और शोभा-सौन्दर्य्य आदि की कमी हो कैसे सकती थी? सच तो यह है कि किसी किसी बात में राजा दशरथ अपने पूर्वजों से भी आगे बढ़ गया। सब के साथ एक सा न्याय करने में उसने धर्म्मराज का, दानपात्रों पर काञ्चन की वृष्टि करने में कुवेर का, दुराचारियों को दण्ड देने में वरुण का, और तेजस्विता तथा प्रताप में सूर्य का अनुकरण किया।

राजा दशरथ दिन-रात इसी प्रयत्न में रत रहने लगा कि किस प्रकार उसके राज्य का अभ्युदय हो और किस प्रकार उसका वैभव बढ़े। इस कारण और विषयों की तरफ़ उसका ध्यान ही न गया। न उसने कभी जुआ खेला; न वह अपनी नवयौवना रानी पर ही अधिक आसक्त हुआ; न उसने शिकार ही से विशेष प्रीति रक्खी; और न वह उस मदिरा ही के वश हुआ जिसके भीतर चन्द्रमा का झिलमिलाता हुआ प्रतिविम्ब दिखाई दे रहा था और जिसे वह गहने की तरह धारण किये हुए थी। राजा लोग विशेष करके इन्हीं व्यसनों में फँस जाते हैं। परन्तु इनमें से एक भी व्यसन दशरथ के चित्त को अपनी तरफ़ न खींच सका। इन्द्र, एक प्रकार से, यद्यपि दशरथ का भी प्रभु था—इन्द्र का स्वामित्व यद्यपि दशरथ पर भी था—तथापि उससे भी दशरथ ने कभी दीन वचन नहीं कहा। हँसी-दिल्लगी में भी वह कभी झूठ नहीं वोला। और, अपने शत्रुओं के विषय में भी उसने अपने मुँह से कभी कठोर वचन नहीं निकाला। वात यह थी कि उसे बहुत ही कम रोष आता था; अथवा यह कहना चाहिए कि उसे कभी रोष आता ही न था।

दशरथ के अधीन जितने माण्डलिक राजा थे उनको उससे वृद्धि और ह्रास—हानि और लाभ—दोनों की प्राप्ति हुई। जिस राजाने उस की आज्ञा

का उल्लंघन न किया उसे तो अपना मित्र बना कर उसके वैभव को उसने खूब बढ़ा दिया। परन्तु जिसने उसका सामना किया उसके राज-पाट को, वज्रहृदय होकर, उसने नष्ट कर डाला। धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर दशरथ ने, समुद्र से घिरी हुई सारी पृथ्वी को, केवल एक रथ से, जीत लिया। रथ पर सवार होकर उसने अकेले ही दिग्विजय कर डाला। सेना से सहायता लेने की उसे आवश्यकता ही न हुई। हाथियों और वेगगामी घोड़ों वाली उसकी सेना ने उसका केवल इतना ही काम किया कि उसकी जीत की घोषणा उसने सब कहीं कर दी। सेना-समूह के कारण दशरथ के विजय की ख़बर लोगों को जल्दी हो गई। बस, और कुछ नहीं। दशरथ का रथ बड़ा ही अद्भुत था। उसकी बनावट ऐसी थी कि उसके भीतर बैठने वाले को सामने भी खड़े हुए शत्रु न देख सकते थे। हाथ में धनुष लेकर और इसी रथ पर सवार होकर, कुवेर के समान सम्पत्तिशाली दशरथ ने समुद्र पर्य्यन्त फैली हुई पृथ्वी सहज ही जीत ली। विजय करते करते, समुद्र तट पर पहुँचने पर, बादलों की तरह घोर गर्जना करने वाले समुद्र ही उसकी जीत के नगाड़े बन गये। दशरथ को वहाँ विजय-दुन्दुभी बजाने की आवश्यकता ही न हुई। समुद्र की मेघ-गम्भीर ध्वनि से ही दुन्दुभी का काम निकल गया। इन्द्र ने पहाड़ों के पक्ष-बल का नाश अपने हज़ार धारवाले वज्र से किया था; परन्तु नये कमल के समान मुखवाले दशरथ ने शत्रुओं के पक्ष, बल का नाश अपने टङ्कारकारी बाण-वर्षी धनुष ही से कर दिया। अतएव यह कहना चाहिए कि बल में यदि वह इन्द्र से अधिक न था तो कम भी न था। उसका सामना करने वाले राजाओं में से एक से भी उसके पौरुष का खण्डन न हो सका। सभी ने उससे हार खाई। हज़ारों नरपाल परास्त हो होकर, उस अखण्ड-पराक्रमी राजा के पास आकर उपस्थित हुए; और, देवता लोग जिस तरह इन्द्र के सामने अपने मस्तक झुकाते हैं उसी तरह उन्होंने भी राजा दशरथ के सामने अपने अपने मस्तक झुकाये। उस समय उनके मुकुटों पर जड़े हुए रत्नों की किरणें, दशरथ के पैरों पर पड़ कर, उन्हें चूमने लगीं। ऐसा करते समय, उन किरणों का संयोग जो राजा दशरथ के पैरों के नखों की कान्ति के साथ हुआ तो उन की चमक और भी अधिक होगई।

दशरथ से शत्रुता करने वाले हज़ारों राजाओं की रानियाँ विधवा हो गईं। उन बेचारियों का बाल-गूँथना और शृङ्गार करना बन्द हो गया। उन्होंने अपने छोटे छोटे कुमारों को, अपने मन्त्रियों के साथ, राजा दशरथ की शरण में भेजा। मन्त्रियों ने उनके हाथों की अञ्जली बाँध कर उन्हें राजा के सामने खड़ा किया। राजा को उन अल्पवयस्क राजकुमारों और उनकी माताओं पर दया आई। अतएव उन्हें अभयदान देकर वह महासागर के किनारे से आगे न बढ़ा और अलकापुरी के सदृश समृद्धि-शालिनी अपनी राजधानी को लौट आया।

समुद्र-तट तक के राजाओं को जीत कर यद्यपि वह चक्रवर्त्ती राजा हो गया, तथापि उसके एक-च्छत्र राजा हो जाने से और किसी राजा को अपने ऊपर सफ़ेद छत्र धारण करने का अधिकार न रहा, और कान्ति में यद्यपि वह अग्नि और चन्द्रमा की बराबरी करने लगा, तथापि उसने आलस्य को अपने पास न फटकने दिया। बड़ी मुस्तैदी से वह प्रजा-पालन और देश-शासन करने लगा। उसने कहा:—"इस लक्ष्मी का विश्वास करना भूल है। कहीं ज़रा सा भी छेद पाने से—कुछ भी बहाना इसे मिल जाने से—यह फिर नहीं ठहरती। अतएव अपना कर्त्तव्य-पालन सावधानतापूर्वक करना चाहिए। ऐसा न हो जो यह आलस ही को छिद्र (दोष) समझ कर मुझ से रूठ जाय। अतएव मुझे छोड़ जाने के लिए मैं इसे मौक़ा ही न दूँगा।" परन्तु दशरथ का यह सन्देह निर्मूल था। क्योंकि कमलासना लक्ष्मी पतिव्रता है। इस कारण याचकों का आदर-सत्कार करके मुँहमाँगा धन देने वाले उस ककुत्स्थवंशी राजा, और विष्णु भगवान्, को छोड़ कर और था ऐसा कौन जिसकी सेवा करने के लिए वह उसके पास जा सकती? लक्ष्मी की की हुई सेवा का सुख उठाने के पात्र उस समय, विष्णु और विष्णु के समकक्ष दशरथ ही थे, और कोई नहीं।

अपना राज्य दृढ़ कर चुकने पर दशरथ ने विवाह किया। पर्वतों की बेटियाँ नदियों ने सागर को जिस तरह अपना पति बनाया है उसी तरह मगध, कोशल और केकय देश के राजाओं की बेटियों ने, शत्रुओं पर बाण-वर्षा करने वाले दशरथ को, अपना पति बनाया। अपनी उन तीनों प्रियतमा रानियों के साथ वह ऐसा मालूम हुआ जैसे प्रजा की रक्षा के लिए

प्रभाव, मन्त्र और उत्साह नामक तीनों शक्तियों के साथ, सुरेश्वर इन्द्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो।

शत्रु-नाश का उपाय करने में वह बड़ा ही निपुण था। महारथी भी वह एक ही था। अतएव उसे एक समय इन्द्र की सहायता करनी पड़ी। दैत्यों के मुक़ाबले में देवताओं के लिए घनघोर युद्ध करके उसने अद्भुत वीरता दिखाई। युद्ध में देवताओं ही की जीत हुई। दशरथ के शरों के प्रभाव से देवनारियों का सारा डर छूट गया। दैत्यों के उत्पात से उन्हें छुटकारा मिल गया। इससे वे दशरथ की बड़ी कृतज्ञ हुई और उसकी भुजाओं के प्रबल पराक्रम की उन्होंने बड़ी बड़ाई की। उसकी प्रशंसा में उन्होंने गीत तक गाये। इस युद्ध में धनुष हाथ में लिये और अपने रथ पर सवार महाबली दशरथ ने, इन्द्र के आगे बढ़ कर, अकेले ही इतना भीषण युद्ध किया कि युद्ध के मैदान में उड़ी हुई धूल से सूर्य्य छिप सा गया। यह देख दशरथ ने दैत्यों के रुधिर की नदियाँ बहा कर सूर्य्य का अवरोध करने वाली उस धूल को एकदम दूर कर दिया—उसे साफ़ धो डाला। ऐसा उसे कई दफ़े करना पड़ा, एक ही दफ़े नहीं।

दशरथ ने अपने भुजबल से अपार सम्पत्ति एकत्र कर ली। एक भी दिशा ऐसी न थी जहाँ से वह ढेरों सोना न लाया हो। इस प्रकार बहुत सा धन-सञ्चय हो जाने पर, तमोगुण का सर्वथा त्याग करके, उसने यज्ञ के अनुष्ठान आरम्भ कर दिये। सिर पर शोभा पाने वाले मुकुट को तो उतार कर उसने रख दिया और यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनन्तर, उसने यूप-नामक सोने के यज्ञस्तम्भों से सरयू और तमसा के तीर परिपूर्ण कर दिये। उन स्तम्भों से इन दोनों नदियों के तटों की शोभा बहुत ही बढ़ गई। यज्ञ का आरम्भ होने पर दशरथ ने मृगचर्म्म धारण किया। कमर में कुश की मेखला पहनी। एक हाथ में पलाश का दण्ड और दूसरे में हिरन का सींग लिया। बोलना छोड़ दिया—मौन धारण कर लिया। यज्ञानुष्ठान के इन चिह्नों से सुशोभित हुए उसके शरीर में प्रवेश करके अष्टमूर्त्ति महादेव ने उसे बहुत ही अधिक मनोहर कर दिया। उसमें अनुपम कान्ति उत्पन्न हो गई। शङ्कर के निवास से दशरथ का शरीर अलौकिक शोभाशाली हो गया। उसके यज्ञकार्य्य निर्विघ्न समाप्त हुए। अन्त में

उस जितेन्द्रिय राजा ने अवभृथ-नामक पवित्र स्नान करके यज्ञ के कामों से छुट्टी पाई।

राजा दशरथ का महत्व और प्रभुत्व त्रिलोक में विख्यात था। महिमा, प्रभुता और शूरवीरता आदि गुणों के कारण देवता भी उसका आदर करते थे। और, वह देवताओं की सभा में बैठने योग्य था भी। नमुचि के शत्रु, वारिवर्षी, इंद्र को छोड़ कर और किसी के भी सामने उसने कभी अपना उन्नत मस्तक नहीं झुकाया।

राजा दशरथ बड़ा ही प्रतापी हुआ। उसमें अपूर्व बल-विक्रम था। देश-देशान्तरों तक में उसका आतङ्क छाया हुआ था। प्रभुता और अधिकार में वह इन्द्र, वरुण, यम और कुवेर के समान था। नये फूलों से ऐसे धुरन्धर चक्रवर्त्ती राजा की पूजा सी करने के लिए वसन्त ऋतु का आगमन हुआ।

वसन्त का आविर्भाव होते ही भगवान् सूर्य्य ने अपने सारथी अरुण को आज्ञा दी:—"रथ के घोड़ों को फेर दो। अब मैं धनाधिप कुवेर की बस्ती वाली दिशा की तरफ़ जाना चाहता हूँ।" अरुण ने इस आज्ञा का तत्काल पालन किया और सूर्य्य ने, उत्तर की तरफ़ यात्रा करने के इरादे से, मलयाचल को छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि जाड़ा कम हो गया और प्रात:काल की वेला बड़ी ही मनोहारिणी मालूम होने लगी।

पादपों से परिपूर्ण वन-भूमि में उतर कर वसन्त ने, क्रम क्रम से, अपना रूप प्रकट किया:—पहले तो पेड़ों पर फूलों की उत्पत्ति हुई। फिर नये नये कोमल पत्ते निकल आये। तदनन्तर भौंरों की गुञ्जार और कोयलों की कूक सुनाई पड़ने लगी।

सज्जनों का उपकार करने ही के लिए राजा लोग सम्पत्ति एकत्र करके उसे, अपने सुनीति-सम्बन्धी सद्गुणों से, बढ़ाते हैं। वसन्त भी औरों ही के उपकार के लिए कमलों को सरोवरों में प्रफुल्लित करता और उनमें सरसता, सुगन्धि तथा पराग आदि उत्पन्न करके उनकी उपयोगिता को बढ़ाता है। वनस्थली में उतर कर, इस दफ़े, उसने अपने इस काम को बहुत ही अच्छी तरह किया। फल यह हुआ कि राजाओं से सम्पत्ति पाने की अभिलाषा से याचक लोग जैसे उनके पास दौड़ जाते हैं वैसे ही वसन्त

की कमल-समूहरूपिणी संम्पत्ति के पास सैकड़ों भौंरे और जल के पक्षी दौड़ गये। वसन्त आने पर, अशोक के खूब खिले हुए नवीन फूलों रसिकों के चित्त चञ्चल कर दिये। उन्होंने क्यों, कामिनियों के कानों मे खुसे हुए लाल लाल कोमल पत्तों ने भी उनके हृदयों में उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी। कुरवक-नाम के पेड़ों पर तो फूल ही फूल दिखाई देने लगे। उनसे उपवनों का सुहावनापन और भी अधिक हो गया। वे ऐसे मालूम होने लगे जैसे उपवनों की शोभा के शरीर पर, उसके प्रेमपात्र वसन्त ने, चित्र-विचित्र टटके बेल-बूटे बना दिये हों। इन पेड़ों ने भौंरों को अपने फूलों का मधु दे डालने की ठानी। अतएव सैकड़ों भौंरे उनके पास पहुँच गये और बड़े प्रेम से गुञ्जार करके उनका गुणगान सा करने लगे। दानियों की स्तुति होनी ही चाहिए। यह देख कर वकुल के वृक्षों से भी न रहा गया। कुरवकों का अनुकरण करके उन्होंने भी दानशील बनना चाहा। इनमें यह विशेषता होती है कि जब तक कोई सौभाग्यवती कामिनी मद्य का कुल्ला इन पर नहीं कर देती तब तक ये फूलते ही नहीं। इस कारण, इनके फूलों में मद्य का गुण भी पाया जाता है। इनके औदार्य्य का समाचार सुन कर मधु के लोभी मधुकरों की बन आई। उनके झुण्ड के झुण्ड दौड़ पड़े और बेचारे वकुलों पर ऐसे टूटे कि उन्हें व्याकुल कर दिया। एक दो याचक हों तो बात दूसरी है। हज़ारों का कोई कहाँ तक सत्कार करे।

शिशिर की प्रायः समाप्ति हो चुकी थी। अब था वसन्त का राज्य। उसकी राज्य-लक्ष्मी ने कहा:—"औरों को हमसे बहुत कुछ मिल चुका; एक मात्र पलाशों ही ने अभी तक कुछ नहीं पाया।" यह सोच कर उन्हें उसने लाल लाल कलियों के सैकड़ों गुच्छे दे डाले। उनको भी उसने निहाल कर दिया। स्त्रियों के क्षत-विक्षत ओंठों को जाड़ा दुःसह होता है। उन्हें जाड़ों में कमर से करधनी भी उतार कर रख देनी पड़ती है; क्योंकि वह ठंढी मालूम होती है। जाड़ों ही के कारण उन्हें यह सब कष्ट उठाना पड़ता है। सो यद्यपि इस क्लेशदायक जाड़े के जाने का समय आ गया था; तथापि, तब तक सूर्य्य उसे बिलकुल ही दूर न कर सका था। हाँ, उसने कम उसे ज़रूर कर दिया था।

अब ज़रा नई मञ्जरी से लदी हुई आम की लता का हाल सुनिए।

मलयाचल से आई हुई वायु के झोंकों से उसके पत्ते जो हिलने लगे तो ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह अपने हाथ हिला हिला कर, नर्त्तकी की तरह, भाव बताने का अभ्यास कर रही हो। औरों की तो बात ही नहीं, उसने अपने इन हाव-भावों से रागद्वेष और काम-कल्लोल जीते हुए जनों का भी मन मतवाला कर दिया।

सुगन्धित और प्रफुल्लित वनों तथा उपवनों में, अब, कोयलों की पहली कूक— नवोढ़ा नायिकाओं के मित भाषण की तरह—ठहर ठहर कर, थोड़ी थोड़ी, सुनाई देने लगी।

उपवनों के किनारेवाली लताओं पर भी वसन्त का असर पड़ा। भौंरों की कर्ण-मधुर गुञ्जारों के बहाने गीत सी गाती हुई, खिले हुए फूलों के बहाने दाँतों की मनोहर द्युति सी दिखलाती हुई, और पवन के हिलाये हुए पत्तों के बहाने हाथों से भाव सी बताती हुई वे बहुत ही अच्छी मालूम होने लगीं। उनकी शोभा और सुन्दरता बेहद बढ़ गई।

जब कोयलों, भ्रमरों और वृक्ष-लतादिकों को भी वसन्त ने कुछ का कुछ कर डाला तब मनुष्यों की क्या कथा है? उनकी उमङ्गों की तो सीमा ही न रही। पति-पत्नियों ने खूब ही मद्य पिया—वह मद्य जो अपनी सुगन्धि से वकुल के फूलों की सुगन्धि को भी जीत लेता है, हास-विलास कराने में जो अपना सानी नहीं रखता और परस्पर का प्रेम अटल होने में जो ज़रा भी विघ्न नहीं आने देता।

घर की बावड़ियों में कमल के फूल छा गये। मतवालेपन के कारण बहुत ही मधुर आलाप करनेवाले जलचर पक्षी उनमें कलोलें करने लगे। कमल के फूलों और कलरव करनेवाले पक्षियों से इन बावड़ियों की शोभा बहुत ही मनोहारिणी हो गई। वे उन स्त्रियों की उपमा को पहुँच गईं जिनके मुखमण्डलों की सुन्दरता, मन्द मन्द मुसकान के कारण, अधिक हो गई है और, जिनकी कमर की करधनियाँ ढीली हो जाने के कारण, खूब बज रही हैं।

बेचारी रजनी-वधू को वसन्त ने खण्डिता बना दिया। उसका चन्द्रमा-रूपी मुख पीला पड़ गया। पति के संयोग-सुख से वञ्चित हुई खण्डिता नायिका के समान वह भी, दिन पर दिन, क्षीण होती चली गई—जैसे जैसे दिन बढ़ता गया, वैसे ही वैसे वह छोटी होती गई।

परिश्रम का परिहार करनेवाली चन्द्रमा की किरणों की छटा, तुषार-वृष्टि बन्द हो जाने के कारण, पहले से अधिक उज्ज्वल हो गई। अपने मित्र की किरणों की उज्ज्वलता अधिक हो गई देख श्रृङ्गार-रस के अधिकारी देवता का हौसला बहुत बढ़ गया। उसकी ध्वजा खूब फहराने लगी। उसके धनुर्बाण में विशेष बल आ गया। चन्द्र-किरणों ने उसके शस्त्रास्त्रों को मानो सान पर चढ़ा कर उनकी धार और भी तेज़ कर दी।

कर्णिकार के जितने पेड़ थे सब खिल उठे। हवन की अग्नि की लपट के समान, उनके फूलों का लाल लाल रंग बहुत ही भला मालूम होने लगा। वन की शोभारूपिणी सुन्दरी ने इन फूलों को यहाँ तक पसन्द किया कि इन्हें को उसने सोने के गहनों की जगह दे डाली--सुवर्णाभरण के सदृश इन्हीं को उसने अपने शरीर पर धारण कर लिया। रसिक जनों को भी ये फूल बहुत अच्छे लगे। उन्होंने इन फूलों को पत्ते सहित तोड़ कर अपनी अपनी पत्नियों को भेंट किया। केसर और पत्ते लगे हुए ऐसे सुन्दर फूल पा कर वे भी बहुत खुश हुईं और बड़े प्रेम से उन्होंने उनको अपनी अलकों में स्थान दिया—उनसे बाल गूँथ कर उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा।

तिलक-नाम के पेड़ों पर भी फूल ही फूल दिखाई देने लगे। उनके फूलों की पाँतियों पर, काजल के बड़े बड़े बूँदों के समान, सुन्दर भौंरे बैठे देख ऐसा मालूम होने लगा जैसे वे वनभूमिरूपिणी नायिका के माथे के तिलक ही हों। कभी ऐसा न समझिए कि उनसे वन की भूमि सुशोभित नहीं हुई। नहीं, उनसे उसकी वैसी ही शोभा हुई जैसी कि माथे पर तिलक लगाने से कामिनियों की होती है।

मधु की सुगन्धि से सुगन्धित हो कर, मल्लिका नाम की नई लता अपने पेड़रूपी पतियों के साथ, आनन्दपूर्वक विलास करने लगीं। इतना ही नहीं, किन्तु अपने नवल-पल्लवरूपी ओठों पर, फूलरूपी मन्द मुसकान की छटा दिखा कर, वे देखने वालों का मन भी मत्त करने लगीं।

सूर्य्य के सारथी अरुण के रङ्ग को भी मात करने वाले वसन्ती वस्त्र, कानों पर रक्खे हुए यव के अंकुर और कोयलों की कूक ने श्रृङ्गार-रस का यहाँ तक उद्दीपन कर दिया कि रसिक लोग उसमें एकदम ही डूब से गये।

हाँ तिलक-वृक्ष की कलियों के गुच्छों का हाल तो रही गया। उनकी शोभा का भी समाचार सुन लीजिए। वसन्त आने पर, उनकी प्रत्येक पँखुड़ी, पराग के सफ़ेद सफ़ेद कणों से, पुष्ट हो गई और भौंरों के झुण्ड के झुण्ड उन पर बैठने लगे। शुभ्रता और कालिमा का आश्चर्यजनक मेल होने लगा। भौंरों को इन पर बैठे देख जान पड़ने लगा जैसे काली काली अलकों में सफ़ेद मोतियों की लड़ियाँ गुँथी हों।

हवा के झोंकों से उपवनों के फूल जो हिले तो उनका पराग गिर गिर कर चारों तरफ़ फैल गया और हवा के साथ ही वह भी इधर उधर उड़ने लगा। बस, फिर क्या था, जिधर पराग की रेणुका गई उधर ही उसकी सुगन्धि से खिंचे हुए भौंरे भी, उसके पीछे पीछे, उड़ते गये। इस पराग-रेणु को कोई ऐसी वैसी चीज़ न समझिए। वासन्ती शोभा इसी के चूर्ण को अपने चेहरे पर मल कर अपने लावण्य की वृद्धि करती है और कुसुम-शायक इसी को अपनी पताका का पट बनाता है।

उद्यानों में नये झूले पड़ गये। सब लोग अपने अपने प्रेम-पात्रों को साथ लेकर झूलने और वसन्त-सम्बन्धी उत्सव मनाने लगे। इतने में कोयलों ने, अपनी कूकों के बहाने, वसन्त के सखा की आज्ञा इस प्रकार सुनाई:—"देखना, जो इस समय किसी ने आपस में विरोध किया! मान को एकदम दूर कर दो। विग्रह और विरोध छोड़ दो। ऐसा समय बार बार नहीं आता। उम्र भी सदा एक सी नहीं रहती।" कहने की आवश्यकता नहीं, लोगों ने इस आज्ञा के अक्षर अक्षर का परिपालन किया।

राजा दशरथ ने भी, अपनी विलासिनी रानियों के साथ, वसन्तोत्सव का यथेष्ट आनन्द लूटा। उत्सव समाप्त होने पर उसके हृदय में शिकार खेलने की इच्छा उत्पन्न हुई। अतएव, विष्णु के समान पराक्रमी, वसन्त के समान सौरभवान् और मन्मथ के समान सुन्दर उस राजा ने, इस विषय में, अपने मन्त्रियों से सलाह ली। उन्होंने कहा:—"बहुत अच्छी बात है। आप शिकार खेलने जाइए। शिकार से कोई हानि नहीं। उससे तो बहुत लाभ हैं। भागते हुए हिरनों और दूसरे जङ्गली जानवरों का शिकार करने से मनुष्य को हिलते हुए निशाने मार लेने का अभ्यास हो जाता है। उसे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि क्रोध में आने और

डर जाने पर जानवर कैसी चेष्टा करते हैं। शिकारी को जानवरों की चेष्टा ही से यह मालूम हो जाता है कि इस समय वे क्रोध में हैं और इस समय डरे हुए हैं। शिकार में दौड़-धूप का काम बहुत रहता है। इससे मनुष्य श्रमसहिष्णु भी हो जाता है। बिना थकावट के वह बड़े बड़े श्रमसाध्य काम कर सकता है। श्रम करने से शरीर फुर्तीला रहता है। इनके सिवा शिकार में और भी कितने ही गुण हैं।"

मन्त्रियों की सम्मति अनुकूल पाकर दशरथ ने शिकारी कपड़े पहने। शिकार का सब सामान साथ लिया। अपने पुष्ट कंठ में धनुष डाला। मृग, सिंह और वराह आदि जङ्गली पशुओं से परिपूर्ण वन में प्रवेश करने के इरादे से, उस सूर्य के समान प्रतापी राजा ने अपनी राजधानी से प्रस्थान कर दिया। अपने साथ उसने चुनी हुई थोड़ी सी सेना भी ले ली। उसके घोड़ों की टापों से इतनी धूल उड़ी कि आकाश में उसका चँदोवा सा तन गया। वन के पास पहुँच कर दशरथ ने वन के ही फूलों की मालाओं से अपने सिर के बाल बाँधे और पेड़ों की पत्तियों ही के रङ्ग का कवच शरीर पर धारण किया। फिर, एक तेज़ घोड़े पर सवार होकर वह वन के उस भाग में जा पहुँचा जहाँ रुरु नाम के मृगों की बहुत अधिकता थी। उस समय घोड़े के उछलने-कूदने और सरपट भागने से उसके कानों के हिलते हुए कुण्डल बहुत ही भले मालूम होने लगे। दशरथ का वह शिकारी वेश सचमुच ही बहुत मनोहर था। उसे देखने की इच्छा वनदेवताओं तक को हुई। अतएव उन्होंने, कुछ देर के लिए, पतली पतली लताओं के भीतर अपनी आत्माओं का प्रवेश करके, भौंरों की पाँतियों को अपनी आँखें बनाया। फिर, उन्होंने सुन्दर आँखों वाले, और न्यायसङ्गत शासन से कोसल-देश की प्रजा को प्रसन्न करने वाले, दशरथ को जी भर देखा।

राजा ने वन के जिस भाग में शिकार खेलने का निश्चय किया था वहाँ शिकारी कुत्ते और जाल ले लेकर उसके कितने ही सेवक पहले ही पहुँच गये थे। उनके साथ ही उसके कितने ही कर्म्मचारी, शिकारी और सिपाही भी पहुँच चुके थे। उन्होंने वहाँ जितने चोर, लुटेरे और डाकू थे सब भगा दिये। वन की दावाग्नि भी बुझा दी। राजा के पहुँचने के पहले ही

उन्होंने सब तैयारी कर रक्खी। वह जगह भी शिकार के सर्वथा योग्य थी। पानी की कमी न थी। जगह जगह पर जलाशय भरे हुए थे और पहाड़ी झरने बह रहे थे। ज़मीन भी वहाँ की ख़ूब कड़ी थी; घोड़ों की टापों से वह फूट न सकती थी। हिरन, पक्षी और सुरागायें भी उसमें ख़ूब थीं। सभी बातों का सुभीता था।

सुनहली बिजली की प्रत्यञ्चा वाले पीले पीले इन्द्रधनुष को जिस तरह भादों का महीना धारण करता है उसी तरह सारी चिन्ताओं से छूटे हुए उस राजा ने, उस जगह पहुँच कर, प्रत्यञ्चा चढ़ा हुआ अपना धनुष धारण किया। उसे हाथ में लेकर उस नर-शिरोमणि ने इतने ज़ोर से टङ्कार किया कि गुफ़ाओं में सोते हुए सिंह जाग पड़े और क्रोध से गरजने लगे।

वह कुछ दूर वन में गया ही था कि सामने ही हिरनों का एक झुण्ड दिखाई दिया। उस झुण्ड के आगे तो गर्व से भरे हुए कृष्णसार नामक बड़े बड़े हिरन थे; पीछे और जाति के हिरन। वे, उस समय, चरने में लगे हुए थे। अतएव उनके मुँहों में घास दबी हुई थी। झुंड में कितनी ही नई ब्याई हुई हरिनियाँ भी थीं। वे सब चरने में लगी थीं। उनके बच्चे बार बार उनके थनों में मुँह लगा लगा कर उनके चलने-फिरने और चरने में विघ्न डाल रहे थे। हरिनियों को चरने की धुन थी, बच्चों को दूध पीने की। इस झुण्ड को देखते ही राजा ने अपने तेज़ घोड़े को उसकी तरफ़ बढ़ाया और तूणीर से बाण खींच कर धन्वा पर रक्खा। घोड़े पर उसे अपनी तरफ़ आते देख हिरनों में हाहाकार मच गया। वे जो पाँत बाँधे चर रहे थे वह पाँत उनकी टूट गई। जिसे जिस तरफ़ जगह मिली वह उसी तरफ़ व्याकुल होकर भागा। उस समय आँसुओं से भीगी हुई उनकी भयभीत दृष्टियों ने—मानों पवन के झकोरे हुए नील कमल की पँखुड़ियों ने—उस सारे वन को श्यामतामय कर दिया।

इन्द्र के समान पराक्रमी दशरथ ने उन भागते हुए हिरनों में से एक पर शर-सन्धान किया। उस हिरन की हिरनी भी उस समय उसके साथ ही थी। हिरनी ने देखा कि राजा मेरे पति को अपने बाण का निशाना बनाना चाहता है। अतएव वह वहीं खड़ी हो गई और हिरन को अपनी

आड़ में कर लिया। उसने मानों कहा—"मैं अपने पति की सहचरी हूँ। विधवा होकर मैं अकेली जीना नहीं चाहती। इससे पहले मुझे मार डाल।" यह अलौकिक दृश्य देख कर उस धनुषधारी का हृदय दया से आर्द्र हो आया। बात यह थी कि वह स्वयं भी आदर्शप्रेमी था और प्रेम की महिमा अच्छी तरह जानता था। अतएव, उसने ऐसे प्रेमी जोड़े को मारना मुनासिब न समझा। फल यह हुआ कि कान तक खींचे गये बाण को भी उसने धनुष से उतार लिया। दूसरे हिरनों पर बाण छोड़ने की इच्छा रहते भी, उसकी कड़ी से भी कड़ी मुट्ठी ढीली होगई—कान तक जा जाकर भी उसका हाथ पीछे लौट लौट आया। भयभीत हुई हिरनियों की आँखें देखते ही उसे अपनी प्रौढ़ा रानियों के कटाक्षों का स्मरण हो आया। इस कारण, प्रयत्न करने पर भी, उसके हाथ से बाण न छूटा।

तब उसने सुवर मारने का विचार किया। उस समय वे कुण्डों के भीतर मोथ नामक घास खोद खोद कर खा रहे थे। ज्योंही उन्होंने राजा के आने की आहट पाई त्योंही तत्काल वे कीचड़ से निकल भागे। भागते समय उनके मुँहों से मोथे के तिनके गिरते चले गये और उनके भीगे हुए खुरों के चिह्न भी मार्ग में साफ़ साफ़ बनते गये। मोथे के इन अंकुरों और पैरों के इन चिह्नों से राजा को मालूम हो गया कि इसी रास्ते सुवर भागे हैं। बस, फिर क्या था, तुरन्त ही उसने उनका पीछा किया। वह कुछ ही दूर आगे गया होगा कि भागते हुए सुवर उसे दिखाई दिये। घोड़े पर बैठे हुए राजा ने, अपने शरीर के अगले भाग को कुछ झुका कर, धनुष पर बाण रक्खा। सुवर भी, उस पर धावा करने के इरादे से, शरीर के बाल खड़े कर के, पेड़ों से सट कर खड़े हो गये। इतने में इतने वेग और इतनी शीघ्रता से दशरथ के बाण छूटे कि उन्होंने सुवरों और उन पेड़ों को, जिनसे सटे हुए वे खड़े थे, एकही साथ छेद दिया। सुवरों को मालूम ही न हुआ कि कब बाण छूटे और कब वे छिदे। छिद जाने पर उन्हें इसकी ख़बर हुई।

इतने में एक जङ्गली भैंसा बड़े वेग से उस पर आक्रमण करने दौड़ा। यह देख राजा ने एक बाण खींच कर इतने ज़ोर से उसकी आँख पर मारा कि भैंसे के सारे शरीर को वेध कर, पूँछ में रुधिर लगे बिना ही, वह बाहर ज़मीन पर जा गिरा। परन्तु पहले उसने उस भैंसे को गिरा दिया,

तब आप गिरा—बाण लगते ही भैंसा गिर गया, बाण उसके गिर जाने के बाद उसके शरीर से बाहर निकला। यह, तथा पूँछ (पुङ्ख) में रुधिर का स्पर्श हुए बिना ही शरीर छेद कर बाण का बाहर निकल आना, दशरथ के हस्त-लाघव और धनुर्विद्या-कौशल का फल था।

राजा दशरथ ने अपने तेज़ बाणों से, न मालूम कितने, गैंडों के सींग काट कर उनके सिर हलके कर दिये; पर उन्हें जान से नहीं मारा। इन गैंडों को अपने बड़े बड़े सींगों का बड़ा गर्व था। वे उन्हें अपनी प्रधानता का कारण समझते थे। यह बात दशरथ को बहुत खटकी। अपने रहते उससे उनका अभिमान और प्रधानता-सम्बन्धी दम्भ न सहा गया। कारण यह था कि अभिमानियों और दुष्टों का दमन करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। इसी से उसने उनके अभिमान के आधार सींग काट डाले। वही उसे असह्य थे, उनकी दीर्घ आयु नहीं। उसने कहा:—"तुम लोग सौ नहीं, चाहे पाँच सौ वर्ष जीते रहो। मुझे इसकी कुछ भी परवा नहीं। परवा मुझे सींगों के ऊँचेपन के कारण उत्पन्न हुए तुम्हारे अभिमान ही की है। अतएव मैं उस ऊँचेपन को दूर किये बिना न रहूँगा।"

इसके अनन्तर उसने बाघों का शिकार आरम्भ किया। उसके शिकारियों का हल्ला-गुल्ला सुन कर बड़े बड़े बाघ गुफाओं से तड़पते हुए बाहर निकल आये और राजा पर आक्रमण करने चले। उस समय वे ऐसे मालूम हुए जैसे फूलों से लदी हुई सर्ज-वृक्ष कि बड़ी बड़ी डालियाँ, हवा से टूट कर उड़ती हुई, सामने आ रही हों। परन्तु बाण मारने में दशरथ का अभ्यास यहाँ तक बढ़ा हुआ था और उसके हाथों में इतनी फुर्ती थी कि पल ही भर में उसने उन बाघों के मुँहों के भीतर सैकड़ों बाण भर कर उन्हें तूणीर सा बना दिया। उन्हें जहाँ के तहाँ ही गिरा कर, झाड़ियों और पेड़ों की कुञ्जों में छिपे बैठे हुए सिंह मारने का उसने इरादा किया। अतएव, बिछली की कड़क के समान भयङ्कर शब्द करने वाली अपनी प्रत्यञ्चा की घोर टङ्कार से उसने उनके रोष को बढ़ा दिया। सिंहों को, उनके शौर्य्य और वीर्य्य के कारण, पशुओं में जो राजा की पदवी मिली है वह दशरथ को सहन न हुई। राजा की पदवी का एक मात्र अधिकारी उसने अपने ही को समझा। इसी से वह ढूँढ़ ढूँढ़ कर सिंहों का शिकार

करने लगा। ये सिंह हाथियों के घोर शत्रु थे। बड़े बड़े मतवाले हाथियों के मस्तक विदीर्ण करने के कारण इनके पञ्जों के टेढ़े टेढ़े नुकीले नखों में गजमुक्ता लगे हुए थे—नखों से छिद कर वे वहीं अटक रहे थे। यह देख कर दशरथ का क्रोध दूना हो गया। उसने कहा—"युद्ध में जो हाथी मेरे इतने काम आते हैं उन्हीं को ये मारते हैं।" यह सोच कर उसने अपने पैने बाणों से उन सारे सिंहों को मार गिराया; एक को भी जीता न छोड़ा। उनका संहार करके उसने हाथियों की मृत्यु का बदला सा ले लिया—उनके ऋण से उसने अपने को उऋण सा कर दिया।

सिंहों का शिकार कर चुकने पर उसे एक जगह चमरी-मृग दिखाई दिये। अतएव, घोड़े की चाल को बढ़ा कर उसने उन्हें चारों तरफ़ से घेर लिया और कान तक खींच कर बरसाये गये बाणों से उनकी पूँछें काट गिराईं। इन्हीं मृगों की पूँछों के बाल चमरों में लगते हैं। इसी से ये चमरी-मृग कहलाते हैं। दशरथ ने इन्हें भी, माण्डलिक राजाओं की तरह, चमरहीन करके कल की। उसने कहा:—"मेरे राज्य में मेरे सिवा और किसी को भी चमर रखने का अधिकार नहीं। इससे केवल इनके चमर छीन लेना चाहिए; इन्हें जान से मार डालने की ज़रूरत नहीं।"

इतने में उसने, अपने घोड़े के बिलकुल पास से उड़ कर जाता हुआ, एक बड़े ही सुन्दर पंख वाला मोर देखा। परन्तु उसे उसने अपने बाण का निशाना न बनाया; उसे उड़ जाने दिया। बात यह हुई कि उसे, उस समय, चित्र-विचित्र मालाओं से गुँथे हुए अपनी प्रियतमा रानी के शिथिल केश-कलाप का तुरन्तही स्मरण हो आया। मोर-पंखों में रानी के जूड़े की समता देख कर उसने उस मोर को मारना उचित न समझा। प्रेमियों को अपने प्रेमपात्र के किसी अवयव या वस्तु की सदृशता यदि कहीं दिखाई देती है तो वे उसे भी प्रेमभरी दृष्टि से देखते हैं।

राजा दशरथ ने, इस प्रकार, बहुत देर तक, शिकार खेला। उसमें उसे बहुत श्रम पड़ा। इस कारण उसके मुँह पर मोतियों के समान पसीने के कण छा गये। परन्तु नये, निकलते हुए पत्तों के मुँह खोलने वाली, और, हिम के कणों से भीगी हुई, वन की वायु ने उन्हें शीघ्र ही सुखा दिया। ठंढी हवा लगने से उसके परिश्रम का शीघ्र ही परिहार हो गया।

राज्य का काम-काज तो वह अपने मन्त्रियों को सौंपही चुका था। उसकी उसे कुछ चिन्ता थी ही नहीं। अतएव, निश्चिन्त होकर और अन्य सारे काम भुला कर, वह मृगया ही में रत हो गया। उसका मृगया-विषयक अनुराग बढ़ता ही गया। फल यह हुआ कि चतुरा नायिका की तरह मृगया ने उस पृथ्वीपति को बिलकुलही अपने वश में कर लिया। कभी कभी तो घने जङ्गलों में अकेले ही उसे रात बितानी पड़ी। नौकर-चाकर तक उसके पास नहीं पहुँच पाये; उनका साथही छूट गया। ऐसे अवसर उपस्थित होने पर, उसे सुन्दर सुन्दर फूलों और कोमल कोमल पत्तों की शय्या पर ही सोना, और चमकती हुई जड़ी-बूटियों से ही दीपक का काम लेना, पड़ा। प्रातःकाल होने पर, गज-यूथों के एकही साथ फटाफट कान हिलाने से जो ढोल या दुन्दुभी के सदृश शब्द हुआ उसी को सुन कर राजा ने समझ लिया कि रात बीत गई। अतएव वह जाग पड़ा और बन्दीजनों के मङ्गल-गान के सदृश पक्षियों का मधुर कलरव सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। इस प्रकार जङ्गल में भी उसे जगाने और मन बहलाने का साधन मिल गया।

एक दिन की बात है कि राजा ने रुरु-नामक एक हिरन के पीछे घोड़ा छोड़ा। घोड़ा बड़े वेग से भागा। परिश्रम से वह पसीने पसीने हो गया। मुँह से झाग निकलने लगी। तिस पर भी राजा ने घोड़े को न रोका। वह भागता ही चला गया। अगल बगल दौड़ने वाले सवार और सेवक सब पीछे रह गये। राजा दूर निकल गया और तमसा नदी के तट पर, जहाँ अनेक तपस्वी रहते थे, पहुँचा। परन्तु उसके साथियों में से किसी ने भी न देखा कि राजा किधर गया। वहाँ उसके पहुँचने पर, नदी में जल से घड़ा भरने का गम्भीर नाद सुनाई दिया। राजा ने समझा कि नदी में कोई हाथी जल-विहार कर रहा है, यह उसी की चिग्घार है। अतएव जहाँ से शब्द आ रहा था वहाँ उसने एक शब्दवेधी बाण मारा। यह काम दशरथ ने अच्छा न किया। शास्त्र में राजा को हाथी मारने की आज्ञा नहीं। दशरथ ने उस आज्ञा का उल्लङ्घन कर दिया। बात यह है कि शास्त्रज्ञ लोग भी, रजोगुण से प्रेरित होकर, कभी कभी, कुपथगामी हो जाते हैं। दशरथ का बाण लगते ही—"हाय पिता"—कह कर, नदी के

किनारे बेत के वृक्षों के भीतर से, किसी के रोने की आवाज़ आई। उसे सुनते ही राजा घबरा उठा और रोने वाले का पता लगाने के लिए वह तुरन्तही उस जगह जा उपस्थित हुआ। वहाँ देखता क्या है कि एक मुनि-कुमार बाण से विधा हुआ तड़प रहा है और उसके पास ही उसका घड़ा पड़ा है। इस पर दशरथ को बड़ा दुःख हुआ। उसने भी अपने हृदय के भीतर बाण घुस गया सा समझा। वह प्रसिद्ध सूर्य्यवंशी राजा तत्कालही घोड़े से उतर पड़ा और उस शरविद्ध बालक के पास जाकर उसने उसका नाम-धाम पूछा। घड़े पर शरीर रख कर उसके सहारे पड़े हुए बालक ने, टूटे हुए शब्दों में, किसी तरह, बड़े कष्ट से उत्तर दिया:—"मैं एक ऐसे तपस्वी का पुत्र हूँ जो ब्राह्मण नहीं। मुझे आप ऐसा ही बाण से छिदा हुआ मेरे अन्धे माँ-बाप के पास पहुँचा दीजिए।" राजा ने तत्कालही उसकी आज्ञा का पालन किया। उसके माँ-बाप के पास पहुँच कर राजा ने निवेदन किया कि यह दुष्कर्म भूल से मुझसे हो गया है। जान बूझ कर मैंने आपके पुत्र को नहीं मारा।

मुनि-कुमार के अन्धे माँ-बाप के एकमात्र वही पुत्र था। उसकी यह गति हुई देख उन दोनों ने बहुत विलाप किया। तदनन्तर, पुत्र के हृदय में छिदे हुए बाण को उन्होंने दशरथ ही के हाथ से निकलवाया। बाण निकलते ही बालक के प्राण भी निकल गये। तब उस बूढ़े तपस्वी ने हाथों पर गिरे हुए आँसुओं ही के जल से दशरथ को शाप दिया:—

"मेरी ही तरह, बुढ़ापे में, तुम्हारी भी पुत्रशोक से मृत्यु होगी।"

प्रथमापराधी दशरथ ने यह शाप सुन कर—पैर पड़ जाने से दब गये, अतएव विष उगलते हुए साँप के सदृश उस तपस्वी से इस प्रकार प्रार्थना की.—

"भगवन्! आपने मुझ पर बड़ी ही कृपा की जो ऐसा शाप दिया। मैं आपके इस शाप को शाप नहीं, किन्तु अनुग्रह समझता हूँ। क्योंकि, अब तक मैं ने पुत्र के मुख-कमल की शोभा नहीं देखी। पर वह आपकी बदौलत देखने को मिल जायगी। सच है, ईंधन पड़ने से बढ़ी हुई आग, खेत की ज़मीन को जला कर भी, उसे बीज उपजाने वाली, अर्थात् उर्वरा, कर देती है।"

यह सब हो चुकने पर राजा ने उस अन्धे तपस्वी से कहा:—"महाराज! मैं सचमुच ही महा निर्दयी और महा अपराधी हूँ। मैं सर्वथा आपके हाथ से मारा जाने योग्य हूँ। ख़ैर, जो कुछ होना था सो हो गया। अब आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं?" यह सुन कर मुनि ने अपने मृत पुत्र का अनुगमन करने की इच्छा प्रकट की। उसने स्त्री-सहित जल कर मर जाना चाहा। अतएव उसने राजा से आग और ईंधन माँगा। तब तक दशरथ के नौकर-चाकर भी उसे ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे। मुनि की आज्ञा का शीघ्र ही पालन कर दिया गया। अपने हाथ से इतना बड़ा पातक हो गया देख, राजा का हृदय दुःख और सन्ताप से अभिभूत हो उठा। उसका धीरज छूट गया। अपने नाश के हेतुभूत उस शाप को वह—बड़वानल धारण किये हुए समुद्र के समान—हृदय में लिये हुए अपनी राजधानी को लौट आया।

दसवाँ सर्ग।

—:o:—

रामचन्द्र आदि चारों भाइयों का जन्म।

इन्द्र तुल्य तेजस्वी और महा-सम्पत्तिशाली दशरथ को, पृथ्वी का शासन करते, कुछ कम दस हज़ार वर्ष बीत गये। परन्तु जिस पुत्र नामक प्रकाश की प्राप्ति से शोकरूपी अन्धकार तत्काल ही दूर हो जाता है और जो पूर्वजों के ऋण से उऋण होने का एक-मात्र साधन है वह उसे तब तक भी न प्राप्त हुआ। वह सन्तति-हीन ही रहा; उसे कोई पुत्र न हुआ। मथे जाने के पहले समुद्र के सारे रत्न उसके भीतर ही थे; बाहर किसी के देखने में न आये थे। उस समय, अर्थात् रत्नों के बाहर निकलने के पहले, समुद्र जैसा था, दशरथ भी इस समय वैसाही मालूम हुआ। रत्न समुद्र के भीतर अवश्य थे; परन्तु मथे बिना वे बाहर नहीं निकले। इसी तरह दशरथ के भाग्य में सन्तति थी तो अवश्य; परन्तु उत्पन्न होने के लिए वह किसी कारण की अपेक्षा में थी। अथवा यह कहना चाहिए कि वह अपने प्रकट करने वाले किसी योग की प्रतीक्षा में थी। वह योग अब आ गया। दशरथ के हृदय में पुत्र का मुँह देखने की लालसा चिरकाल ही से थी। जब वह आप ही आप न सफल हुई तब उसने शृङ्गी ऋषि आदि जितेन्द्रिय महात्माओं को आदर-पूर्वक निमन्त्रित करके उनसे यह प्रार्थना की कि मैं पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरे ऋत्विज हूजिए। उन्होंने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और यज्ञ आरम्भ कर दिया।

इस समय पुलस्त्य का पुत्र रावण देवताओं को बेहद सता रहा था। अतएव, उसके अन्याय और अत्याचार से तङ्ग आकर वे विष्णु भगवान् के पास—धूप से सताये गये यात्री जिस तरह किसी छायावान् वृक्ष के

पास जाते हैं—जाकर उपस्थित हुए। ज्योंही वे क्षीर-सागर पहुँचे त्योंही भगवान् की योग-निद्रा खुल गई और वे जाग पड़े। देवताओं को वहाँ ठहरने या उन्हें जगाने की आवश्यकता न हुई। देवताओं ने इस बात को अपनी कार्य्य-सिद्धि का सूचक समझा। क्योंकि, देर न होना भी भावी कार्य्य-सिद्धि का चिह्न है। काम जब सफल होने को होता है तब न तो विलम्ब ही होता है और न कोई विघ्न ही आता है।

देवताओं ने जाकर देखा कि शेष के शरीररूपी आसन पर भगवान् बैठे हैं और शेष के फणामण्डल की मणियों के प्रकाश से उनके सारे अङ्ग प्रकाशमान हो रहे हैं। लक्ष्मी जी, कमल पर आसन लगाये, उनकी सेवा कर रही हैं। भगवान् के चरण उनकी गोद में हैं। लक्ष्मीजी मेखला पहने हुए हैं। परन्तु इस डर से कि कहीं भगवान् के पैरों में उसके दाने गड़ न जायँ, उन्होंने उसके ऊपर अपनी रेशमी साड़ी का छोर डाल रक्खा है। इससे भी सन्तुष्ट न होकर साड़ी के ऊपर उन्होंने अपने कररूपी पल्लव बिछा दिये हैं। उन्हीं पर भगवान् के पैर रख कर उन्हें वे धीरे धीरे दाब रही हैं। भगवान् के नेत्र खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं। उनका पीताम्बर बाल-सूर्य की धूप की तरह चमक रहा है। उनका दर्शन योगियों को बहुत ही सुखदायक है। इन गुणों के कारण वे शरत्काल के दिन की तरह शोभायमान हो रहे हैं। वह दिन—जिसके नेत्र खिले हुए कमल हैं, जिसका वस्त्र सूर्य का प्रातःकालीन घाम है, जिसका दर्शन पहले पहल बहुत ही सुखकारक होता है। देवताओं ने देखा कि भगवान् अपनी चौड़ी छाती पर महासागर की सारभूत, और, सिंगार करते समय लक्ष्मीजी के लिए आइने का काम देने वाली, कौस्तुभ-मणि धारण किये हुए हैं। उसकी कान्ति से भृगुलता (भृगु के लात के चिह्न), अर्थात् श्रीवत्स, की शोभा और भी अधिक हो रही है। बड़ी बड़ी शाखाओं के समान भगवान् की लम्बी लम्बी भुजायें दिव्य आभूषणों से आभूषित हैं। उन्हें देख कर मालूम होता है, जैसे समुद्र के भीतर भगवान्, दूसरे पारिजात वृक्ष की तरह, प्रकट हुए हैं। मदिरा पीने से उत्पन्न हुई लाली को दैत्यों की स्त्रियों के कपोलों से दूर करने वाले, अर्थात् उनके पतियों को मार कर उन्हें विधवा बनाने वाले, भगवान् के सजीव शस्त्रास्त्र उनका जय-जयकार कर रहे हैं।

गरुड़जी नम्रता-पूर्वक हाथ जोड़े हुए उनके सामने, उनकी सेवा करने के
लिए, खड़े हैं। अमृत हरे जाने के समय लगे हुए वज्र के घावों के चिह्न,
गरुड़जी के शरीर पर, स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। भगवान् की शय्या का काम
देने वाले शेष के सम्बन्ध में उन्होंने विरोध-भाव छोड़ दिया है। भगवान्
की योग-निद्रा खुल जाने से, भृगु आदि महर्षि, उनके सामने उपस्थित
होकर, उनसे पूछ रहे हैं:—"महाराज! आप सुख से तो सोये?" और,
भगवान् अपनी पवित्र दृष्टि से उनकी तरफ़ देख देख कर उन पर अपना
अनुग्रह प्रकट कर रहे हैं।

दैत्यों के संहार-कर्त्ता विष्णु भगवान् के इस प्रकार दर्शन करके देव-
ताओं ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। तदनन्तर, जिन भगवान् की महिमा
के पार न मन ही जा सकता है, न वाणी ही जा सकती है, और, जिनकी
चाहे जितनी स्तुति की जाय कम है, उनका गुणगान वे इस तरह
करने लगे:—

'आपही इस विश्व की उत्पत्ति करके पहले इसके कर्त्ता बनते हैं, तद-
नन्तर आपही इसका पालन-पोषण करके इसके भर्त्ता की उपाधि ग्रहण
करते हैं; और, अन्त में, आपही इसका संहार करके इसके हर्त्ता हो जाते
हैं। एक होकर भी आप, इस प्रकार, तीन रूप वाले हैं। आपको हमारा
वार वार नमस्कार। आकाश से गिरे हुए जल का स्वादु असल में एक ही
अर्थात् मीठा, होता है। परन्तु जहाँ पर वह गिरता है वहाँ की ज़मीन
जैसी होती है उसके अनुसार उसके स्वादु में अन्तर पड़ जाता है—कहीं
वह खारी हो जाता है, कहीं कसैला, कहीं कड़ुवा। इसी तरह आप यद्यपि
एक रूप हैं—आपका असली रूप यद्यपि एक ही है; उसमें कभी विकार
नहीं होता—तथापि भिन्न भिन्न गुणों के आश्रय से आपका रूप भी भिन्न
भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है। सत्व-गुण के आश्रय से आप
सतोगुणी, रजोगुण के आश्रय से रजोगुणी और तमोगुण के आश्रय से
तमोगुणी हो जाते हैं। आप स्वयं तो अपरिमेय हैं; पर इस सारे ब्रह्माण्ड
को आपने माप डाला है। स्वयं तो आप किसी वस्तु की कामना नहीं
रखते; पर औरों की कामनायें पूर्ण करने में आप अद्वितीय हैं। आप
सदा ही सब पर विजय पाते हैं; पर, आज तक, कोई भी, कभी, आपको

नहीं जीत सका। स्वयं अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी, आप ही इस स्थूल सृष्टि के आदि-कारण हैं। भगवन्! आप हृदय के भीतर बैठे हुए भी बहुत दूर मालूम होते हैं। यह हमारा मत नहीं; बड़े बड़े पहुँचे हुए महात्माओं का मत है। वे कहते हैं कि आप निष्काम होकर भी तपस्वी हैं; दयालु होकर भी दुःख से दूर हैं; पुराण-पुरुष होकर भी कभी बूढ़े नहीं होते! आप सब कुछ जानते हैं; आप को कोई नहीं जानता। आप ही से सब कुछ उत्पन्न हुआ है; आपको उत्पन्न करने वाला कोई नहीं—आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं। आप सब के प्रभु हैं; आपका कोई प्रभु नहीं। आप एक होकर भी सर्वरूप हैं; ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसमें आपकी सत्ता न हो। सातों समुद्रों के जल में सोनेवाले आपही को बड़े बड़े विद्वान् भूर्भुवः स्वः आदि सातों लोकों का आश्रय बताते हैं। वे कहते हैं कि 'रथन्तरं' 'बृहद्रथन्तरं' आदि सातों सामों में आपही का गुण-कीर्तन है; और काली, कराली आदि सातों शिखाओं वाली अग्नि आप ही का मुख है। चार मुखवाले आपही से चतुर्वर्ग—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान की उत्पत्ति हुई है। समय का परिमाण बताने वाले सत्य, त्रेता, आदि चारों युग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्ण भी आप ही से उत्पन्न हुए हैं। कठिन अभ्यास से अपने मन को अपने वश में करके, योगी लोग, हृदय में बैठे हुए परम-ज्योतिःस्वरूप आप ही का चिन्तन, मुक्ति पाने के लिए, करते हैं। आप अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; किसी प्रकार की इच्छा न रखने पर भी शत्रुओं का संहार करते हैं; सदा जागे हुए होकर भी सोते हैं। इस दशा में आपका यथार्थ ज्ञान किसे हो सकता है? कौन ऐसा है जो आपको अच्छी तरह जान सके? इधर तो आप राम, कृष्ण आदि का अवतार लेकर शब्द आदि के विषयों का उपभोग करते हैं; उधर नर-नारायण आदि का रूप धर कर घोर तपश्चर्या करते हैं। इधर दैत्यों का दलन करके प्रजा-पालन करते हैं, उधर चुपचाप उदासीनता धारण किये बैठे रहते हैं। इस तरह भोग और तपस्या, प्रजा-पालन और उदासीनता आदि परस्पर-विरोधी वर्त्ताव आप के सिवा और कौन कर सकता है? सिद्धि तक पहुँचने के लिए सांख्य, योग, मीमांसा आदि शास्त्रों ने जुदा जुदा मार्ग बताये हैं। परन्तु—समुद्र में गङ्गा के प्रवाह

के समान—वे सारे मार्ग, अन्त को, आप ही में जा मिलते हैं। पुनर्जन्म के क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए जो लोग, विषय-वासनाओं से विरक्त होकर, सदा आपही का ध्यान करते हैं और अपने सारे कर्म्मों का फल भी सदा आपही को समर्पण कर देते हैं उनकी सिद्धि के एक मात्र साधक आपही हैं। आपही की कृपा से वे जन्म-मरण के झंझटों से छूट जाते हैं। सूर्य्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र आदि प्रत्यक्ष पदार्थ ही आपकी अमित महिमा की घोषणा दे रहे हैं। वही पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि आपकी महिमा का ओर छोर नहीं। आपके उत्पन्न किये गये इन पदार्थों का ही सम्पूर्ण ज्ञान जब किसी को नहीं हो सकता तब इनके आदि-कारण आपका ज्ञान कैसे हो सकेगा? वेदों और अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध होने वाले आपकी महिमा की क्या बात है। वह तो सर्वथा अपरिमेय और अतुलनीय है। जब आप केवल स्मरण ही से प्राणियों को पावन कर देते हैं तब आपके दर्शन और स्पर्शन आदि के फलों का कहना ही क्या है। उनका अन्दाज़ा तो स्मरण के फल से ही अच्छी तरह हो जाता है। जिस तरह रत्नाकर के रत्नों की गिनती नहीं हो सकती और जिस तरह मरीचिमाली सूर्य्य की किरणों की संख्या नहीं जानी जा सकती, उसी तरह आपके अगम्य और अपरिमेय चरित भी नहीं वर्णन किये जा सकते। वे स्तुतियों की मर्य्यादा के सर्वथा बाहर हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपको प्राप्त न हो। अतएव किसी भी वस्तु की प्राप्ति की आप इच्छा नहीं रखते। जब आपको सभी कुछ प्राप्त है तब आप किस चीज़ के पाने की इच्छा रक्खेंगे? केवल लोकानुग्रह से प्रेरित होकर आप जन्म लेते और कर्म करते हैं। आपके जन्म और कर्म का कारण एकमात्र लोकोपकार है। लोक पर यदि आपकी कृपा न होती तो आपको जन्म लेने और कर्म करने की कोई आवश्यकता न थी। आपकी महिमा का गान करते करते, लाचार होकर, वाणी को रुक जाना पड़ता है। इसका कारण यह नहीं कि आपकी महिमा ही उतनी है। कारण यह है कि आपकी स्तुति करते करते वह थक जाती है। इसीसे असमर्थ होकर उसे चुप रहना पड़ता है। सम्पूर्ण भाव से आपका गुण-कीर्तन करने में वह सर्वथा असमर्थ है।”

इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा न जानने योग्य भगवान् की इस प्रकार स्तुति करके देवताओं ने उन्हें प्रसन्न किया। जो कुछ उन्होंने कहा उसे परमेश्वर की प्रशंसा नहीं, किन्तु उनके गुणों का यथार्थ गान समझना चाहिए। क्योंकि, देवताओं का कथन सत्यता से भरा हुआ था। उसमें अतिशयोक्ति न थी। एक अक्षर भी उन्होंने बढ़ा कर नहीं कहा।

देवताओं का कथन समाप्त होने पर भगवान् ने उनसे कुशल-समाचार पूँछा। इससे देवताओं को सूचित हो गया कि भगवान् उन पर प्रसन्न हैं। इस पर उन्होंने भगवान् से यह निवेदन किया कि रावणरूपी समुद्र, मर्य्यादा को तोड़ कर, समय के पहले ही, प्रलय करना चाहता है। इससे हम लोग अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं।

देवताओं से भय का कारण सुन चुकने पर, विष्णु भगवान् के मुख से बड़ी ही गम्भीर वाणी निकली। उसकी ध्वनि में समुद्र की ध्वनि डूब गई—उसने समुद्र की ध्वनि को भी मात कर दिया। समुद्र-तट के पर्वतों की गुफ़ाओं में घुस कर वह जो प्रतिध्वनित हुई तो उसकी गम्भीरता और भी बढ़ गई। पुराण-पुरुष विष्णु के कण्ठ, ओंठ, तालू आदि उच्चारण-स्थानों से निकलने के कारण उस वाणी की विशुद्धता का क्या कहना। उसने अपना जन्म सफल समझा। वह कृतार्थ हो गई। भगवान् के मुख से निकलने, और उनके दाँतों की कान्ति से मिश्रित होने, से वह—चरण से निकली हुई ऊर्ध्ववाहिनी गङ्गा के समान—बहुत ही शोभायमान हुई। विष्णु भगवान् ने कहा:—

"देहधारियों के सत्व और रजोगुण को जिस तरह तमोगुण दबा लेता है उसी तरह राक्षस रावण ने तुम्हारे महत्व और पराक्रम को दबा लिया है। यह बात मुझ से छिपी नहीं। अनजान में हो गये पाप से साधुओं का हृदय जैसे सन्तप्त होता है वैसे ही रावण से त्रिभुवन सन्तप्त हो रहा है। यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है। इस सम्बन्ध में इन्द्र को मुझ से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि, हम दोनों का एक ही काम है। उनके काम को मैं अपना ही काम समझता हूँ। क्या अपनी सहायता करने के लिए अग्नि कभी पवन से प्रार्थना करता है? अग्नि की सहायता करना तो पवन का कर्तव्य ही है—बिना कहे ही वह अग्नि

की सहायता के लिए सदा तत्पर रहता है। इन्द्र का और मेरा सम्बन्ध तुम, अग्नि और पवन ही का जैसा सम्बन्ध, समझो। रावण के नौ सिर तो उसी के खड्ग से कट चुके हैं, दसवाँ नहीं कटा। वह उसके ख बच रहा है। उसे उसने मेरे चक्र का उचित भाग सा समझ कर, उ काटे जाने के लिए, रख छोड़ा है। चन्दन का वृक्ष जैसे सर्प का चढ़ सहन करता है उसी तरह, ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से मैं उस दुरात सुर-शत्रु का सिर चढ़ना, किसी तरह, सहन कर रहा हूँ। उग्र तपस्य करके उसने ब्रह्मा को प्रसन्न किया, तो ब्रह्मा उसे वर देने को तैयार हुए। इस पर उसने यह वर माँगा कि मैं देवताओं के हाथ से न मर सकूँ। मनुष्यों को तो वह कोई चीज़ ही नहीं समझता। इससे उनके हाथ से न मारे जाने का वर उसने न माँगा। ब्रह्मा के इसी वरदान की बदौलत वह अजेय हो रहा है; कोई देवता उसे नहीं मार सकता। अब मैं मनुष्य का अवतार लेकर ही उसे मारूँगा। मैं राजा दशरथ का पुत्र होकर, अपने पैने बाणों से उसके सिर काट काट कर, रणभूमि की पूजा के लिए, उन्हें कमलों का ढेर बना दूँगा। घबराओ मत; मैं उसके सिररूपी कमलों से रणभूमि की पूजा करके, तुम्हारा सारा सन्ताप दूर कर दूँगा। याज्ञिक लोग यज्ञों में जो हविर्भाग तुम्हें विधिपूर्वक देते हैं उसे ये मायावी राक्षस छूकर अपवित्र कर डालते हैं और खा तक जाते हैं। इस दुष्कर्म का बदला बहुत जल्द इन्हें मिलेगा और तुम्हें तुम्हारा यज्ञ-भाग पहले ही की तरह प्राप्त होने लगेगा। तुम लोगों को तङ्ग करने के लिए, पुष्पक-विमान पर सवार हुआ रावण, आकाश में चक्कर लगाया करता है। इस कारण उसके डर से तुम अपने अपने विमानों पर बैठे हुए बादलों में छिपते फिरते हो। तुम अपने इस डर को गया ही समझो। अब तुम उससे मत डरो। मैं उसकी शीघ्र ही ख़बर लूँगा। रावण को यदि नलकूवर का यह शाप न होता कि यदि तू किसी स्त्री पर अत्याचार करेगा तो तेरे सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे, तो जिन देवाङ्गनाओं को उसने अपने यहाँ क़ैद कर रक्खा है उन पर वह अत्याचार किये बिना न रहता। इसी शाप के डर से वह सुराङ्गनाओं के शरीर पर हाथ लगा कर उन्हें अपवित्र नहीं कर सका। जिस दिन से वे क़ैद हुईं उस दिन से उन बेचारियों ने अपनी बेनियाँ तक

नहीं खोलीं। उनके सिर के बाल वैसे ही बँधे पड़े हैं। सन्तोष की बात इतनी ही है कि रावण के स्पर्श से वे अपवित्र नहीं हुईं। कुछ डर नहीं; उनके खोले जाने का समय अब आ गया समझो। सुराङ्गनायें तुम्हें शीघ्र ही फिर मिल जायँगी और तुम उनके जूड़े खोल कर उनकी वियोग-व्यथा दूर कर दोगे।"

रावणरूपी अवर्षण से सूखते हुए देवतारूपी अनाज के पौधों पर, इस प्रकार का वाणीरूप जल बरसा कर, भगवान्‌रूपी कृष्ण-मेघ अन्तर्द्धान हो गये। देवताओं को जब यह मालूम हो गया कि भगवान् हम लोगों का काम करने के लिए उद्यत हैं तब उन्होंने भी इस काम में भगवान् की सहायता करने का निश्चय किया। अतएव, इन्द्र आदि देवता भी अपने अपने अंशों से इस तरह भगवान् के पीछे पीछे गये, जिस तरह कि वृक्ष अपने फूलों से पवन के पीछे जाते हैं। देवताओं ने भी अपनी अपनी मात्राओं से हनूमान् और सुग्रीव आदि का अवतार लिया।

उधर शृङ्गी ऋषि आदि महात्माओं की कृपा से राजा दशरथ का पुत्रेष्टि-यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। उसके अन्त में, अग्नि-कुण्ड से, ऋत्विज् ब्राह्मणों के अचम्भे के साथ ही, एक तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ। खीर से भरा हुआ एक सुवर्णपात्र उसके दोनों हाथों में था। खीर में आदि-पुरुष भगवान् ने प्रवेश किया था; उनका अंश उसमें था। इस कारण उसमें बेहद भारीपन आ गया था—यहाँ तक कि वह पुरुष भी उस पात्र को बड़ी कठिनता से उठा सका था। प्रजापति-सम्बन्धी उस पुरुष के दिये हुए अन्न को—समुद्र से निकले हुए अमृत को इन्द्र के समान—राजा दशरथ ने ले लिया। त्रिलोकी के नाथ भगवान् ने भी दशरथ से जन्म पाने की इच्छा की! फिर भला और कौन ऐसा है जो दशरथ की बराबरी कर सके? उसके सौभाग्य की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उसके से गुण और किसी में नहीं पाये गये।

सूर्य जैसे अपनी प्रातःकालीन धूप, पृथ्वी और आकाश को बाँट देता है, वैसे ही दशरथ ने भी वह चरु-नामक विष्णु-तेज अपनी दो रानियों, कौसल्या और कैकेयी, को बाँट दिया। राजा की जेठी रानी कौसल्या थी; पर सब से अधिक प्यार वह कैकयी का करता था। इससे इन्हीं दोनों को

उसने वह खीर पहले अपने हाथ से दी। फिर उसने उनसे कहा कि अब तुम्हीं अपने अपने हिस्से से थोड़ी थोड़ी खीर सुमित्रा को देने की कृपा करो। राजा की यह इच्छा थी कि सब को अपना अपना हिस्सा भी मिल जाय और कोई किसी से अप्रसन्न भी न हो। उसके मन की बात कौसल्या और कैकेयी ताड़ गईं, अतएव, उन्होंने चरु के आधे आधे हिस्सों से सुमित्रा का सम्मान किया। सुमित्रा को वे दोनों स्वयं भी चाहती थीं। सुमित्रा थी भी बड़ी सुशीला। हाथी की दोनों कनपटियों से बहने वाले मद की दो धाराओं पर भौंरी का प्रेम जैसे तुल्य होता है वैसे ही उन दोनों रानियों पर सुमित्रा का भी प्रेम सम था। वह उन दोनों का एक सा प्यार करती थी। इसी से वह उनकी भी प्यारी थी और इसी से उन्होंने सुमित्रा को अपने अपने हिस्से से प्रसन्नतापूर्वक खीर दे दी। खीर खाने से उनके, विष्णु के अंश से उत्पन्न हुआ, गर्भ रह गया। सूर्य की अमृता-नामक किरणें जिस तरह जलरूपी गर्भ धारण करती हैं उसी तरह उन्होंने भी उस गर्भ को, लोक-कल्याण की इच्छा से, धारण किया।

तीनों रानियाँ साथही गर्भिणी हुईं। उनके शरीर की कान्ति पीली पड़ गई। वे, उस समय, अपने भीतर फलों के अंकुर धारण किये हुए अनाज के पौधों की शाखाओं के सदृश, शोभायमान हुईं। उन तीनों ने रात को स्वप्न में देखा कि शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग और धनुष लिये हुए बौने मनुष्य उनकी रक्षा कर रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि गरुड़ अपने सुनहले पंखों की प्रभा को चारों तरफ़ फैला रहा है और बड़े वेग से उड़ने के कारण बादलों को अपने साथ खींचे लिये जा रहा है। वे उसी पर सवार हैं और आकाश-मार्ग से कहीं जा रही हैं। उन्होंने यह भी स्वप्न में देखा कि लक्ष्मीजी, कमलरूपी पङ्खा हाथ में लिये हुए, और नारायण से धरोहर के तौर पर प्राप्त हुई कौस्तुभ-मणि को छाती पर धारण किये हुए, उनकी सेवा कर रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि सातों ब्रह्मर्षि आकाश-गङ्गा में स्नान करके आये हैं और वेद-पाठ करते हुए उनकी पूजा कर रहे हैं। अपनी तीनों रानियों से इस तरह स्वप्नों के समाचार सुन कर राजा दशरथ को परमानंद हुआ। वह कृतार्थ हो गया। उसने मन ही मन कहा:—"जगत्पिता भगवान् विष्णु के पिता होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा। अतएव मेरे सदृश भाग्यवान् और कौन है?"

चन्द्रमा एक ही है। परन्तु, भिन्न भिन्न जगहों में भरे हुए निर्म्मल जलों में, उसके अनेकों प्रतिविम्ब देख पड़ते हैं। इसी तरह सर्वव्यापी भगवान् भी यद्यपि एकही हैं, तथापि, उन्होंने अपनी आत्मा के अनेक विभाग करके, एक एक अंश से, राजा दशरथ की एक एक रानी की कोख में, निवास किया। निदान दसवें महीने राजा की प्रधान रानी के पुत्र हुआ। रात के समय दिव्य ओषधि जैसे अन्धकार को दूर करनेवाला प्रकाश उत्पन्न करती है वैसे ही सती कौसल्या ने तमोगुण का नाश करनेवाला पुत्र उत्पन्न किया। बालक बहुत ही सुन्दर हुआ। उसके अत्यन्त अभिराम शरीर को देख कर पिता ने तदनुसार उसका नाम 'राम' रक्खा। इस नाम को संसार में सबसे अधिक मङ्गलजनक समझ कर सभी ने बहुत पसन्द किया। यह बालक रघु-कुल में दीपक के सदृश हुआ। उसके अनुपम तेज के सामने सौरी-घर के सारे दीपक मन्द पड़ गए। उनकी ज्योति क्षीण हो गई। प्रसूति के अनन्तर रामचन्द्र की माता के शरीर की गुरुता घट गई। वह दुबली हो गई। सेज पर सोते हुए राम से वह ऐसी शोभायमान हुई जैसी कि तट पर पड़े हुए पूजा के कमल-फूलों के उपहार से शरद् ऋतु की पतली पतली गङ्गा शोभायमान होती है।

कैकेयी से भरत नामक बड़ा ही शीलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ। विनय (नम्रभाव) से जैसे लक्ष्मी (धनसम्पन्नता) की शोभा बढ़ जाती है वैसे ही इस नव-जात पुत्र से कैकेयी की शोभा बढ़ गई। जो विशेषता विनय से लक्ष्मी में आ जाती है वही विशेषता भरत के जन्म से कैकेयी में भी आ गई।

अच्छी तरह अभ्यास की गई विद्या से जैसे प्रबोध और विनय, इन दो, गुणों की उत्पत्ति होती है वैसे ही सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न नाम के दो जोड़िये पुत्रों की उत्पत्ति हुई।

भगवान् के जन्म ने सारे संसार को मङ्गलमय कर दिया। दुर्भिक्ष और अकाल-मृत्यु आदि आपदायें न मालूम कहाँ चली गईं। सम्पदाओं का सर्वत्र राज्य हो गया। पृथ्वी पर आये हुए भगवान् पुरुषोत्तम के पीछे स्वर्ग भी पृथ्वी पर उतर सा आया। रावण के भय से दिशाओं के स्वामी, दिक्पाल, काँपते थे। जब स्वामियों ही की यह दशा थी तब दिशाओं की

क्या कहना? वे बेचारी तो और भी अधिक भयभीत थीं। अतएव जब उन्होंने सुना कि रावण के मारने के लिए परमपुरुष परमेश्वर ने अपनी आत्मा को, राम, लक्ष्मण आदि चार मूर्त्तियों में विभक्त करके, अवतार लिया है तब उनके आनन्द का पारावार न रहा। विना धूल की स्वच्छ वायु के बहाने उन्होंने ज़ोर से साँस ली। उन्होंने मन में कहा:—"आह! इतने दिनों बाद हमारी आपदाओं के दूर होने का समय आया।" सूर्य्य और अग्नि भी उस राक्षस के अन्याय और अत्याचार से पीड़ित थे। अतएव, सूर्य्य ने विमल और अग्नि ने निर्धूम होकर मानो यह सूचित किया कि रामावतार ने हमारे भी हृदय की व्यथा कम कर दी—हम भी अब अपने को सुखी हुआ ही सा समझते हैं।

उस समय एक बात यह भी हुई कि राक्षसों की सौभाग्य-लक्ष्मी के अश्रु-बिन्दु, रावण के किरीट की मणियों के बहाने, पृथ्वी पर टपाटप गिरे। रावण के किरीट की मणियाँ क्या गिरीं, राक्षसों की सौभाग्य-लक्ष्मी ने आँसू गिरा कर भावी दुर्गति की सूचना सी दी। इस अशकुन ने मानों यह भविष्यद्वाणी की कि अब राक्षसों के बुरे दिन आ गये।

राजा दशरथ के पुत्र का जन्म होते ही आकाश में देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजा कर आनन्द मनाया। जन्मोत्सव का आरम्भ उन्हीं ने किया। पहले देव-दुन्दुभियाँ बजीं, पीछे दशरथ के यहाँ तुरहियाँ और नगाड़े आदि। इसी तरह मङ्गल-सूचक उपचारों का आरम्भ भी देवताओं ही ने किया। पहले उन्हीं ने दशरथ के महलों पर कल्पवृक्ष के फूल बरसाये। तदनन्तर, कुल की रीति के अनुसार, राजा के यहाँ कलश, बन्दनवार और कदली-स्तम्भ आदि माङ्गलिक वस्तुओं के स्थापन, बन्धन और आरोपण आदि की क्रियायें हुईं।

रामादि का जन्म न हुआ था तभी दशरथ के हृदय में तत्सम्बन्धी आनन्द उत्पन्न हो गया था। इस हिसाब से दशरथ का हृदयानन्द राम-लक्ष्मण आदि से जेठा हुआ। जात-कर्म्म आदि संस्कार हो चुकने पर, धाय का दूध पीनेवाले राजकुमार, उम्र में अपने से जेठे, पिता के उस आनन्द के साथ ही साथ, बढ़ने लगे। वे चारों स्वभाव ही से बड़े नम्र थे। शिक्षा से उनका नम्रभाव—घी, समिधा आदि डालने से अग्नि के स्वाभा-

विक तेज की तरह—और भी बढ़ गया। उनमें परस्पर कभी लड़ाई झगड़ा न हुआ। एक ने दूसरे का कभी विरोध न किया। उनकी बदौलत रघु का निष्कलङ्क कुल—ऋतुओं की बदौलत नन्दन-वन की तरह—बहुत ही शोभनीय हो गया।

चारों भाइयों में भ्रातृभाव यद्यपि एक सा था—भ्रातृस्नेह यद्यपि किसी में किसी से कम न था—तथापि जैसे राम और लक्ष्मण ने वैसे ही भरत और शत्रुघ्न ने भी प्रीतिपूर्वक अपनी अपनी जोड़ी अलग बना ली। अग्नि और पवन, तथा चन्द्रमा और समुद्र, की जोड़ी के समान इन दोनों जोड़ियों की प्रीति में कभी भेद-भाव न हुआ। उनकी अखण्ड प्रीति कभी एक पल के लिए भी नहीं टूटी। प्रजा के उन चारों पतियों ने—ग्रीष्म-ऋतु के अन्त में काले बादलोंवाले दिनों की तरह—अपने तेज और नम्र-भाव से प्रजा का मन हर लिया। उनकी तेजस्विता और नम्रता देख कर प्रजा के आनन्द की सीमा न रही। वह उन पर बहुत ही प्रसन्न हुई। चार रूपों में बँटी हुई राजा दशरथ की वह सन्तति—धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष के मूर्त्तिमान् अवतार की तरह—बहुत ही भली मालूम हुई। समुद्र-पर्य्यन्त फैली हुई चारों दिशाओं की पृथ्वी का पति समझ कर, चारों महासागरों ने, नाना प्रकार के रत्न देकर, जैसे दशरथ को प्रसन्न किया था वैसे ही पिता के प्यारे उन चारों राजकुमारों ने भी अपने गुणों से उसे प्रसन्न कर दिया।

राजाओं के राजा महाराज दशरथ के भाग्य की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। भगवान् के अंश से उत्पन्न हुए अपने चारों राजकुमारों से उसकी ऐसी शोभा हुई जैसी कि दैत्यों के खड्गों की धारें तोड़नेवाले अपने चारों दाँतों से ऐरावत हाथी की, अथवा रथ के जुये के समान लम्बे लम्बे चार बाहुओं से विष्णु की, अथवा फल-सिद्धि से अनुमान किये गये साम, दान आदि चारों उपायों से नीति-शास्त्र की।

ग्यारहवाँ सर्ग।

—:०:—

परशुराम का पराभव।

महामुनि विश्वामित्र के यज्ञ में राक्षस विघ्न डालने लगे। उनके उपद्रव से विश्वामित्र तङ्ग आ गये। अतएव, वे दशरथ के पास आये और यज्ञ की रक्षा के लिए उन्होंने राजा से रामचन्द्र को माँगा। राम की उम्र उस समय थोड़ी ही थी। सिर पर ज़ुल्फ़ रखाये हुए वे अधिकतर वालक्रीड़ा ही किया करते थे। परन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि वे मुनि का इच्छित कार्य्य करने योग्य न थे। वात यह है कि तेजस्वियों की उम्र नहीं देखी जाती। उम्र कम होने पर भी वे वड़े वड़े काम कर सकते हैं।

महाराज दशरथ विद्वानों का वड़ा आदर करते थे। वे वड़े समझदार थे। यद्यपि उन्होंने वड़े दुःखों से बुढ़ापे में, रामचन्द्र जैसा पुत्र पाया था, तथापि उन्होंने राम ही को नहीं, लक्ष्मण को भी, मुनि के साथ जाने की आज्ञा दे दी। रघु के कुल की रीति ही ऐसी है। माँगने पर प्राण तक दे डालने में सोच-सङ्कोच करना वे जानते ही नहीं। वे जानते हैं केवल याचकों की वाञ्छा पूर्ण करना।

राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ जाने की अनुमति देकर, राजा दशरथ ने उन मार्गों के सजाये जाने की आज्ञा दी जिनसे राम-लक्ष्मण को जाना था। परन्तु जव तक राजा की आज्ञा का पालन किया जाय तव तक पवन से सहायता पाने वाले वादलों ने ही, फूल-सहित जल वरसा कर उन मार्गों को सजा दिया। पानी का छिड़काव करके उन्होंने उन पर फूल विछा दिये।

राम-लक्ष्मण ने पिता की आज्ञा को सिर पर रक्खा। वे जाने को तैयार

हो गये। अपना अपना धनुष उन्होंने उठा लिया और पिता के पास विदा होने गये। बड़े भक्ति-भाव से उन्होंने पिता के पैरों पर सिर रख दिये। उस समय स्नेहाधिक्य के कारण राजा का कण्ठ भर आया। उसकी आँखों से निकले हुए आँसू, पैरों पर पड़े हुए राम-लक्ष्मण के ऊपर, टपाटप गिरने लगे। उनसे उन दोनों की चोटियाँ भीग गईं—आँसुओं से उनके सिर के बाल कुछ कुछ आर्द्र हो गये। ख़ैर, किसी तरह, पिता से विदा होकर और अपना अपना धनुष सँभाल कर वे विश्वामित्र के पीछे पीछे चले। पुरवासी उन्हें टकटकी लगा कर देखने लगे। उस समय राम-लक्ष्मण के मार्ग में, पुरवासियों की चावभरी दृष्टियों ने तोरण का काम किया। मार्ग में, राम-लक्ष्मण के सामने सब तरफ़ से आई हुई दृष्टियों की मेहराबें सी बनती चली गईं।

विश्वामित्र ने दशरथ से राम और लक्ष्मण ही को माँगा था। उन्हें इन्हीं दोनों की आवश्यकता थी। अतएव राजा ने अपने पुत्रों के साथ सेना न दी; हाँ आशीष अवश्य दी। उसने आशीष ही को राम-लक्ष्मण की रक्षा के लिए यथेष्ट समझा। इसी से उसने आशीष ही साथ कर दी, सेना नहीं। इसके बाद वे दोनों राजकुमार अपनी माताओं के पास गये और उनके पैर छूकर महातेजस्वी विश्वामित्र के साथ हो लिये। उस समय मुनि के मार्ग में प्राप्त होकर वे ऐसे मालूम हुए जैसे गति के वशीभूत होकर सूर्य्य के मार्ग में फिरते हुए चैत और वैशाख के महीने मालूम होते हैं।

राजकुमार बालक तो थे ही। इस कारण चपलता उनमें स्वाभाविक थी। उनकी भुजायें तरङ्गों के समान चञ्चल थीं। वे शान्त न रहती थीं। मार्ग में, चलते समय भी, कुछ न कुछ करती ही जाती थीं। परन्तु उनकी ये बाल-लीलायें बुरी न लगती थीं। वे उलटा भली मालूम होती थीं। वर्षा-ऋतु में उद्धय और भिद्य नामक नद, अपने नाम के अनुसार, जैसी चेष्टा करते हैं वैसी ही चेष्टा राम और लक्ष्मण की भी थी। उनकी चेष्टा और चपलता उद्धत होने पर भी जी लुभाने वाली थी।

महामुनि विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को बला और अतिबला नाम की दो विद्यायें सिखा दीं। उनके प्रभाव से उन्हें ज़रा भी थकावट न मालूम हुई। चलने से उन्हें कुछ भी श्रम न हुआ। यद्यपि वे महलों के भीतर रत्न-

खचित भूमि पर ही चलने वाले थे, तथापि, इन विद्याओं की बदौलत, मुनि के साथ मार्ग चलना उन्हें ऐसा मालूम हुआ जैसे वे अपनी माताओं के पास आनन्द से खेल रहे हों। दशरथ से विश्वामित्र की मित्रता थी। वे उनके पुत्रों का भी बड़ा प्यार करते थे। वे चाहते थे कि राम-लक्ष्मण को राह चलने में कष्ट न हो। इस कारण वे तरह तरह की कथायें और पुरानी बातें राजकुमारों को सुनाने लगे। कुमारों को ये आख्यान इतने अच्छे मालूम हुए कि उन्हें अपने तन मन तक की सुध न रही। फल यह हुआ कि यद्यपि वे कभी विना सवारी के न चले थे, तथापि उन्होंने यह भी न जाना कि हम पैदल चल रहे हैं। मुनि के कहे हुए आख्यानों ने ही सवारी का काम दिया। राजकुमार उन्हीं पर सवार से हुए, मुनि के पीछे पीछे दौड़ते चले गये। जीवधारियों ने ही नहीं; निर्जीवों तक ने, मार्ग में, राम-लक्ष्मण की सेवा करके अपना जन्म सफल समझा:—तालावों ने अपने मीठे जल से, पक्षियों ने अपने कर्णमधुर कलरव से, पवन ने सुगन्धित फूलों के पराग से और बादलों ने अपनी छाया से उनकी सेवा-शुश्रूषा की।

तपस्वियों को राम-लक्ष्मण के दर्शनों की अभिलाषा बहुत दिनों से थी। अतएव उन्हें देख कर मुनियों को महानन्द हुआ। खिले हुए कमलों से परिपूर्ण जलाशयों और थकावट दूर करने वाले छायावान् वृक्षों के दर्शन से उन्हें जो आनन्द नहीं हुआ वह आनन्द राम-लक्ष्मण के दर्शन से हुआ। उन्हें देख कर वे कृतार्थ हो गये।

धनुष लिये हुए रामचन्द्र गङ्गा और सरयू के सङ्गम के पास पहुँच गये। शङ्कर के द्वारा जला कर भस्म किये गये काम का, किसी समय, यहीं पर आश्रम था। शरीर की सुन्दरता में राम भी काम ही के समान थे; पर कर्म्म उनका उसके सदृश न था। रूप में ते। वे काम के प्रतिनिधि अवश्य थे, परन्तु कार्य्य में नहीं। काम के कर्म्म से राम का कर्म्म जुदा था। सुकेतु की बेटी ताड़का ने काम के इस तपोवन को बिलकुल ही उजाड़ दिया था। उसके मारे न कोई इधर से आने जाने ही पाता था और न कोई तपस्वी यहाँ रहने ही पाता था। राम-लक्ष्मण के वहाँ पहुँचने पर विश्वामित्र ने उनसे ताड़का के शाप की सारी कथा कह सुनाई। तब उन दोनों ने अपने अपने धनुषों की नोकें ज़मीन पर रख कर, विना प्रयास

के ही, उन पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना उनके लिए कोई बड़ी बात न थी। वह तो उनके लिए एक प्रकार का खेल सा था।

राम-लक्ष्मण ने धनुष चढ़ा कर प्रत्यञ्चा की घोर टङ्कार की। उसे सुनते ही, अँधेरे पाख की रात की तरह काली काली ताड़का, नर-कपालों के हिलते हुए कुण्डल पहने, वहाँ पहुँच गई। उस समय वह भूरे रङ्ग की बगलियों सहित मेघों की घनी घटा के समान मालूम हुई। मुर्दों के शरीर पर से उतारे गये मैले कुचैले कपड़े पहने, वह इतने वेग से वहाँ दौड़ती हुई आई कि रास्ते के पेड़ हिल गये। मरघट में उठे हुए बड़े भारी बगूले की तरह आकर और भयङ्कर नाद करके उसने रामचन्द्र को डरा दिया। कमर में मनुष्य की आँतों की करधनी पहने हुए और एक हाथ को लठ की तरह ऊपर उठाये हुए वह रामचन्द्र पर दौड़ी। उसे इस तरह आक्रमण करने के लिए आती देख राम ने बाण के साथ ही स्त्री-हत्या की घृणा भी छोड़ दी—इस बात की परवा न करके कि स्त्री का वध निषिद्ध है, उन्होंने धनुष तान कर ताड़का पर बाण छोड़ ही दिया। ताड़का की शिला सदृश कठोर छाती को फाड़ कर वह बाण पीठ की तरफ़ बाहर निकल आया। उसने उस राक्षसी की छाती में छेद कर दिया। राक्षसों के देश में तब तक प्रवेश न पाये हुए यमराज के घुसने के लिए इस छेद ने द्वार का काम किया। राक्षसों का संहार करने के लिए, इसी छेद के रास्ते, यमराज उनके देश में घुस सा आया। रावण की राज्य-लक्ष्मी अब तक खूब स्थिर थी। तीनों लोकों का पराजय करने से उसकी स्थिरता बहुत बढ़ गई थी। उसके भी डगमगाने का समय आ गया। बाण से छाती छिद जाते ही ताड़का धड़ाम से ज़मीन पर गिर गई। उसके गिरने से उस तपोवन की भूमि तो हिल ही गई; रावण की अत्यन्त स्थिर हुई वह राज्य-लक्ष्मी भी हिल उठी। रावण के भी भावी पतन का सूत्रपात हो गया। जिस तरह अभिसारिका स्त्री, पञ्चशायक के शायक से व्यथित होकर, शरीर पर चन्दन और कस्तूरी आदि का लेप लगाये हुए अपने जीवितेश (प्रेमपात्र) के पास जाती है उसी तरह, रामचन्द्र के दुःसह शर से हृदय में अत्यन्त पीड़ित हुई निशाचरी ताड़का, दुर्गन्धिपूर्ण रुधिर में सराबोर हुई, जीवितेश (यम) के घर पहुँच गई।

रामचन्द्र के इस पराक्रम से विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए। अतएव ताड़का मारने के उपलक्ष्य में उन्होंने रामचन्द्र को एक ऐसा अस्त्र दिया जो, राक्षसों पर छोड़ा जाने पर, उन्हें मारे विना न रहे। महामुनि ने उस अस्त्र के प्रयोग का मन्त्र और उसके चलाने की विधि भी रामचन्द्र को बतला दी। महामुनि से उस अस्त्र को रामचन्द्र ने—सूर्य्य से लकड़ी जलाने वाले तेज को सूर्य्यकान्त मणि की तरह—पाकर उसे सादर ग्रहण किया।

ताड़का को मार कर रामचन्द्र, चलते चलते, वामनजी के पावन आश्रम में आये। उसका नाम आदि विश्वामित्र ने उनसे पहले ही बता दिया था। वहाँ पहुँच कर रामचन्द्र को यद्यपि अपने पूर्वजन्म, अर्थात् वामनावतार, से सम्बन्ध रखनेवाली बातें याद न आईं, तथापि वे कुछ अनमने से ज़रूर हो उठे। इस समय वे कुछ सोचने से लगे।

वहाँ से चल कर, राम-लक्ष्मण को साथ लिये हुए, विश्वामित्र ने अपने आश्रम में प्रवेश किया। जाकर उन्होंने देखा कि उनके शिष्यों ने पूजा-अर्चा की सामग्री पहले ही से एकत्र कर रक्खी है; पत्तों के सम्पुटों की अँजुली बाँधे पेड़ खड़े हुए हैं; आश्रम के मृग, उनके दर्शनों की उत्कण्ठा से, मुँह ऊपर उठाये हुए राह देख रहे हैं। वहाँ पहुँचने पर ऋषि ने यज्ञ की दीक्षा ली और उसे विघ्नों से बचाने का काम राम-लक्ष्मण को सौंप दिया। इस पर वे अपने अपने धन्वा पर बाण रख कर, बारी बारी से, यज्ञशाला की रखवाली करने लगे। उन दोनों राजकुमारों ने अपने बाणों के द्वारा मुनि को इस तरह विघ्नों से बचाया, जिस तरह कि सूर्य्य और चन्द्रमा, बारी बारी से, अपनी किरणों के द्वारा संसार को अन्धकार से बचाते हैं।

यज्ञ हो ही रहा था कि आसमान से रक्त-वृष्टि होने लगी। दुपहरिया के फूल के बराबर बड़ी बड़ी रुधिर की बूँदों से वेदी दूषित हो गई। यह दशा देख ऋत्विजों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उन्होंने खैर की लकड़ी के चम्मच रख दिये और यज्ञ का काम बन्द कर दिया। रामचन्द्र ने जान लिया की विघ्नकर्त्ता राक्षस आ पहुँचे। इसलिए उन्होंने तरकस से तीर निकाल कर जो ऊपर आकाश की ओर मुँह उठाया तो देखा कि राक्षसों की सेना चली आ रही है और गीधों के पंखों की वायु से उसकी पताकायें फहरा रही हैं। राक्षसों की सेना में दोही राक्षस प्रधान थे। उन्हीं को

रामचन्द्र ने अपने बाण का निशाना बनाया; औरों पर प्रहार करने की उन्होंने आवश्यकता न समझी। बड़े बड़े विषधर सर्पों पर पराक्रम प्रकट करनेवाला गरुड़ क्या कभी छोटे छोटे सपेलों या पनिहाँ-साँपों पर भी आक्रमण करता है ? कभी नहीं। उन्हें वह अपनी बराबरी का समझता ही नहीं। शस्त्रास्त्रविद्या में रामचन्द्र बड़े ही निपुण थे। उन्होंने महा-वेग-गामी पवनास्त्र को धन्वा पर चढ़ा कर इस ज़ोर से छोड़ा कि ताड़का का मारीच नामक पर्व्वताकार पुत्र, पीले पत्ते की तरह, धड़ाम से ज़मीन पर गिर गया। यह देख कर सुबाहु नामक दूसरे राक्षस ने बड़ा मायाजाल फैलाया। आकाश में वह कभी इधर कभी उधर दौड़ता फिरा। परन्तु बाण-विद्या-विशारद रामचन्द्र ने उसका पीछा न छोड़ा। छुरे के समान पैने बाणों से उसके शरीर की बोटी बोटी काट कर उसे उन्होंने, आश्रम के बाहर, मांसभोजी पक्षियों को बाँट दिया।

यज्ञसम्बन्धी विघ्न को राम-लक्ष्मण ने, इस तरह, शीघ्र ही दूर कर दिया। उनका युद्ध-कौशल और पराक्रम देख कर ऋत्विजों ने उनकी बड़ी बड़ाई की और मौन धारण किये हुए कुलपति विश्वामित्र का यज्ञ-कार्य्य उन्होंने विधिपूर्वक निबटाया।

यज्ञ के अन्त में अवभृथ नामक स्नान करके विश्वामित्र ने यज्ञ-क्रिया से छुट्टी पाई। उस समय राम-लक्ष्मण ने उन्हें झुक कर सादर प्रणाम किया। प्रणाम करते समय हिलते हुए केशकलापवाले उन दोनों भाइयों को महा-मुनि ने आशीर्वाद दिया और उनकी पीठ पर बहुत देर तक अपना हाथ फेरा—वह हाथ जिसकी हथेली कुश तोड़ते समय कई दफे चिर चुकी थी और जिस पर इस घटना के निशान अब तक बने हुए थे।

इसी समय राजा जनक ने, यज्ञ करने के इरादे से, उसकी सारी सामग्री एकत्र करके, विश्वामित्र को भी उत्सव में आने के लिए निमन्त्रण भेजा। यह हाल राम-लक्ष्मण को मालूम हुआ तो, जनक के धनुष के विषय में अनेक आश्चर्य्य-जनक बातें सुन कर, उनके हृदय में भी वहाँ जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। अतएव जितेन्द्रिय विश्वामित्र ने उन्हें भी अपने साथ लेकर मिथिलापुरी के लिए प्रस्थान कर दिया। चलते चलते, सायङ्काल, वे तीनों एक आश्रम के रमणीय वृक्षों के नीचे वह रात विताई।

यह वही आश्रम था जहाँ तपस्विवर गौतम की पत्नी अहल्या को चण भर इन्द्र से भेंट हुई थी। तवसे वह शिला की शकल में वहीं पड़ी थी। इस तरह पड़े उसे वहुत काल बीत गया था। परन्तु, रामचन्द्र की पाप-प्रणाशिनी चरणरज की कृपा से, सुनते हैं, वह फिर पूर्ववत् स्त्री हो गई और उसे अपना सुन्दर शरीर फिर मिल गया।

राम और लक्ष्मण सहित विश्वामित्र जनकपुर पहुँच गये। अर्थ और काम को साथ लिये हुए मूर्त्तिमान् धर्म्म के समान उनके आने का समाचार सुन कर नरेश्वर जनक ने पूजा की सामग्री साथ ली और आगे वढ़ कर उनसे भेंट की। राम-लक्ष्मण को देख कर पुरवासियों के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने उन दोनों भाइयों को, आकाश से पृथ्वी पर उतर आये हुए पुनर्वसुओं के सदृश, समझा। उनकी सुन्दरता पर वे मोहित हो गये और वड़े चाव से नेत्रों द्वारा उन्हें पीने से लगे। उस समय उन्होंने, अपने इस काम में, पलक मारने को वहुत वड़ा विघ्न समझा। उनके मन में हुआ कि यदि पलकें न गिरतीं तो इन राजकुमारों को निर्निमेष-दृष्टि से लगातार देख कर हम अपनी दर्शनेच्छा को अच्छी तरह पूर्ण कर लेते। पलक मारने से वह पूर्ण नहीं होती; कसर रह जाती है।

यज्ञ का अनुष्ठान—उस यज्ञ का जिसमें यूप नामक खम्भों की आवश्यकता होती है—समाप्त होने पर, कुशिकवंश की कीर्त्ति वढ़ानेवाले विश्वामित्र ने, मौक़ा अच्छा देख, मिथिलेश से कहा:—"रामचन्द्र आपका धनुष देखना चाहते हैं। दिखा दीजिए तो वड़ी कृपा हो।"

विश्वामित्र के मुँह से यह सुन कर जनकजी सोच-विचार में पड़ गये। रामचन्द्र वड़े ही प्रसिद्ध वंश के वालक थे। रूप भी उनका नयनाभिराम था। अतएव जनक प्रसन्न तो हुए, परन्तु जव उन्होंने उस धनुष की कठोरता और अपनी कन्या के विवाह-विषय में अपनी प्रतिज्ञा का विचार किया तव उनको दुःख हुआ। उन्होंने मन में कहा कि धनुष झुका लेना वड़ा कठिन काम है; मुझसे वड़ी भूल हुई जो मैंने कन्यादान का मोल उसे चढ़ा लेना निश्चित किया। वे विश्वामित्र से वोले:—

"भगवन्! जो काम वड़े वड़े मतवाले हाथियों से भी होना कठिन है उसे करने के लिए यदि हाथी का वच्चा उत्साह दिखावेगा तो अवश्य ही

उसका साहस व्यर्थ हुए विना न रहेगा। अतएव, ऐसी चेष्टा करने की सलाह मैं नहीं दे सकता। न मालूम कितने धनुर्धारी राजाओं को इस धनुष से लज्जित होना पड़ा है। वे राजा कोई ऐसे वैसे धनुषधारी न थे। वे बड़े वीर थे। प्रत्यञ्चा की फटकारें लग लग कर उनकी रगड़ से, उनकी भुजाओं का चमड़ा कड़ा हो गया था। पर जब वे इस धनुष को उठा कर उस पर प्रत्यञ्चा न चढ़ा सके तब अपनी भुजाओं को धिक्कारते हुए बेचारे लौट गये। अतएव, तात, आपही सोचिए, रामचन्द्र को अपने उत्साह में सफल होने की कहाँ तक आशा की जा सकती है।"

महर्षि ने प्रत्युत्तर दिया :—"राम को आप निरा बालक ही न समझिए। वह महाबली है। अथवा, इस विषय में, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। पर्वत पर अपनी शक्ति प्रकट करनेवाले वज्र की तरह, आपके धनुष पर ही राम अपने बल का वैभव प्रकट कर दिखावेगा। ज़रा उसे धनुष की परीक्षा तो कर लेने दीजिए। उसी से आपको राम के शरीर-सामर्थ्य का पता लग जायगा।"

सत्यवादी विश्वामित्र से यह बात सुन कर, सिर पर ज़ुल्फ रखाये हुए अल्पवयस्क राम के पौरुष पर जनक को विश्वास आ गया। वे समझ गये कि रामचन्द्र कोई साधारण बालक नहीं; वे महा-पराक्रमी हैं। वीर-बहूटी के बराबर आग के छोटे से कण में भी जैसे ढेरों लकड़ी जला कर ख़ाक कर देने की शक्ति होती है वैसे ही उम्र कम होने पर भी राम में वीरता के बड़े बड़े काम कर दिखाने की शक्ति है। मन में इस तरह का निश्चय करके जनक ने अपने सेवकों के कई एक समूहों को धनुष लाकर रामचन्द्र के सामने उपस्थित करने की आज्ञा—इन्द्र जैसे बादलों को अपना तेजोमय धनुष लाने की आज्ञा देता है—दी। जनक की आज्ञा का तत्काल पालन किया गया। धनुष लाया गया। सोते हुए नागराज के सदृश उस महाभयङ्कर धनुष को देखते ही रामचन्द्र ने उसे उठा लिया। यह वही धनुष था जिससे छूटे हुए वृषध्वज शङ्कर के बाण ने भागते हुए यज्ञरूपी हिरन का पीछा किया था। राम ने इस धन्वा को उठा कर तुरन्त ही उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। यह देख कर सभा में जितने आदमी बैठे थे सबको महा-आश्चर्य हुआ। उन्होंने बिना पलक गिराये रामचन्द्र के इस अद्भुत काम

को देखा। वह धनुष यद्यपि पर्वत के समान कठोर था, तथापि राम को वह इतना कोमल मालूम हुआ जितना कि राम को उसका कुसुमचाप कोमल मालूम होता है। अतएव, उन्हें उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने में ज़रा भी परिश्रम न पड़ा। बात की बात में, बिना विशेष प्रयत्न के ही, उन्होंने यह कठिन काम कर दिया। प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उन्होंने उसे इतने ज़ोर से खींचा कि वह तड़ाका टूट गया और वज्राघात के समान कर्ण-कर्कश शब्द हुआ। घोरनाद करके उस टूटे हुए धनुष ने महाक्रोधी परशुराम को इस बात की सूचना सी की कि क्षत्रियों का बल फिर बढ़ चला है; उनका प्रताप और पौरुष अब फिर उन्नत हो रहा है।

महादेव का धनुष तोड़ कर अपने प्रबल पौरुष का परिचय देने वाले रामचन्द्र के पराक्रम की जनक ने बड़ी बड़ाई की। उन्होंने कहा कि कन्या का मोल मुझे मिल गया। मेरी प्रतिज्ञा को राम ने पूर्ण कर दिया। तद-नन्तर मिथिलेश ने पेट से न पैदा हुई, मूर्त्तिमती लक्ष्मी के समान, अपनी कन्या रघुवंश-शिरोमणि राम को अर्पण करने का वचन दे दिया। राजा जनक सत्यप्रतिज्ञ थे। इस कारण, प्रतिज्ञा की पूर्त्ति होते ही उन्होंने तत्क्षण ही कन्यादान का निश्चय किया। अतएव परमतेजस्वी और तपोनिधि विश्वामित्र के सामने उन्होंने राम को कन्या दे दी। विश्वामित्र ही को अग्नि सा समझ कर उन्हीं को जनक ने कन्यादान का साक्षी बनाया।

महातेजस्वी मिथिलेश ने कहा, अब महाराज दशरथ को बुलाना चाहिए। अतएव उन्होंने अपने पूजनीय पुरोहित के द्वारा कोशलेश के पास यह सन्देश भेजा :—"महाराज, मेरी कन्या का ग्रहण कर के मेरे निमि-कुल को अपना सेवक बनाने की कृपा कीजिए।" इधर जनक ने इस प्रकार का सन्देश भेजा उधर दशरथ के मन में अकस्मात् यह इच्छा उत्पन्न हुई कि जैसा मेरा पुत्र है वैसी ही पुत्रवधू भी यदि मुझे मिल जाती तो बहुत अच्छा होता। दशरथ यह सोचही रहे थे कि जनकजी का पुरोहित जा पहुँचा और उनकी मनचीती बात कह सुनाई। क्यों न हो! पुण्यवानों की मनोकामना, कल्पवृक्ष के फल के सदृश, तुरन्त ही परिपक्व हो जाती है। कल्पवृक्ष से प्राप्त हुए फल कभी कच्चे नहीं होते—वे सदा पके पकाये ही मिलते हैं। इसी तरह पुण्यवान् पुरुषों के मन में आई हुई बात भी,

आने के साथ ही, फलवती हो जाती है। उसकी सफलता के लिए ठहरना नहीं पड़ता।

मिथिला से आये हुए ब्राह्मण का दशरथ ने अच्छा आदर-सत्कार किया। उससे वहाँ का सारा वृत्तान्त सुन कर इन्द्र के साथी दशरथजी बहुत ख़ुश हुए। वे बड़े स्वाधीन स्वभाव के थे। उन्होंने कहा, अब देरी का क्या काम? चलही देना चाहिए। बस, तुरन्तही सेना सजाई गई और प्रस्थान कर दिया गया। सेना-समूह के चलने से इतनी धूल उड़ी कि सूर्य्य की किरणें उसके भीतर गुम सी हो गईं। उनका कहीं पताही न रहा। सारा का सारा सूर्य्य छिप गया।

यथासमय दशरथजी मिथिला पहुँच गये। उनकी सेना ने उसके बाग़ों और उद्यानों के पेड़ों को पीड़ित करके उसे चारों तरफ़ से घेर लिया। परन्तु यह घेरा शत्रुभावसूचक न था, किन्तु प्रीतिसूचक था। अतएव प्रियतम के कठोर प्रेम-व्यवहार को जैसे स्त्री सह लेती है वैसे ही मिथिला ने भी सेना-सहित दशरथ के प्रेम-पूर्ण अवरोध को प्रसन्नतापूर्वक सह लिया।

मिथिला में जिस समय जनक और दशरथजी परस्पर मिले उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे इन्द्र और वरुण मिल रहे हों। आचार-व्यवहार और रीति-रवाज में वे दोनों बड़े दक्ष थे। अतएव उन्होंने अपने पुत्रों और पुत्रियों के विवाह की क्रिया, अपने वैभव के अनुसार, बड़े ठाठ से, विधिपूर्वक, निबटाई। रघुकुलकेतु रामचन्द्र ने तो पृथ्वी की पुत्री सीता से विवाह किया और लक्ष्मण ने सीता की छोटी बहन ऊर्मिला से। रहे उनके छोटे भाई, तेजस्वी भरत और शत्रुघ्न। सो उन्होंने जनक के भाई कुशध्वज की कन्या माण्डवी और श्रुतिकीर्त्ति के साथ विवाह किया। ये दोनों कन्यायें भी परम रूपवती थीं। कटि तो इनकी बहुत ही कमनीय थी।

चौथे के सहित उन तीनों राजकुमारों का विवाह हो चुका। उस समय, राजा दशरथ के सिद्धियों सहित साम, दान, दण्ड और भेद नामक चारों उपायों की तरह, नव-विवाहिता वधुओं सहित वे चारों राजकुमार बहुत ही भले मालूम हुए। सिद्धियों की प्राप्ति से साम आदि उपाय जैसी शोभा पाते हैं वैसी ही शोभा वधुओं की प्राप्ति से राम आदि चारों कुमारों ने भी पाई। अथवा वरों और वधुओं का वह समागम प्रकृति और प्रत्यय

के योग की तरह शोभाशाली हुआ। क्योंकि ऐसी रूपगुणसम्पन्न राज-कुमारियाँ पाकर राजकुमार कृतार्थ हो गये और ऐसे सद्वंशजात तथा अपने अनुरूप राजकुमार पाकर राजकुमारियाँ कृतार्थ हो गईं। इस सम्बन्ध से महाराज दशरथ को भी बड़ी खुशी हुई। प्रेम-पूर्वक उन्होंने अपने चारों कुमारों के विवाह की लौकिक रीतियाँ सम्पादित कीं। सारी विधि समाप्त होने पर वे वहाँ से चल दिये। जनकजी भी तीन पड़ाव तक उनके साथ आये। तदनन्तर वे मिथिला को लौट गये और दशरथजी ने अयोध्या का मार्ग लिया।

राह में, एक दिन, अकस्मात्, बड़े ज़ोर से उलटी हवा चलने और दशरथ के ध्वजारूपी पेड़ों को बेतरह झकझोरने लगी। नदी का बढ़ा हुआ जल-प्रवाह जिस तरह किनारों को तोड़ कर सूखी ज़मीन को नष्ट-भ्रष्ट करने लगता है उसी तरह उस वेगवान् वायु ने दशरथ की सेना को पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। आँधी बन्द होने पर सूर्य्य के चारों तरफ़ एक बड़ाही भयानक परिधि-मण्डल दिखाई दिया। उस घेरे के बीच में सूर्य्य ऐसा मालूम हुआ जैसे गरुड़ के मारे हुए साँप के फ़न से गिर हुई मणि उसके मृत शरीर की कुण्डली के बीच में रक्खी हो। उस समय दिशाओं की बड़ी ही बुरी दशा हुई। भूरे भूरे पंख फैलाये हुए चीलहें चारों तरफ़ उड़ने लगीं। वही मानो दिशाओं की बिखरी हुई धूसर रङ्ग की अलकें हुईं। लाल रङ्ग के सायङ्कालीन मेघ दिगन्त में छा गये। वही मानो दिशाओं के रक्तवर्ण वस्त्र बन गये। सब कहीं रजही रज, अर्थात् धूलही धूल, दिखाई देने लगी। रजोवती हो जाने से दिशायें दर्शन-योग्य न रह गईं। उनकी दशा मलिनवसना अस्पृश्य स्त्री के सदृश हो गई। अतएव उनकी तरफ़ आँख उठा कर देखने को जी न चाहने लगा। जिस दिशा में सूर्य्य था उस दिशा में गीदड़ियाँ इस तरह रोने लगीं कि सुन कर डर मालूम होने लगा। क्षत्रियों के रुधिर से परलोकगत पिता का तर्पण करने की परशुराम को आदत सी पड़ गई थी। रो रो कर गीदड़ियाँ उन्हें, क्षत्रियों का पुनरपि संहार करने के लिए, मानो उभाड़ने सा लगीं।

उलटी हवा चलना और शृगालियों का रोना आदि अनेक अशकुन होते देख दशरथजी घबरा उठे। शकुन-अशकुन पहचानने में वे बहुत निपुण

थे और ऐसे मौक़ों पर क्या करना चाहिए, यह भी वे जानते थे। अतएव उन्होंने अपने गुरु से पूछा कि महाराज! इन अशकुनों की शान्ति के लिए क्या करना चाहिए। गुरु ने उत्तर दिया:—"घबराने की बात नहीं। इनका परिणाम अच्छा ही होगा।" यह सुन कर दशरथ का चित्त कुछ स्थिर हुआ; उनकी मनोव्यथा कुछ कम हो गई।

इतने में ज्योति का एक पुञ्ज अकस्मात् उठा और दशरथ की सेना के सामने तत्कालही प्रकट हो गया। उसका आकार मनुष्य का था। परन्तु सैनिकों की आँखें तिलमिला जाने से पहले वे उसे पहचानही न सके। बड़ी देर तक आँखें मलने के बाद जो उन्होंने देखा तो ज्ञात हुआ कि वह तेजःपुञ्ज पुरुष परशुरामजी हैं। उनके कन्धे पर पड़ा हुआ जनेऊ यह सूचित कर रहा था कि वे ब्राह्मण (जमदग्नि) के बेटे हैं। इसके साथही, उनके हाथ में धारण किया हुआ धनुष, जिसके कारण वे इतने बली और अजेय हो रहे थे, यह बतला रहा था कि उनका जन्म क्षत्रिय-कुलोत्पन्न माता (रेणुका) से है। जनेऊ पिता के अंश का सूचक था और धनुष माता के अंश का। उग्रता और ब्रह्मतेज—कठोरता और कोमलता—का उनमें अद्भुत मेल था। अतएव वे ऐसे मालूम होते थे जैसे चन्द्रमा के साथ सूर्य्य अथवा साँपों के साथ चन्दन का वृक्ष। उनके पिता बड़े क्रोधी, बड़े कठोरवादी और बड़े क्रूर-कर्म्मा थे। यहाँ तक कि क्रोध के वशीभूत होकर उन्होंने शास्त्र और लोक की मर्य्यादा का भी उल्लंघन कर दिया था। ऐसे भी पिता की आज्ञा का पालन करने में प्रवृत्त होकर, इस तेजःपुञ्ज पुरुष ने कँपती हुई अपनी माता का सिर काट कर पहले तो दया को जीता था, फिर पृथ्वी को। पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित कर के उसे जीतने के पहलेही इन्होंने घृणा, करुणा और दया को दूर भगा दिया था। ये बड़ेही निष्करुण और निर्दय थे। इनके दाहने कान से लटकती हुई रुद्राक्ष की माला बहुतही मनोहर मालूम होती थी। वह इनकी शरीर-शोभा को और भी अधिक कर रही थी। वह माला क्या थी, मानो उसके बहाने क्षत्रियों को इक्कीस दफ़े संहार करने की मूर्त्तिमती गणना इन्होंने कान पर रख छोड़ी थी।

निरपराध पिता के मारे जाने से उत्पन्न हुए क्रोध से प्रेरित होकर

परशुराम ने क्षत्रियों का समूल संहार करने की प्रतिज्ञा की थी। इस वात को सोच कर, और अपने छोटे छोटे वच्चों को देख कर, दशरथ को अपनी दशा पर वड़ा दुःख हुआ। उनके पुत्र का भी नाम राम और उनके क्रूर-कर्म्मा शत्रु का भी नाम राम (परशुराम)--इस कारण, हार और सर्प के फन की रत्न की तरह एक तो उन्हें प्यारा और दूसरा भयकारी हुआ।

परशुराम को देखते ही, उनका आदर-सत्कार करने के इरादे से, दशरथ ने 'अर्घ्य अर्घ्य' कह कर अपने सेवकों को आतिथ्य की सामग्री तुरन्तही ले आने की आज्ञा दी। परन्तु उनकी सुनता कौन है? परशुराम ने उनकी तरफ़ देखा तक नहीं। वे सीधे उस जगह गये जहाँ भरत के व(ड़े) भाई रामचन्द्र थे। उनके सामने जाकर उन्होंने महाभयङ्कर पुतली वाली आँखों से उनकी तरफ़ देखा—उन आँखों से जिनसे क्षत्रियों पर उत्पन्न हुए कोप की ज्वाला सी निकल रही थी। रामचन्द्र उनके सामने निडर खड़े रहे। परशुराम युद्ध करने के लिए उतावले से होकर धनुष को मुट्ठी से मज़वूत पकड़े और उँगलियों के वीच में वाण को वार वार आगे पीछे करते हुए रामचन्द्र से वोले :—

"क्षत्रियों ने मेरा वड़ा अपकार किया है। इस कारण वे मेरे वैरी हैं। इसी से, एक नहीं, अनेक वार उनका नाश करके मैं अपने क्रोध को शान्त कर चुका हूँ। परन्तु छड़ी से छेड़े जाने पर सोये हुए साँप के समान तेरे पराक्रम का वृत्तान्त सुन कर मुझे फिर कोप हो आया है। मैंने सुना है कि मिथिलानरेश जनक का जो धनुष और किसी राजा से झुकाया नहीं झुका उसी को तूने तोड़ डाला है। जो वात अव तक और किसी से न हुई थी उसे तूने कर दिखाया है। इस कारण मुझे ऐसा मालूम हो रहा है जैसे तूने मेरे पराक्रम का सींग तोड़ दिया हो। इस वात को मैं अपने अपमान का कारण समझता हूँ। तेरी यह उद्दण्डता मुझे वहुत ही खटकी है। अव तक 'राम' शव्द से एक मात्र मेरा ही वोध होता था। यदि, इस लोक में, कोई 'राम' कहता था तो उसके मुँह से यह शव्द निकलते ही लोग समझ जाते थे कि कहने वाले का मतलव मुझसेही है। परन्तु अव यह वात नहीं रही। अव तो इस शव्द का प्रयोग दो जगह वँट गया। अव तो इससे तेरा भी वोध होने लगा है। तेरी महिमा भी दिन पर दिन

बढ़ रही है। यह मेरे लिए लज्जा की बात है। यह मैं नहीं सहन कर सकता। मेरे अस्त्र का हाल तुझे मालूम है या नहीं ? प्राणियों की तो बातही नहीं, पर्वतों तक को काट गिराने की उसमें शक्ति है। ऐसा अमोघ अस्त्र धारण करनेवाला मैं, इस संसार में, दो को ही अपना शत्रु समझता हूँ; और, उन दोनों के अपराध की मात्रा भी, मेरी दृष्टि में, बराबर है। एक तो पिता की होम-धेनु का बछड़ा हर ले जाने के कारण हैहयवंशी कार्त्तवीर्य्य मेरा शत्रु है; और, दूसरा, मेरी कीर्त्ति का लोप करने की चेष्टा करने के कारण तू है। यद्यपि अपने प्रबल पराक्रम से मैं क्षत्रियों का नाश कर चुका हूँ तथापि जब तक मैं तुझे नहीं जीत लेता तब तक मुझे चैन नहीं—तब तक क्षत्रियवंश का विध्वंसकर्त्ता अपना अद्भुत पराक्रम भी मुझे अच्छा नहीं लगता। आग की तारीफ़ तो तब है जब वह फूस की ढेरी की तरह महासागर में भी दहकने लगे। महादेव का धनुष तोड़ने से यदि तुझ में कुछ घमण्ड आ गया हो तो यह तेरी नादानी है। भगवान् विष्णु की महिमा से वह कमज़ोर हो गया था—उनके तेज ने उसका सार खींच लिया था। यदि ऐसा न होता तो मजाल थी जो तू उसे तोड़ सकता। नदी के वेगगामी जल की टक्करों से जड़ें खुल जाने पर तट के तरुवर को हवा का हलका सा भी झोंका गिरा देता है। यह तू जानता है या नहीं ?

"अच्छा, तो, अब, तू मेरे इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उस पर बाण रख और फिर शर-सन्धान कर। युद्ध रहने दे। यदि तू यह काम कर लेगा तो मैं समझ लूँगा कि तुझमें भी उतनाही बल है जितना कि मुझ में है। यही नहीं, किन्तु मैं यह भी मान लूँगा कि मैं तुझ से हार गया। परन्तु यदि मेरे परशु की चमचमाती हुई धार से घबरा कर तू डर गया हो तो मुझ से अभय-दान माँगने के लिए हाथ जोड़—वे हाथ जिनकी उँगलियों को प्रत्यञ्चा की रगड़ से तूने व्यर्थ ही कठोर कर डाला है। पराक्रम दिखाने का मौक़ा आने पर जो लोग डर जाते हैं वे निशाना मारने का अभ्यास करते समय, धनुष की डोरी से अपनी उँगलियों को व्यर्थ ही कष्ट देते हैं।"

उस समय परशुराम की क्रोधभरी मूर्त्ति यद्यपि बड़ी ही भयानक हो रही थी तथापि रामचन्द्र के हृदय में भय का ज़रा भी सञ्चार न हुआ।

वे कुछ मुसकराये तो ज़रूर, पर परशुराम के प्रश्न का उत्तर देने की उन्होंने ज़रूरत न समझी। उनके हाथ से उनका शर और शरासन ले लेनाही रामचन्द्र ने उनकी वात का सव से अच्छा उत्तर समझा। अतएव उन्होंने परशुराम से उनका धनुर्वाण ले लिया। उससे रामचन्द्र की पूर्व-जन्म की पहचान थी। नारायणावतार में यही उनका धनुष था। रामचन्द्र के हाथ में उसके फिर आ जाने से उनकी शोभा और भी विशेष हो गई। नया वादल यों ही बहुत भला मालूम होता है। यदि कहीं इन्द्रधनुष से उसका संयोग हो जाय तो फिर उसकी सुन्दरता का क्या कहना है! रामचन्द्र वालक होकर भी बड़े वली थे। परशुराम के धनुष की एक नोक ज़मीन पर रख कर, बात कहते, उन्होंने उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। यह देखतेही क्षत्रिय राजाओं के चिरशत्रु परशुराम का चेहरा उतर गया। धुवाँमात्र वची हुई आग की तरह वे तेजोहीन हो गये। उस समय रामचन्द्र और परशुराम, आमने सामने खड़े हुए, परस्पर एक दूसरे को देखने लगे। रामचन्द्र का तो तेज वढ़ रहा था, पर परशुराम का घटता जाता था। अतएव जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्हें, उस समय, पूर्णमासी के सायङ्कालीन चन्द्रमा और सूर्य के समान वे मालूम हुए। स्वामिकार्त्तिक के सदृश पराक्रमी रामचन्द्र ने देखा कि परशुराम की सारी गर्ज्जना तर्ज्जना व्यर्थ गई। उनका कुछ भी ज़ोर उन पर न चल सका। अतएव उनको परशुराम पर दया आई। उन्होंने पहले तो आँख उठा कर परशुराम की तरफ़ देखा, फिर धनुष पर चढ़े हुए और कभी व्यर्थ न जानेवाले अपने वाण की तरफ़। तदनन्तर उन्होंने परशुराम से कहा:—

"यद्यपि आपने मेरा तिरस्कार किया है—यद्यपि आपने मुझे वहुत भला वुरा कहा है—तथापि आप ब्राह्मण हैं। इस कारण मैं आपके साथ निर्दयता का व्यवहार नहीं करना चाहता। मैं नहीं चाहता कि कठोर आघात करके मैं आपको मार गिराऊँ। परन्तु वाण मेरा धनुष पर चढ़ चुका है; वह व्यर्थ नहीं जा सकता। कहिए तो उसे छोड़ कर मैं आपका चलना-फिरना वन्द कर दूँ। अथवा यज्ञ करके जिस स्वर्ग के पाने के आप अधिकारी हुए हैं उसकी राह रोक दूँ। दो वातों में से जो आप कहें कर दूँ।"

परशुराम ने उत्तर दिया:—

"मैं आपके स्वरूप को पहचानता हूँ और अच्छी तरह पहचानता हूँ। मैं जानता हूँ कि आप आदि-पुरुष हैं। तिस पर भी मैंने जो आपको कुपित किया उसका कारण यह था कि मुझे आपका वैष्णव तेज देखना था। मुझे यह जानना था कि आपने सचमुच ही, पृथ्वी पर, राम के रूप में, अवतार लिया है या नहीं। सो, मैं आपकी परीक्षा ले चुका। मुझे अब विश्वास हो गया है कि आप सचमुच ही परमेश्वर के अवतार हैं। मुझे जो कुछ करना था मैं कर चुका। पिता के वैरियों को जला कर मैंने ख़ाक कर दिया और समुद्र-पर्यन्त विस्तृत पृथ्वी सत्पात्रों को दान कर दी। अतएव, अब मुझे कुछ भी करना शेष नहीं। आप हैं भगवान् विष्णु के अवतार। आप से हार जाना भी मेरे लिए प्रशंसा की बात है। वह मेरी अपकीर्ति का कारण नहीं हो सकती। आप तो विचारशीलों और बुद्धिमानों में शिरोमणि हैं। अतएव आप स्वयं ही इन बातों को मुझ से अधिक जान सकते हैं। अब आप एक बात कीजिए। मेरी गति को रहने दीजिए, जिससे मैं तीर्थाटन करने योग्य बना रहूँ। पवित्र तीर्थों के दर्शन और स्नान आदि की मुझे बड़ी इच्छा है। उससे मुझे वञ्चित न कीजिए। रही स्वर्ग-प्राप्ति की बात, सो उसकी मुझे विशेष परवा नहीं। मैं सुखोपभोगों का लोभी नहीं। इससे यदि आप मेरे स्वर्ग-गमन की राह रोक देंगे तो मुझे कुछ भी दुःख न होगा।"

यह सुन कर रघुवंश-विभूषण रामचन्द्र ने कहा:—"बहुत अच्छा। मुझे आपकी आज्ञा मान्य है।" फिर उन्होंने अपना मुँह पूर्व की ओर करके उस चढ़े हुए बाण को छोड़ दिया। वह पुण्यकर्म्मा परशुराम के भी स्वर्ग-मार्ग की अर्गला बन गया—जिस मार्ग से उन्हें स्वर्ग जाना था उसे उसने रोक दिया। तदनन्तर रामचन्द्र ने परम तपस्वी परशुराम से नम्रतापूर्वक क्षमा माँगी और उनके दोनों पैर छुए। बल से जीते गये शत्रु से नम्रता ही का व्यवहार शोभा देता है। ऐसे व्यवहार से तेजस्वियों की कीर्ति और भी बढ़ती है। इसी से रामचन्द्र ने ऐसा किया।

रामचन्द्र की क्षमा-प्रार्थना और नम्रता से प्रसन्न होकर परशुराम ने कहा:-

"क्षत्रियों के कुल में उत्पन्न हुई माता की कोख से जन्म लेने के कारण मुझ में जो रजोगुण आ गया था उसे आपने दूर कर दिया। आपकी बदौ-

लत अब मुझ में अपने पिता के अंश, अर्थात् सत्वगुण, की जागृति हो आई है। इससे अब मुझे बहुत कुछ शान्ति मिली है। अतएव आपने जो पराजयरूपी दण्ड मुझे दिया उसे मैं दण्ड नहीं समझता। उसे तो मैं आपका अनुग्रह ही समझता हूँ। जिस दण्ड का फल ऐसा अच्छा हो—जिस दण्ड की बदौलत मनुष्य को शान्ति मिले उसे दण्ड न कहना चाहिए। अच्छा तो अब मैं बिदा होता हूँ। देवताओं के जिस काम के लिए आपने अवतार लिया है उसे आप निर्विघ्न समाप्त करें!"

राम और लक्ष्मण को ऐसा आशीर्वाद देकर महर्षि परशुराम अन्तर्द्धान हो गये। उनके चले जाने पर दशरथ ने विजय पाये हुए अपने पुत्र रामचन्द्र को छाती से लगा लिया। स्नेहाधिक्य के कारण, उस समय, उन्हें ऐसा मालूम हुआ जैसे रामचन्द्र का नया जन्म हुआ हो। क्षण भर सन्ताप सहने के अनन्तर उन्हें जो सन्तोष हुआ वह, दावानल से झुलसाये गये पेड़ पर जलवृष्टि के समान, आनन्ददायक हुआ।

शङ्कर के सदृश पराक्रमी दशरथजी जिस मार्ग से अयोध्या को लौट रहे थे वह पहले ही से ख़ूब सजाया जा चुका था। आई हुई आपदा के टल जाने पर अयोध्याधिप ने फिर अयोध्या का मार्ग लिया और कई रातें राह में आराम से बिता कर वे अपनी राजधानी को लौट आये। उनके लौटने की ख़बर सुन कर अयोध्या की स्त्रियों के हृदय में जानकीजी के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। इससे, जिस सड़क से सवारी आ रही थी उसके आस पास की नारियाँ दौड़ दौड़ कर अपने अपने घरों की खिड़कियों में आ बैठीं। उस समय उनकी बड़ी बड़ी सुन्दर आँखें देख कर यह मालूम होने लगा कि ये आँखें नहीं, किन्तु खिड़कियों में कमल ही कमल खिल रहे हैं। अयोध्या-नगरी के राजमार्ग की ऐसी मनोहारिणी शोभा देखते हुए दशरथ ने अपने महलों में प्रवेश किया।

बारहवाँ सर्ग।

—:०:—

रावण का वध।

राजा दशरथ की दशा प्रात:कालीन दीपक की ज्योति की समता को पहुँच गई। सारी रात जलने के बाद, प्रात:काल होने पर, दीपक में तेल नहीं रह जाता; वह सारा का सारा जल जाता है। बत्ती भी जल चुकती है; केवल उसका जलता हुआ छोर रह जाता है। उस समय दीपक की ज्योति जाने में ज़रा ही देर रहती है। दोही चार मिनट में वह बुझ जाती है। दशरथ की दशा ऐसी ही दीप-ज्योति के सदृश हो गई। इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयोपभोगरूपी स्नेह भोग चुकने पर, बुढ़ापे के अन्त को प्राप्त होकर, वे निर्वाण के पास पहुँच गये। उनके देह-त्याग का समय समीप आ गया। यह देख कर बुढ़ापे ने दशरथ के कान के पास जाकर, सफ़ेद बालों के बहाने, कहा कि अब तुम्हें राम को राजलक्ष्मी सौंप देनी चाहिए। बुढ़ापे को कैकेयी का डर सा लगा। इसी से यह बात उसे धीरे से दशरथ के कान में कहनी पड़ी।

जितने पुरवासी थे, रामचन्द्र सब के प्यारे थे। अतएव रामचन्द्र के राज्याभिषेक की चर्चा ने उन सारे पुरवासियों को, एक एक करके, इस तरह प्रमुदित कर दिया जिस तरह कि पानी की बहती हुई नाली उद्यान के प्रत्येक पादप को प्रमुदित कर देती है। रामचन्द्र की अभ्युदय-वार्ता सुन कर प्रत्येक पुरवासी परमानन्द में मग्न हो गया।

अभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं। सामग्री सब एकत्र कर ली गई। इतने में एक विघ्न उपस्थित हुआ। क्रूरहृदया कैकेयी ने दशरथ को शोक-सन्तप्त करके उनके गरम गरम आँसुओं से उस सारी सामग्री को दूषित कर दिया। कैकेयी करालकोपा चण्डी का साक्षात् अवतार थी। परन्तु

थी वह राजा की बड़ी लाड़ली । इस कारण राजा ने समझा बुझाकर औ
प्रेमपूर्ण बातें करके उसे शान्त करने की चेष्टा की । पर फल इसका उलट
हुआ । इन्द्र की भिगोई हुई भूमि जिस तरह बिल के भीतर बैठे हुए दो
विषधर साँप बाहर निकाल दे उसी तरह, कैकेयी ने राजा के प्रतिज्ञा किये
हुए दो वरदान मुँह से उगल दिये । एक से तो उसने राम को चौदह वर्ष
के लिए वनवासी बनाया और दूसरे से अपने पुत्र के लिए राजसम्पदा
माँगी । इस पिछले वर का और कुछ फल तो उसके हाथ लगा नहीं; रँड़ापा
अवश्य उसे भोगना पड़ा । इस वर का एक मात्र यही फल उसे मिला ।

इस घटना के पहले, जिस समय पिता ने रामचन्द्र को आज्ञा दी थी
कि वत्स ! अब तुम इस पृथ्वी का उपभोग करो—उस समय राम ने रोकर
पिता की आज्ञा से पृथ्वी का स्वीकार किया था । परन्तु पीछे से जब पित
ने आज्ञा दी कि—बेटा ! तुम चौदह वर्ष वन में जाकर वास करो—तब
रामचन्द्र ने उस आज्ञा को रोकर नहीं, किन्तु बहुत प्रसन्न होकर माना ।
पिता के रहते राजा होना रामचन्द्र को अच्छा नहीं लगा । इसीसे पहले उन्हें
रोना आया । परन्तु वन जाने की आज्ञा सुन कर उन्हें इस लिए आनन्द
हुआ कि मेरे पिता बड़े ही सत्यप्रतिज्ञ हैं और मैं उनकी आज्ञा का पालन
करके उनकी सत्यवादिता निश्चल रखने में उनका सहायक हो रहा हूँ ।

मङ्गलसूचक और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र धारण करते समय, अयोध्या-
वासियों ने रामचन्द्र के मुखमण्डल पर जो भाव देखा था वही भाव, वृत्त
की छाल का एक वस्त्र पहनने और एक ओढ़ने पर भी, देख कर उनके
आश्चर्य की सीमा न रही । विपदा में भी रामचन्द्र की मुखचर्या वैसीही बनी
रही जैसी कि सम्पदा में थी । उनकी मुख-कान्ति में ज़रा भी अन्तर न
पड़ा । सुख और दुःख दोनों को उन्होंने तुल्य समझा । न उन्होंने सुख में
हर्ष प्रकट किया, न दुःख में शोक । पिता को सत्य की संरक्षा से डिगाने
का ज़रा भी यत्न न करके, सीता और लक्ष्मण को साथ लिये हुए, रामच
ने दण्डकारण्यही में नहीं, किन्तु प्रत्येक सत्पुरुष के मन में भी एकही सा
प्रवेश किया । रामचन्द्र की पितृभक्ति देख कर सभी प्रसन्न हो गये । सभी
के मन को रामचन्द्र ने मोह लिया ।

रामचन्द्र के चले जाने पर दशरथ को उनका वियोग दुःसह हो गया ।

वे बेतरह विकल हो उठे। उन्हें अपने अनुचित कर्म्म के कारण मिले हुए शाप का स्मरण हो आया। अतएव उन्होंने शरीर न रखने ही में अपना भला समझा। उन्होंने कहा, बिना मेरी मृत्यु हुए मुनि के शाप का प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। यह सोच कर उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

वैरी सदाही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं। अतएव जब अयोध्या-राज्य के वैरियों ने देखा कि राजकुमार तो वन को चले गये और राजा परलोक को, तब उनकी बन आई। मौक़ा अच्छा हाथ आया देख वे उस राज्य का एक एक अंश, धीरे धीरे, हड़प करने लगे। भरत और शत्रुघ्न भी उस समय अयोध्या में न थे। वे अपने मामा के यहाँ गये थे। फिर भला शत्रु क्यों न उत्पात मचाते? अराजकता फैलती देख कर अनाथ मन्त्रियों ने भरत को बुलाने के लिए दूत भेजे। वे भरत के ननिहाल गये। परन्तु, पिता की मृत्यु की बात वहाँ भरत से कहना उन्होंने उचित न समझा। अतएव, किसी तरह, आँसू रोके हुए, वे वहाँ गये और भरत को लिवा लाये।

अयोध्या को लौट आने पर भरत को पिता की मृत्यु का हाल और उसका कारण मालूम हुआ। इस पर वे दुःख और शोक से व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपनी माता कैकेयी ही से नहीं, किन्तु राज्य-लक्ष्मी से भी मुँह मोड़ लिया। सेना-समेत उन्होंने अपने भाई का अनुगमन किया। रामचन्द्र को लौटा लाने के इरादे से वे अयोध्या से चल दिये। राह में जिन पेड़ों के नीचे राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था उन्हें जब आश्रमवासी मुनियों ने भरत को दिखाया तब भरत की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। चित्रकूट पहुँचने पर राम-लक्ष्मण से भरत की भेंट हुई। भरत ने पहले तो पिता के मरने का वृत्तान्त रामचन्द्र से कह सुनाया। फिर उन्होंने रामचन्द्र से अयोध्या लौट चलने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने कहा:—"मैं ने अभी तक आपकी राज्य लक्ष्मी को हाथ तक नहीं लगाया। वह वैसी ही अछूती बनी हुई है। चलिए और कृपापूर्वक उसका उपभोग कीजिए।" बड़े भाई का विवाह होने के पहले यदि छोटा भाई विवाह करले तो वह परिवेत्ता कहलाता है और धर्म्मशास्त्र के अनुसार उसे दोष लगता है। इसी से भरत ने सोचा कि बड़े भाई रामचन्द्र के राज्य-लक्ष्मी का स्वीकार न करने पर यदि मैं उसका स्वीकार कर लूँगा तो परिवेत्ता होने के दोष से

थी वह राजा की बड़ी लाड़ली। इस कारण राजा ने समझा बुझाकर और प्रेमपूर्ण बातें करके उसे शान्त करने की चेष्टा की। पर फल इसका उलटा हुआ। इन्द्र की भिगोई हुई भूमि जिस तरह बिल के भीतर बैठे हुए दो विषधर साँप बाहर निकाल दे उसी तरह, कैकेयी ने राजा के प्रतिज्ञा किये हुए दो वरदान मुँह से उगल दिये। एक से तो उसने राम को चौदह वर्ष के लिए वनवासी बनाया और दूसरे से अपने पुत्र के लिए राजसम्पद माँगी। इस पिछले वर का और कुछ फल तो उसके हाथ लगा नहीं; रँड़ापा अवश्य उसे भोगना पड़ा। इस वर का एक मात्र यही फल उसे मिला।

इस घटना के पहले, जिस समय पिता ने रामचन्द्र को आज्ञा दी थी कि वत्स! अब तुम इस पृथ्वी का उपभोग करो—उस समय राम ने रोकर पिता की आज्ञा से पृथ्वी का स्वीकार किया था। परन्तु पीछे से जब पिता ने आज्ञा दी कि—बेटा! तुम चौदह वर्ष वन में जाकर वास करो—तब रामचन्द्र ने उस आज्ञा को रोकर नहीं, किन्तु बहुत प्रसन्न होकर माना। पिता के रहते राजा होना रामचन्द्र को अच्छा नहीं लगा। इसीसे पहले उन्हें रोना आया। परन्तु वन जाने की आज्ञा सुन कर उन्हें इस लिए आनन्द हुआ कि मेरे पिता बड़े ही सत्यप्रतिज्ञ हैं और मैं उनकी आज्ञा का पालन करके उनकी सत्यवादिता निश्चल रखने में उनका सहायक हो रहा हूँ।

मङ्गलसूचक और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र धारण करते समय, अयोध्या-वासियों ने रामचन्द्र के मुखमण्डल पर जो भाव देखा था वही भाव, वृक्ष की छाल का एक वस्त्र पहनने और एक ओढ़ने पर भी, देख कर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। विपदा में भी रामचन्द्र की मुखचर्या वैसी ही बनी रही जैसी कि सम्पदा में थी। उनकी मुख-कान्ति में ज़रा भी अन्तर न पड़ा। सुख और दुःख दोनों को उन्होंने तुल्य समझा। न उन्होंने सुख में हर्ष प्रकट किया, न दुःख में शोक। पिता को सत्य की संरक्षा से डिगाने का ज़रा भी यत्न न करके, सीता और लक्ष्मण को साथ लिये हुए, रामचन्द्र ने दण्डकारण्य ही में नहीं, किन्तु प्रत्येक सत्पुरुष के मन में भी एक ही साथ प्रवेश किया। रामचन्द्र की पितृभक्ति देख कर सभी प्रसन्न हो गये। सभी के मन को रामचन्द्र ने मोह लिया।

रामचन्द्र के चले जाने पर दशरथ को उनका वियोग दुःसह हो गया।

वे बेतरह विकल हो उठे। उन्हें अपने अनुचित कर्म्म के कारण मिले हुए शाप का स्मरण हो आया। अतएव उन्होंने शरीर न रखने ही में अपना भला समझा। उन्होंने कहा, बिना मेरी मृत्यु हुए मुनि के शाप का प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। यह सोच कर उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

वैरी सदाही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं। अतएव जब अयोध्या-राज्य के वैरियों ने देखा कि राजकुमार तो वन को चले गये और राजा परलोक को, तब उनकी बन आई। मौक़ा अच्छा हाथ आया देख वे उस राज्य का एक एक अंश, धीरे धीरे, हड़प करने लगे। भरत और शत्रुघ्न भी उस समय अयोध्या में न थे। वे अपने मामा के यहाँ गये थे। फिर भला शत्रु क्यों न उत्पात मचाते? अराजकता फैलती देख कर अनाथ मन्त्रियों ने भरत को बुलाने के लिए दूत भेजे। वे भरत के ननिहाल गये। परन्तु, पिता की मृत्यु की बात वहाँ भरत से कहना उन्होंने उचित न समझा। अतएव, किसी तरह, आँसू रोके हुए, वे वहाँ गये और भरत को लिवा लाये।

अयोध्या को लौट आने पर भरत को पिता की मृत्यु का हाल और उसका कारण मालूम हुआ। इस पर वे दुःख और शोक से व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपनी माता कैकेयी ही से नहीं, किन्तु राज्य-लक्ष्मी से भी मुँह मोड़ लिया। सेना-समेत उन्होंने अपने भाई का अनुगमन किया। रामचन्द्र को लौटा लाने के इरादे से वे अयोध्या से चल दिये। राह में जिन पेड़ों के नीचे राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था उन्हें जब आश्रमवासी मुनियों ने भरत को दिखाया तब भरत की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। चित्रकूट पहुँचने पर राम-लक्ष्मण से भरत की भेंट हुई। भरत ने पहले तो पिता के मरने का वृत्तान्त रामचन्द्र से कह सुनाया। फिर उन्होंने रामचन्द्र से अयोध्या लौट चलने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने कहा:—"मैं ने अभी तक आपकी राज्य लक्ष्मी को हाथ तक नहीं लगाया। वह वैसी ही अछूती बनी हुई है। चलिए और कृपापूर्वक उसका उपभोग कीजिए।" बड़े भाई का विवाह होने के पहले यदि छोटा भाई विवाह करले तो वह परिवेत्ता कहलाता है और धर्म्मशास्त्र के अनुसार उसे दोष लगता है। इसी से भरत ने सोचा कि बड़े भाई रामचन्द्र के राज्य-लक्ष्मी का स्वीकार न करने पर यदि मैं उसका स्वीकार कर लूँगा तो परिवेत्ता होने के दोष से

न बच सकूँगा । अतएव, उन्होंने रामचन्द्र से बार बार आग्रह किया कि आप अयोध्या को लौट चलिए और राज्य कीजिए । परन्तु रामचन्द्र ने स्वर्गवासी पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना स्वीकार न किया । उन्होंने घर लौट जाने और राज्य करने से साफ़ इनकार कर दिया ।

जब भरत ने देखा कि रामचन्द्र को लौटा ले जाना किसी तरह सम्भव नहीं तब उन्होंने उनसे उनकी खड़ाऊँ माँगी । उन्होंने कहा—यदि आप मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार करते तो अपनी खड़ाऊँ ही दे दीजिए । आपकी अनुपस्थिति में मैं उन्हीं को आपके राज्य का देवता बनाऊँगा; आपके सिंहासन पर उन्हीं को स्थापित करके मैं आपके सेवक की तरह आपका राज्यकार्य्य करता रहूँगा । रामचन्द्र ने भरत की यह बात मानली और खड़ाऊँ दे दीं । उन्हें लेकर भरतजी अयोध्या को लौट आये; परन्तु नगर के भीतर न गये । नन्दिग्राम नामक स्थान में, नगर के बाहर ही, वे रहने और अयोध्या के राज्य को बड़े भाई रामचन्द्र की धरोहर समझ कर उसकी रक्षा करने लगे । बड़े भाई के बड़े ही दृढ़ भक्त बने रहना और राज्य के लोभ में न पड़ना भरत के आत्मत्याग का उत्कृष्ट उदाहरण है । ऐसे अद्भुत आत्मत्याग के रूप में उन्होंने मानों अपनी माता कैकेयी के पापक्षालन का प्रायश्चित्त सा कर दिखाया ।

उधर रामचन्द्रजी मिथिलेशनन्दिनी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ कन्द, मूल और फल आदि के आहार से जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हुए, बड़े ही शान्त भाव से, वन वन घूमने लगे । इक्ष्वाकु-कुल के राजा, बूढ़े होने पर, जिस वनवास-व्रत को धारण करते थे उसे रामचन्द्र ने युवावस्था ही में धारण कर लिया ।

एक दिन की बात है कि रामचन्द्र घूमते फिरते एक पेड़ के नीचे बैठ गये । उन्हें बैठा देख, उनके प्रभाव से उस पेड़ की छाया थम सी गई । जहाँ पर वे बैठे थे वहाँ से उसके हट जाने का समय आने पर भी वह वहीं बनी रही, हटी नहीं । रामचन्द्र, उस समय, कुछ थके से थे । अतएव सीता की गोद में सिर रख कर वे सो गये । उसी समय इन्द्र का पुत्र जयन्त, कौवे का रूप धर कर, वहाँ आया । उसने अपने नखों से सीताजी के वक्षःस्थल पर इतनी निर्दयता से प्रहार किया कि खून निकल आया ।

इस पर सीताजी ने रामचन्द्र को जगाया। तब उन्होंने सींक का एक ऐसा बाण मारा कि उस कौवे को उससे पीछा छुड़ाना कठिन हो गया। अन्त को अपनी एक आँख देकर किसी तरह उसने उस बाण से अपनी जान बचाई। बाण ने उसकी एक आँख फोड़ कर उसे छोड़ दिया।

इस घटना के उपरान्त रामचन्द्र ने सोचा कि चित्रकूट अयोध्या से बहुत दूर नहीं। यहाँ रहने से भरत का फिर चित्रकूट आना बहुत सम्भव है। इससे कहीं दूर जाकर रहना चाहिए। रामचन्द्र को चित्रकूट में रहते यद्यपि बहुत दिन न हुए थे तथापि पशु-पक्षी तक उनसे प्रीति करने लगे थे। हिरन तो उनसे बहुत ही हिल गये थे। तथापि, पूर्वोक्त कारण से, उन्हें यह प्रीति-बन्धन तोड़ना पड़ा। चित्रकूट-पर्व्वत की भूमि उन्होंने छोड़ दी। अतिथियों का आदर-सत्कार करनेवाले ऋषियों के आश्रमों में—वर्षा-ऋतु से सम्बन्ध रखनेवाले आर्द्रा, पुनर्वसु आदि नक्षत्रों में सूर्य्य के समान—कुछ कुछ दिन तक वास करते हुए वे दक्षिण दिशा को गये। उनके पीछे पीछे जाने वाली विदेहतनया सीता उस समय लक्ष्मी के समान शोभायमान हुई। कैकेयी ने यद्यपि राज्यलक्ष्मी को रामचन्द्र के पास नहीं आने दिया—यद्यपि उसने उसे रामचन्द्र के पास जाने से रोक दिया—तथापि लक्ष्मी ठहरी गुणग्राहिणी। वह किसी की रोक-टोक की परवा करनेवाली नहीं। परवा वह सिर्फ़ गुण की करती है। जहाँ वह गुण देखती है वहीं पहुँच जाती है। अतएव, रामचन्द्र में अनेक गुणों का वास देख कर वह सीताजी के बहाने रामचन्द्र के साथ चली आई और साथ ही साथ रही।

महर्षि अत्रि के आश्रम में उनकी पत्नी अनसूया ने सीताजी को एक ऐसा उबटन दिया जिसकी परम पवित्र सुगन्धि से सारा वन महक उठा। यहाँ तक कि भौंरों ने फूलों का सुवास लेना छोड़ दिया। वे सीताजी के शरीर पर लगे हुए उबटन की अलौकिक सुगन्धि से खिंच कर उन्हीं की तरफ़ दौड़ दौड़ आने लगे।

राह में रामचन्द्र को विराध नामक राक्षस मिला। वह सायङ्कालीन मेघों की तरह लालिमा लिये हुए भूरे रङ्ग का था। चन्द्रमा के मार्ग को राहु की तरह, वह रामचन्द्र के मार्ग को रोक कर खड़ा हो गया। इतना ही नहीं, किन्तु उस लोकसन्तापकारी राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच

से सीता को इस तरह हर लिया जिस तरह कि पर्जन्य का प्रतिबन्धक कारण सावन और भादों के बीच से वर्षा को हर लेता है। राम-लक्ष्मण ने उसे अपने भुज-बल से बेतरह पीस कर मार डाला। परन्तु उसकी लाश को उन्होंने वहीं पड़ी रहने देना मुनासिब न समझा। उन्होंने कहा कि यदि यह इस तरह पड़ी रहेगी तो इसकी अपवित्र दुर्गन्धि से आश्रम की भूमि दूषित हो जायगी। अतएव उन्होंने उसे ज़मीन में गाड़ दिया।

महर्षि अगस्त्य ने रामचन्द्र को सलाह दी कि अब आप पञ्चवटी में जाकर कुछ दिन रहें। रामचन्द्र ने उनकी आज्ञा को सिर पर धारण करके पञ्चवटी के लिए प्रस्थान किया। ऊपर, आकाश की ओर, बढ़ना बन्द करके विन्ध्याचल जिस तरह अगस्त्य की आज्ञा से अपनी मामूली उँचाई से आगे न बढ़ा था—अपनी मर्य्यादा के भीतर ही रह गया था—उसी तरह मुनि की आज्ञा से रामचन्द्रजी भी लोक और वेद की मर्य्यादा का उल्लंघन न करके पञ्चवटी में वास करने लगे।

वहाँ एक विलक्षण घटना हुई। रावण की छोटी बहन, जिसका नाम शूर्पणखा था, रामचन्द्र की मोहिनी मूर्त्ति देख कर उन पर आसक्त हो गई। अतएव, ग्रीष्म की गरमी की सताई नागिन जैसे चन्दन के वृक्ष के पास दौड़ जाती है वैसे ही वह भी अपना शरीरज सन्ताप शमन करने के लिए रामचन्द्र के पास दौड़ गई। जिस समय वह गई सीताजी भी रामचन्द्र के पास मौजूद थीं। परन्तु शूर्पणखा ने उनके सामने ही रामचन्द्र से कहा कि कृपा करके आप मुझसे शादी कर लीजिए। बात यह है कि मानसिक उत्कण्ठा की मात्रा विशेष बढ़ जाने से स्त्रियों को समय असमय का ज्ञान नहीं रहता। उनकी विवेक-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

विवाह करके पति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाली उस निशाचरी से, बलीवर्द के समान मांसल कन्धोंवाले रामचन्द्र ने कहा:—"बाले! मेरा तो विवाह हो चुका है; मैं तो पहले ही से कलत्रवान् हूँ। अब मैं दूसरी स्त्री के साथ कैसे विवाह करूँ? तू मेरे छोटे भाई लक्ष्मण के पास जा और उन पर अपनी इच्छा प्रकट कर।" इस पर वह लक्ष्मण के पास गई, तो उन्होंने भी उसका मनोरथ सफल न किया। वे बोले:—"मैं छोटा हूँ; रामचन्द्रजी बड़े हैं। और, तू पहले मेरे बड़े भाई के पास गई। इस कारण

अब तू मेरे काम की नहीं । मैं अब तुझे अपनी स्त्री नहीं बना सकता ।" यह सुनने और लक्ष्मण के द्वारा तिरस्कृत होने पर वह फिर रामचन्द्र के पास आई । उस समय कभी राम और कभी लक्ष्मण के पास जानेवाली उस निशाचरी की दशा, दोनों तटों के आश्रय से बहनेवाली नदी के सदृश, हुई । स्वभाव से तो शूर्पणखा महा कुरूपा थी; पर रामचन्द्र को अपने ऊपर अनुरक्त करने के लिए, माया के प्रभाव से, वह सुन्दरी बनी थी । यह बात सीताजी को मालूम न थी । इस कारण, उसे कभी रामचन्द्र और कभी लक्ष्मण के पास जाते देख, उन्हें हँसी आ गई । उन्हें हँसते देख कर शूर्पणखा आपे से बाहर हो गई । वायु न चलने के कारण निश्चल हुई समुद्र-मर्य्यादा को चन्द्रोदय जैसे क्षुब्ध कर देता है वैसे ही सीताजी के हँसने ने शूर्पणखा को क्षुब्ध कर दिया । वह क्रोध से जल उठी; उसका शान्तभाव जाता रहा । वह बोली :—हाँ, तू मुझ पर हँसती है ! इस हँसने का फल तुझे बहुत जल्द मिलेगा । बाघिन का तिरस्कार करनेवाली मृगी की जो दशा होती है वही दशा तेरी भी होगी । तेरा यह हँसना मृगी के द्वारा किये गये बाघिन के अपमान के सदृश है । अच्छा, ठहर ।"

ऐसी धमकी सुन कर सीताजी डर गईं । उन्होंने अपना मुँह पति की गोद में छिपा लिया—भयभीत होकर वे रामचन्द्र की गोद में चली गईं । उधर शूर्पणखा ने अपना बनावटी रूप बदल कर, अपने नाम के अनुसार, अर्थात् सूप के समान नखोंवाला, अपना स्वाभाविक भयङ्कर रूप दिखाया। लक्ष्मणजी समझ गये कि यह मायाविनी है । उन्होंने सोचा कि पहले तो इसने कोकिला की तरह कर्ण-मधुर भाषण किया और अब यह शृगाली की तरह घोर नाद कर रही है। अतएव इसकी बोली ही इस बात का प्रमाण है कि यह कपट करने वाली कोई निशाचरी है । फिर क्या था । तुरन्त ही नङ्गी तलवार हाथ में लेकर वे पर्णशाला के भीतर घुस गये और कुरूपता की पुनरुक्ति से उन्होंने उस भयावनी राक्षसी की कुरूपता और भी बढ़ा दी। उसकी नाक और कान काट कर उन्होंने उसकी कुरूपता दूनी कर दी । तब वह आकाश को उड़ गई और वहाँ टेढ़े नखों और बाँस के समान कठोर पोरोंवाली अपनी अंकुश के आकारवाली तर्जनी उँगली नचा नचाकर रामचन्द्र और लक्ष्मण को धमकाने लगी ।

जनस्थान नामक राक्षसों की निवासभूमि में जाकर उसने खर और दूषण आदि राक्षसों को अपनी कटी हुई नाक और कटे हुए कान दिखा कर कहा:—"रामचन्द्र की इस करतूत को देखो! आज उसने राक्षसों का यह नया तिरस्कार किया है।" राक्षसों ने नाक-कान कटी हुई उसी राक्षसी को आगे करके तुरन्त ही रामचन्द्र पर चढ़ाई कर दी। उन्होंने यह न सोचा कि इस नकटी को सेना के आगे ले चलना अच्छा नहीं। यद्यपि उन्होंने शकुन-अशकुन की कुछ भी परवा न की, तथापि शूर्पणखा का अशुभ वेश उनके लिए अमङ्गल-जनक ज़रूर हुआ। हाथों में हथियार उठाये हुए उन अभिमानी राक्षसों को, अपने ऊपर आक्रमण करने के लिए, सामने आता देख रामचन्द्र ने जीत की आशा तो धनुष को सौंपी और सीता लक्ष्मण को। सीता को लक्ष्मण के सिपुर्द करके उन्होंने अपना धनुष उठा लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामचन्द्र अकेले थे और राक्षस हज़ारों परन्तु अचम्भे की वात यह हुई कि युद्ध आरम्भ होने पर जितने राक्षस थे उतने ही रामचन्द्र भी उन्हें दिखाई दिये।

रामचन्द्र ने कहा:—"इस दूषण नाम के राक्षस को अवश्य दण्ड देना चाहिए। क्योंकि यह दुष्टों का भेजा हुआ है। इसे मैं उसी तरह नहीं सह सकता जिस तरह कि यदि कोई दुर्जन मुझ पर कोई दूषण लगाता तो मैं उसे न सह सकता। क्योंकि, मैं सदाचार के प्रतिकूल कोई काम नहीं करता। जो आचारवान् हैं—जो फूँक फूँक कर पैर रखते हैं—वे दुराचारियों के लगाये हुए दूषण को कभी नहीं सह सकते।" यही सोच कर रामचन्द्र ने खर, दूषण और त्रिशिरा पर, क्रम क्रम से, इतनी फुर्ती से वाण छोड़े कि उनके धनुष से आगे पीछे छूटने पर भी वे एक ही साथ छूटे हुए से मालूम हुए। रामचन्द्र के पैने वाण इन तीनों राक्षसों के शरीर छेद कर वाहर निकल गये। पर उनकी शुद्धता में फ़रक़ न पड़ा। वे पूर्ववत् साफ़ वने रहे। रुधिर या शरीरान्तर्वर्ती और कोई वस्तु उनमें न लगी। रुधिर निकलने न पाया, और वे शरीर के पार हो गये। उन राक्षसों के प्राण तो रामचन्द्र के इन वाणों ने पी लिये। रहा रुधिर, जो वाणों के गिरने के वाद घावों से गिरा था, उसे मांसभोजी पक्षियों ने पी लिया। रामचन्द्र के वाणों ने राक्षसों की उस उतनी वड़ी सेना के सिर एकदम से उड़ा दिये। उन्होंने उसकी ऐसी

दुर्गति कर डाली कि बेसिर के सैनिकों, अर्थात् कबन्धों, के सिवा एक भी योद्धा युद्ध के मैदान में समूचा खड़ा न रह गया। सर्वत्र रुण्ड ही रुण्ड दिखाई देने लगे। बाणों की विषम वर्षा करनेवाले रामचन्द्र से लड़ कर राक्षसों की वह सेना, आकाश में उड़ते हुए गीधों के पंखों की छाया में, सदा के लिए सो गई। फिर वह नहीं जागी; सारी की सारी मारी गई। जीती सिर्फ़ शूर्पणखा बची। रामचन्द्र के शराघात से प्राण छोड़े हुए राक्षसों के मरने की बुरी वार्त्ता उसी ने जाकर रावण को सुनाई। मानों वह इसीलिए बच रही थी। वह भी यदि न बचती तो रावण को शायद इस युद्ध के फला-फल का हाल ही न मालूम होता।

बहन के नाक-कान काटे और बन्धु-बान्धवों के मारे जाने की ख़बर पाकर कुवेर के भाई रावण को ऐसा मालूम हुआ जैसे रामचन्द्र ने उसके दसों शीशों पर लात मार दी हो। वह बेहद कुपित हो उठा। हरिणरूपधारी मारीच नामक राक्षस की मदद से, रामचन्द्र को धोखा देकर, वह सीता को हर ले गया। पक्षिराज जटायु ने उसके इस काम में कुछ देर तक विघ्न अवश्य डाला; परन्तु वह रावण के पञ्जे से सीता को न छुड़ा सका।

आश्रम में सीता को न पाकर रामचन्द्र और लक्ष्मण उन्हें ढूँढ़ते हुए वन वन घूमने लगे। मार्ग में जटायु से उनकी भेंट हुई। उन्होंने देखा कि जटायु के पंख कटे हुए हैं और उनके प्राण कण्ठ तक आ पहुँचे हैं—उनके निकलने में कुछ ही देरी है। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि सीता को छुड़ाने के प्रयत्न में, इस गीध ने, अपने मित्र दशरथ की मित्रता का ऋण, कण्ठगत प्राणों से, चुकाया है तब राम-लक्ष्मण उसके बहुत ही कृतज्ञ हुए। जटायु ने रावणद्वारा सीता के हरे जाने का वृत्तान्त उनसे कह सुनाया। परन्तु रावण के साथ लड़ने में उसने जो प्रबल पराक्रम दिखाया था उसका उल्लेख करने की उसने कोई आवश्यकता न समझी। क्योंकि, उसका उल्लेख तो उसके शरीर पर लगे हुए घाव और कटे हुए पंख ही कर रहे थे। सीता का हाल कह कर जटायु ने प्राण छोड़ दिये। उसकी मृत्यु से राम-लक्ष्मण को अपने पिता की मृत्यु का शोक नया हो गया। क्योंकि उन्होंने उसे पिता ही के समान समझा था। अतएव, उन्होंने अग्नि-संस्कार से आरम्भ करके उसके सारे और्ध्वदैहिक कृत्य पिता के सदृश ही किये।

मार्ग में रामचन्द्र को कबन्ध नामक राक्षस मिला। उनके हाथ से मरने पर उसका शाप छूट गया। उसकी सलाह से रामचन्द्र ने सुग्रीव नामक कपीश्वर से मित्रता की। सुग्रीव भी उसी व्यथा में लिप्त था जिसमें रामचन्द्र थे। उसके भाई वालि ने उसकी स्त्री भी हर ली थी और उसका राज भी। वीरवर रामचन्द्र ने वालि को मार कर सुग्रीव को उसकी जगह पर—धातु के स्थान पर आदेश की तरह—बिठा दिया। सुग्रीव को अपने भाई का पद पाने की आकांक्षा बहुत दिनों से थी। वह रामचन्द्र की बदौलत पूरी हो गई।

पत्नी के वियोग से रामचन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। अतएव सुग्रीव ने अपने सेवक सहस्रशः कपियों को सीता की खोज में भेजा। वे लोग, रामचन्द्र के मनोरथों की तरह, इधर उधर घूमने और सीता का पता लगाने लगे। भाग्यवश जटायु के बड़े भाई सम्पाति से उनकी भेंट हो गई। उससे उन्हें सीता का पता मिल गया। उन्होंने सुना कि सीता को रावण अपनी राजधानी लङ्का को ले गया है और वहाँ उसने अशोक-वाटिका में उन्हें रक्खा है। यह सुन कर पवनपुत्र हनूमान् समुद्र को इस तरह पार कर गये जिस तरह कि ममता छोड़ा हुआ मनुष्य संसार-सागर को पार कर जाता है। लङ्का में ढूँढ़ते ढूँढ़ते उन्हें सीताजी मिल गईं। उन्होंने देखा कि विष की वेलों से घिरी हुई सञ्जीवनी बूटी की तरह सीताजी राक्षसियों से घिरी हुई बैठी हैं। तब उन्होंने पहचान के लिए रामचन्द्रजी की अँगूठी सीताजी को दी। अँगूठी के रूप में पति का भेजा हुआ चिह्न पाकर जानकी के आनन्द की सीमा न रही। उनकी आँखों से आनन्द के शीतल आँसुओं की झड़ी लग गई। आँसुओं ने निकल कर उस अँगूठी का आदर सा किया—उसे अर्घ्य सा देकर उसकी सेवा की। हनूमान् के मुख से रामचन्द्रजी का सन्देश सुन कर सीताजी को बहुत कुछ धीरज हुआ।

लङ्का में हनूमान् ने रावण के बेटे अक्षकुमार को मार डाला। इस विजय से हनूमान् का साहस और भी बढ़ गया। अतएव उन्होंने और भी अधिक उद्दण्डता दिखाई। यहाँ तक कि उन्होंने लङ्का-पुरी को जला कर ख़ाक कर दिया। मेघनाद ने उन्हें कुछ देर तक ब्रह्मास्त्र से बाँध कर अवश्य रक्खा; पर जीत उन्हीं की रही। उन्हें अधिक तङ्ग नहीं होना पड़ा।

अशोकवाटिका में पति-विरहिणी सीता ।

लङ्का से लौट कर सौभाग्यशाली हनूमान् ने जानकीजी का चिह्न रामचन्द्रजी को दिया। यह चिह्न जानकीजी की चूड़ामणि के रूप में था। उसे पाकर रामचन्द्रजी को परमानन्द हुआ। उन्होंने उस मणि को अपने ही मन से आये हुए, जानकीजी के मूर्त्तिमान् हृदय के समान, समझा। उन्होंने कहा, यह जानकी की चूड़ामणि नहीं है; यह तो उनका साक्षात् हृदय है, जो चूड़ामणि के रूप में मेरे पास आकर उपस्थित हुआ है। उसे उन्होंने अपनी छाती से लगा लिया। उसके स्पर्श से वे क्षणमात्र अचेत से हो गये। उन्हें ऐसा आनन्द हुआ जैसे वे जानकीजी का आलिङ्गन ही कर रहे हों। प्रियतमा जानकी के समाचार सुन कर रामचन्द्रजी बेहद उत्कण्ठित हो उठे। उनसे मिलने की कामना उनके हृदय में इतनी बलवती हो गई कि लङ्का के चारों तरफ़ भरे हुए महासागररूपी परकोटे को उन्होंने साधारण खाई से भी छोटा समझा।

बन्दरों की असंख्य सेना लेकर रामचन्द्रजी ने तत्काल ही लङ्का पर चढ़ाई कर दी। उन्होंने प्रण किया कि शत्रुओं का नाश किये बिना अब मैं न रहूँगा। वे आगे आगे चले, बन्दरों की सेना उनके पीछे पीछे। सेना इतनी अधिक थी कि उसके चलने से पृथ्वी के नहीं, आकाश के भी रास्ते रुक गये। बड़ी कठिनता से उसे चलने की राह मिली। समुद्र के तट पर रामचन्द्र ने अपने और अपनी सेना के डेरे डाल दिये। वहाँ पर रावण का भाई विभीषण आकर उनसे मिला। वह क्या आया, मानों राक्षसों की लक्ष्मी, उसके हृदय में बैठ कर, मारे स्नेह के उसे रामचन्द्र के पास ले आई। वह डरी कि ऐसा न हो जो राक्षसों का समूह ही उन्मूलन हो जाय। इससे उसने विभीषण की बुद्धि फेर दी और उसे रामचन्द्र के पास ले गई। उसने सोचा कि रामचन्द्र की कृपा से यदि यह जीता रहेगा तो इसके आसरे मैं भी बनी रहूँगी।

विभीषण की भक्ति पर प्रसन्न होकर रामचन्द्रजी ने उसे राक्षसों का राज्य देने की प्रतिज्ञा की। यह उन्होंने बहुत ही अच्छा काम किया। नीति का बरताव उचित समय पर करने से अवश्य ही उससे शुभ फल की प्राप्ति होती है।

रामचन्द्रजी ने खारी जल के समुद्र पर बन्दरों से पुल बँधवा दिया।

वह पुल विष्णु के सोने के लिए, रसातल से ऊपर आये हुए, शेषनाग के समान मालूम होने लगा। उसी पुल के ऊपर से उतर कर रामचन्द्रजी ने पीले पीले बन्दरों से लङ्का को घेर लिया। लङ्का के चारों तरफ़ सोने का एक परकोटा तो था ही, बन्दरों का चौतरफ़ा जमाव—घेरा—सोने का दूसरा परकोटा सा बन गया। वहाँ बन्दरों और राक्षसों का बड़ा ही घोर युद्ध हुआ। बन्दरों के मुख से निकले हुए रामचन्द्र के और राक्षसों के मुख से निकले हुए रावण के जय-जयकार से दिशायें गूँज उठीं। युद्ध क्या था, प्रलयकाल का प्रदर्शन था। बन्दरों ने वृक्षों की मार से राक्षसों के परिघ नामक अस्त्र तोड़ फोड़ डाले; पत्थरों के प्रहार से लोहे के मुद्गर चूर चूर कर दिये; नाख़ूनों से शस्त्रों की अपेक्षा भी अधिक गहरी चोटें पहुँचाई—शत्रुओं के शरीर उन्होंने चीर-फाड़ डाले; बड़े बड़े पर्वत-शिखर फेंक कर हाथियों के टुकड़े टुकड़े कर डाले।

तब राक्षसों को माया रचने की सूझी। विद्युज्जिह्व नामक राक्षस ने रामचन्द्रजी का कटा हुआ सिर सीताजी के सामने रख दिया। उसे देखकर सीता जी मूर्छित हो गईं। इस पर त्रिजटा नामक राक्षसी ने सीताजी से कहा कि यह केवल माया है। रामचन्द्रजी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। आप घबराइए नहीं। यह सुन कर सीताजी को धीरज हुआ। त्रिजटा की बदौलत वे फिर जी सी उठीं। यह जान कर कि मेरे पति कुशल से हैं उनका शोक तो दूर हो गया; परन्तु यह सोच कर उन्हें लज्जा अवश्य हुई कि पति की मृत्यु को पहले सच मान कर भी मैं जीती रही। चाहिए था यह कि पति की मृत्युवार्त्ता सुनते ही मैं भी मर जाती।

मेघनाद ने राम-लक्ष्मण को नागपाश से बाँध दिया। परन्तु इस पाश के कारण उत्पन्न हुई व्यथा उन्हें थोड़ी ही देर तक सहनी पड़ी। गरुड़ के आते ही नागपाश ढीला पड़ गया और राम-लक्ष्मण का उससे छुटकारा हो गया। उस समय वे सोते से जाग से पड़े और नागपाश से बाँधे जाने की पीड़ा उन्हें स्वप्न में हुई सी मालूम होने लगी।

इसके अनन्तर रावण ने शक्ति नामक अस्त्र लक्ष्मण की छाती में मारा। भाई को आहत देख रामचन्द्रजी शोक से व्याकुल हो गये। बिना किसी प्रकार के चोट खाये ही उनका हृदय विदीर्ण हो गया। लक्ष्मण को अचेत

राम का विलाप।

देख पवनसुत हनूमान् सञ्जीवनी नामक महौषधि ले आये। उसके प्रभाव
ने लक्ष्मण की सारी व्यथा दूर हो गई। वे फिर भीषण युद्ध करने लगे।
उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाणों से इतने राक्षस मार गिराये कि लङ्का की स्त्रियों
में हा-हाकार मच गया। वे महाकारुणिक विलाप करने लगीं। अपने
बाणों की सहायता से राक्षसियों को विलाप करना सिखला कर लक्ष्मणजी
विलापाचार्य्य की पदवी को पहुँच गये। शरत्काल जिस तरह मेघों की
गरज और इन्द्र-धनुष का सर्वनाश कर देता है—उनका नामोनिशान तक
बाक़ी नहीं रखता—उसी तरह लक्ष्मण ने मेघनाद के नाद और इन्द्र-धनुष के
समान चमकीले उसके धनुष का अत्यल्प अंश भी बाक़ी न रक्खा। उन्होंने
उसके धनुष को काट कर उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले और स्वयं
उसे भी मार कर सदा के लिए चुप कर दिया।

मेघनाद के मारे जाने पर कुम्भकर्ण लड़ाई के मैदान में आया। सुग्रीव
ने उसके नाक-कान काट कर उसकी वही दशा कर डाली जो दशा उसकी
बहन शूर्पणखा की हुई थी। भाई-बहन दोनों की अवस्था एक सी हो गई।
नाक-कान कट जाने पर भी कुम्भकर्ण ने बड़ा पराक्रम दिखाया। टाँकी से
काटे गये मैनसिल के लाल लाल पर्वत की तरह उसने रामचन्द्र को आगे
बढ़ने से रोक दिया। तब रामचन्द्र के बाणों ने मानों उससे कहा:—"आप
तो निद्रा-प्रिय हैं। यह समय आपके सोने का था, युद्ध करने का नहीं।
आपके भाई ने आपको कुसमय में जगा कर वृथा ही इतना कष्ट दिया।"
जान पड़ता है, यही सोच कर उन्होंने कुम्भकर्ण के लिए दीर्घनिद्रा बुला
दी—उसे उन्होंने सदा के लिए सुला दिया।

करोड़ों बन्दरों की सेना में और भी न मालूम कितने राक्षस गिर कर
नष्ट हो गये। कटे हुए राक्षसों के रुधिर की नदियाँ बह निकलीं। उन
नदियों में गिरी हुई युद्ध के मैदान की रज की तरह, कपि-सेना में मर
कर गिरे हुए राक्षसों का पता तक न चला कि वे कहाँ गये और उनकी
क्या गति हुई।

राक्षसों की इतनी हत्या हो चुकने पर, रावण फिर युद्ध करने के लिए
घर से निकला। उसने निश्चय कर लिया कि आज या तो रावण ही इस
संसार से सदा के लिए कूच कर जायगा या राम ही। उस समय देवताओं

ने देखा कि रामचन्द्र तो पैदल खड़े हैं, पर रावण रथ पर सवार है। यह बात उन्हें बहुत खटकी। अतएव, इन्द्र ने कपिल वर्ण के घोड़े जुता हुआ अपना रथ उनकी सवारी के लिए भेज दिया। मार्ग में आकाश-गङ्गा की लहरों का स्पर्श करके आई हुई वायु ने इस रथ की ध्वजा के वस्त्र को खूब हिलाया। एक क्षण में वह विजयी रथ रामचन्द्र के सामने आकर खड़ा हो गया। इन्द्र के सारथी मातलि के हाथ के सहारे रामचन्द्र उसपर सवार हो गये। रथ के साथ इन्द्र का कवच भी मातलि लाया था। उसे उसने रामचन्द्र को पहना दिया। यह वही कवच था जिस पर असुरों के अस्त्र कमल-दल की असमर्थता को पहुँचे थे। कमल का दल बहुत ही कोमल होता है। उसे फेंक कर मारने से बिलकुल ही चोट नहीं लगती। असुर लोग जब इन्द्र पर अस्त्र चलाते थे तब इस कवच की कृपा से इन्द्र पर उनका कुछ भी असर न होता था। वे कमल-दल के सदृश कवच पर लग कर गिर पड़ते थे। इसी कवच को शरीर पर धारण करके रामचन्द्रजी रावण से युद्ध करने के लिए तैयार हो गये।

रामचन्द्र और रावण, दोनों, एक दूसरे के आमने सामने हुए। राम ने रावण को देखा और रावण ने राम को। अपना अपना बल-विक्रम दिखाने का अवसर बहुत दिन के बाद आने से राम-रावण का युद्ध सफल सा हो गया। प्रत्यक्ष युद्ध न करने से अभी तक उन दोनों का वैर-भाव निष्फल सा था। अब दो में से एक की हार के द्वारा उसका परिणाम मालूम होने का मौक़ा आ गया। रावण के पुत्र, बन्धु-बान्धव और सेनानी आदि मर चुके थे। अतएव, यद्यपि वह अकेला ही रह गया था—पहले की तरह उसके पास यद्यपि उसके शरीर-रक्षक तक न थे—तथापि अपने हाथों और सिरों की बहुलता के कारण वह अपनी राक्षसी माता के वंश के अनेक राक्षसों से घिरा हुआ सा मालूम हुआ।

कुवेर के छोटे भाई रावण को देख कर रामचन्द्रजी ने मन में कहा:—"यह लोकपालों का जीतने वाला है। अपने सिर काट काट कर उन्हें इसने फूल की तरह महादेवजी पर चढ़ाया है। कैलास-पर्वत तक को एक बार इसने उठा लिया था। यह सचमुच ही बड़ा वीर है।" इस प्रकार मन में सोच कर वे बहुत ख़ुश हुए। उन्होंने कहा, ऐसे बली वैरी

को सामने पाकर मुझे अब अपना पराक्रम प्रकट करने का अच्छा मौक़ा मिला है।

युद्ध छिड़ गया। पहला प्रहार रावण ही ने किया। फड़क कर सीता के सङ्गम की सूचना देने वाली रामचन्द्र की दाहनी भुजा पर, उसने, बड़े क्रोध में आ कर, एक बाण मारा। वह निशाने पर लग कर भीतर घुस गया। रामचन्द्र ने रावण से इसका बदला तत्काल ही ले लिया। उन्होंने भी एक तेज़ बाण छोड़ा। वह रावण का हृदय फाड़ कर ज़मीन पर जा गिरा। गिरा क्यों, ज़मीन के भीतर धँस गया। वह इतने ज़ोर से छूटा था कि रावण की छाती भी उसने फाड़ दी और उसके पार निकल कर पाताल तक, नागों को मानों ख़ुशख़बरी सुनाने के लिए, ज़मीन को फाड़ता चला गया। रावण ने पातालवासी नागों की भी बहू-बेटियाँ हर ली थीं। अतएव, नागलोक वालों के लिए उसकी छाती के फाड़े जाने की ख़बर सचमुच ही सुनाने लायक़ थी। शास्त्रार्थ करने वाले दो आदमी जिस तरह जीत की इच्छा से एक दूसरे की उक्ति का उक्ति से खण्डन करते हैं, उसी तरह, रामचन्द्र और रावण ने भी, परस्पर एक दूसरे के अस्त्र को अस्त्र से ही काट कर, विजय पाने के लिए, जी-जान से प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। धीरे धीरे उनका क्रोध बहुत ही बढ़ गया। वे दोनों ही पराक्रम की पराकाष्ठा दिखाने लगे। कभी रावण का पराक्रम बढ़ा हुआ देख पड़ा, कभी राम का। परस्पर लड़ने वाले दो मतवाले हाथियों के बीच की दीवार की तरह, जीत की लक्ष्मी राम और रावण के विषय में सामान्यभाव को पहुँच गई। कभी वह रामचन्द्र की हो गई, कभी रावण की। दोनों के बीच में वह झूले की तरह झूलने लगी। रामचन्द्र के द्वारा रावण पर किये गये प्रहारों से प्रसन्न होकर देवता, और रावण के द्वारा रामचन्द्र पर किये गये प्रहारों से प्रसन्न होकर दैत्य, राम और रावण पर, क्रमशः, फूल बरसाने लगे। परन्तु उन दोनों योद्धाओं की बाणवर्षा से वह पुष्पवर्षा न सही गई। अतएव, उसने परस्पर एक दूसरे पर बरसाये गये फूलों को बीच ही में रोक दिया। उन्हें आकाश से नीचे गिरने ही न दिया।

कुछ देर बाद रावण ने रामचन्द्र पर लोहे की कीलों से जड़ी हुई शतघ्नी नामक गदा, यमराज से छीन लाई गई कुकर्म्मियों को पीटने की कूट

शाल्मली नामक लाठी की तरह, चलाई । दैत्यों को इस अस्त्र से बड़ी बड़ी आशायें थीं । परन्तु रथ तक पहुँचने के पहले ही रामचन्द्र ने इसे अपने अर्द्धचन्द्र बाणों से, केले की तरह, सहज ही में, काट गिराया । फि उन्होंने रावण पर छोड़ने के लिए कभी निष्फल न जाने वाला ब्रह्मास्त्र अपने धनुष पर रक्खा । धनुर्विद्या में रामचन्द्र सचमुच ही अद्वितीय थे । उन्होंने अपने धनुष पर इस अस्त्र की योजना क्या की, प्रियतमा जानकी के कारण उत्पन्न हुए शोकरूपी काँटे को अपने हृदय से निकाल फेंकने की ओषधि ही का उन्होंने प्रयोग सा किया । धनुष से छूटने पर, आकाश में, उस चमचमाते हुए अस्त्र का मुख, दस भागों में, विभक्त हो गया । उस समय वह शेष-नाग के महा विकराल फनों के मण्डल के समान दिखाई दिया । मन्त्र पढ़ कर छोड़े गये उस ब्रह्मास्त्र ने, पलक मारते मारते, रावण के दसों सिर काट कर ज़मीन पर गिरा दिये । उसने यह काम इतनी फुर्ती से कर दिखाया कि रावण को सिर काटे जाने की व्यथा तक न सहनी पड़ी । उसे मालूम ही न हुआ कि कब उसके सिर कट कर गिर पड़े । लहरों के कारण अलग अलग दिखाई देने वाली, प्रातःकाली सूर्य्य की प्रतिमा, जल में जैसी मालूम होती है, रावण के शरीर से क कर गिरे हुए मुण्डों की माला भी, उस समय, वैसी ही मालूम हुई ।

रावण के कटे हुए सिर ज़मीन पर पड़े देख कर भी देवताओं को उसके मरने पर पूरा पूरा विश्वास न हुआ । वे डरे कि ऐसा न हो जो ये सिर फिर जुड़ जायँ ।

धीरे धीरे देवताओं का सन्देह दूर हो गया । उन्हें विश्वास हो गय कि रावण अब जीता नहीं । अतएव, उन्होंने रावणारि रामचन्द्र के शीश पर—उस शीश पर जिस पर, राज्याभिषेक होने पर, मुकुट रखने का समय समीप आ गया था—बड़े ही सुगन्धित फूलों की वर्षा की । महा मनोहारी और सुगन्धिपूर्ण फूल बरसते देख भौंरों ने दिक्पालों के हाथियों की कनपटियाँ छोड़ दीं । अपने पंखों पर मद चिपकाये हुए वे उन फूलों के पीछे पीछे दौड़े । फूलों की सुगन्धि से खिंच कर, वे भी, फूलों के पीछे ही, आसमान से रामचन्द्र के शीश पर आ पहुँचे ।

देवताओं का काम हो चुका देख रामचन्द्र ने धनुष से तुरन्त ही

प्रत्यञ्चा उतार डाली। तब इन्द्र का सारथी मातलि उनके सामने उपस्थित हुआ। उसने प्रार्थना की कि आज्ञा हो तो मैं अब अपने स्वामी का रथ—वह रथ जिसकी पताका के डण्डे पर रावण का नाम खुदे हुए बाणों के चिह्न बन गये थे—ले जाऊँ। रामचन्द्र ने उसे रथ वापस ले जाने की आज्ञा दे दी। तब वह हज़ार घोड़े जुते हुए उस रथ को लेकर, ऊपर, आकाश की तरफ़ रवाना हो गया।

इधर सीता जी ने अग्निपरीक्षा के द्वारा अपनी विशुद्धता प्रमाणित कर दी। अतएव, रामचन्द्र ने अपनी प्रियतमा पत्नी का स्वीकार कर लिया। फिर अपने प्रिय मित्र विभीषण को लङ्का का राज्य देकर, और सीता, लक्ष्मण तथा सुग्रीव को साथ लेकर, अपने भुज-बल से जीते हुए सर्वश्रेष्ठ विमान पर सवार होकर, उन्होंने अयोध्या के लिए प्रस्थान किया।

तेरहवाँ सर्ग।

—:०:—

रामचन्द्र का अयोध्या को लौटना।

परम गुणज्ञ राम-नामधारी विष्णु भगवान्, पुष्पक-विमान पर सवार होकर, आकाश की राह से अयोध्या को चले—उस आकाश की राह से जिसका गुण शब्द है, अर्थात् जिसके बिना शब्द की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, और जो उन्हीं, अर्थात् विष्णु के ही, पैर से एक बार मापा जा चुका है। नीचे भरे हुए रत्नाकर समुद्र को देख कर, एकान्त में उन्होंने अपनी पत्नी सीता से इस प्रकार कहना आरम्भ किया:—

"हे वैदेही! फेने से परिपूर्ण इस जलराशि को तो देख। मेरे निर्माण किये हुए पुल ने इसे मलयाचल तक विभक्त कर दिया है—इसके दो टुकड़े कर दिये हैं। आकाश-गङ्गा के द्वारा दो विभागों में बँटे हुए, चमकते हुए सुन्दर तारोंवाले, शरद्-ऋतु के उज्ज्वल आकाश की तरह यह मालूम हो रहा है। पहले यह इतना लम्बा, चौड़ा और गहरा न था। सुनते हैं, मेरे पूर्वजों ने ही इसे इतना बड़ा कर दिया है। यह घटना राजा सगर के समय की है। उन्होंने यज्ञ की दीक्षा लेकर घोड़ा छोड़ा। उस पवित्र घोड़े को कपिल ने पाताल पहुँचा दिया। उसे ढूँढ़ने के लिए सगर के सुतों ने, दूर दूर तक, पृथ्वी खोद डाली। उन्हीं के खोदने से इस समुद्र की लम्बांई, चौड़ाई और गहराई अधिक हो गई। इसकी मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ। इसी की बदौलत सूर्य्य की किरणें गर्भवती होती हैं—इसी से जल खींच कर पर्जन्य के रूप में वे बरसाती हैं; इसी के भीतर रत्नों की भी उत्पत्ति और वृद्धि होती है; यही पानी रूपी ईंधन से प्रज्वलित होने वाली वड़वाग्नि धारण करता है; और, नेत्रों को आनन्द देनेवाला चन्द्रमा भी इसीसे

उत्पन्न हुआ है। मत्स्य और कच्छप आदि अवतार लेनेवाले विष्णु के रूप की तरह यह भी अपना रूप बदला करता है—कभी ऊँचा उठ जाता है, कभी आगे बढ़ जाता है और कभी पीछे हट जाता है। विष्णु की महिमा जैसे दसों दिशाओं में व्याप्त है वैसे ही इसके विस्तार से भी दसो दिशायें व्याप्त हैं—कोई दिशा ऐसी नहीं जिसमें यह न हो। विष्णु ही की तरह न इसके रूप का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है और न इसके विस्तार ही का। निश्चय-पूर्वक कोई यह नहीं कह सकता कि समुद्र इतना है अथवा इस तरह का है। जैसे विष्णु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता वैसेही इसका भी नहीं हो सकता।

"युगों के अन्त में, सारे लोकों का संहार करके; प्रलय होने पर, आदि-पुरुष विष्णु इसी में योग-निद्रा को प्राप्त होते हैं। उस समय उनकी नाभि से उत्पन्न हुए, कमल पर बैठने वाले पहले प्रजापति, इसी के भीतर, उनकी स्तुति करते हैं। यह बड़ा ही दयालु है। शरण आये हुओं की यह सदा रक्षा करता है। शत्रुओं से पीड़ित हुए राजा जैसे किसी धर्मिष्ठ राजा को मध्यस्थ मान कर उसकी शरण जाते हैं वैसे ही इन्द्र के वज्र से पंख कटे हुए सैकड़ों पर्वत इसके आसरे रहते हैं। इन्द्र के कोप-भाजन होने से उन बेचारों का सारा गर्व चूर हो गया है। वे यद्यपि सर्वथा दीन हैं, तथापि यह उनका तिरस्कार नहीं करता। उन्हें अपनी शरण में रख कर उनकी रक्षा कर रहा है। आदि-वराह ने जिस समय पृथ्वी को पाताल से ऊपर उठाया था उस समय, प्रलय के कारण, बढ़े हुए इसके स्वच्छ जल ने, पृथ्वी का मुँह ढक कर, क्षण मात्र के लिए उसके घूँघट का काम किया था।

"और लोग अपनी पत्नियों के साथ जैसा व्यवहार करते हैं ठीक वैसा ही व्यवहार यह नहीं करता। इसके व्यवहार में कुछ विलक्षणता है। यह अपने तरङ्गरूपी अधरों का ख़ुद भी दान देने में बड़ा निपुण है। धृष्टता-पूर्वक इससे संगम करने वाली नदियों को यह ख़ुद भी पीता है और उनसे अपने को भी पिलाता है। यह विलक्षणता नहीं तो क्या है?

"ज़रा इन तिमि-जाति की मछलियों या ह्वेलों को तो देख। ये अपने बड़े बड़े मुँह खोल कर, नदियों के मुहानों में, न मालूम कितना पानी पी लेती हैं। पानी के साथ छोटे छोटे जीव-जन्तु भी इनके मुँहों में चले जाते

हैं। उन्हें निगल कर ये अपने मुँह वन्द कर लेती हैं और अपने सिरों से, जिनमें छोटे छोटे छेद हैं, उस पानी के प्रवाह को फ़ौवारे की तरह ऊपर फेंक देती हैं।

"ये मतङ्गाकार मगर—जलहस्ती—भी अच्छा तमाशा कर रहे हैं। जल के भीतर से सहसा ऊपर उठ कर समुद्र के फेने को ये द्विधा विभक्त कर देते हैं। फेने के वीच में इनके एकाएक प्रकट हो जाने से फेना इधर उधर दो टुकड़ों में वँट जाता है। कुछ तो वह इनकी एक कनपटी पर फैल जाता है, कुछ दूसरी पर। अतएव, ऐसा मालूम होता है जैसे वह, इनके सिर के दोनों तरफ़, कानों का चमर वन गया हो। क्यों, ऐसा ही मालूम होता है न?

"तीर की वायु लेने के लिए निकले हुए इन वड़े वड़े साँपों को तो देख। समुद्र की वड़ी वड़ी लहरों में और इनमें वहुत ही कम भेद है। इनके और लहरों के आकार तथा रङ्ग दोनों में प्रायः समता है। इनके फनों पर जो मणियाँ हैं उनकी चमक, सूर्य्य की किरणों के संयोग से, वहुत वढ़ रही है। इसीसे ये पहचाने भी जाते हैं। यदि यह वात न होती तो इनकी पहचान कठिनता से हो सकती।

"ये लतायें तेरे अधरों की स्पर्धा करनेवाले मूँगों की हैं। तरङ्गों के वेग के कारण शङ्खों का समूह उनमें जा गिरता है। वहाँ ऊपर को उठे हुए उनके अङ्कुरों से शङ्खों का मुँह छिद जाता है। अतएव वड़ी कठिनता से किसी तरह वे वहाँ से पीछे लौट सकते हैं।

"देख, वह पर्वतप्राय काला काला मेघ समुद्र के ऊपर लटक रहा है। वह पानी पीना चाहता है; परन्तु अच्छी तरह पीने नहीं पाता। भँवरों में पड़ कर वह इधर उधर मारा मारा फिरता है। उसके इस तरह इधर उधर घूमने से ऐसा जान पड़ता है जैसे मन्दराचल फिर समुद्र को मथ रहा हो। आहा! पानी पीने के लिए झुके हुए इस मेघ ने समुद्र की शोभा को वहुत ही वढ़ा दिया है।

"खारी समुद्र की वह तीर-भूमि लोहे के चक्र के सदृश गोल गोल मालूम होती है। उस पर तमाल और ताड़ का जङ्गल खड़ा है। उसके कारण वह नीली नीली दिखाई देती है। वह हम लोगों से वहुत दूर है।

इससे बहुत पतली जान पड़ती है। अपने पतलेपन और नीले रङ्ग के कारण वह ऐसी मालूम होती है जैसे चक्र की धार पर लगे हुए मोरचे की पतली पतली तह।

"हे दीर्घनयनी! समुद्र-तीर-वर्त्तिनी वायु शायद यह समझ रही है कि तेरे बिम्बाधर में विद्यमान रस का मैं बेतरह प्यासा हूँ। अतएव, मुझे इतना धीरज नहीं कि मैं तेरा शृङ्गार हो चुकने तक ठहरा रहूँ—मुझे एक एक पल भारी सा हो रहा है। यही सोच कर मानों वह तेरे मुख का मण्डन, केतकी के फूलों की पराग-रज से, कर रही है। जल्दी के कारण मैं तेरे मुख का मण्डन नहीं होने देता। इससे, मुझ पर कृपा करके, वायु ही तेरे मुख का मण्डन सा कर रही है।

"देख तो, विमान कितने वेग से जा रहा है। हम लोग, पल ही भर में, समुद्र पार करके, किनारे पर, पहुँच गये। समुद्र-तट की शोभा भी देखने ही लायक़ है। फलों से लदे हुए सुपारी के पेड़ बहुत ही भले मालूम होते हैं। फटी हुई सीपियों से निकले हुए मोतियों के ढेर के ढेर रेत पर पड़े हुए कैसे अच्छे लगते हैं।

"हे मृगनयनी! ज़रा पीछे मुड़ कर तो देख। न मालूम कितनी दूर हम लोग निकल आये। केले के समान सुन्दर जङ्घाओंवाली जानकी! समुद्रतीर-वर्तिनी वन-भूमि पर तो एक दृष्टि डाल। जैसे जैसे समुद्र दूर होता जाता है वैसे ही वैसे वह उसके भीतर से निकलती हुई सी चली आती है।

"इस विमान की गति को तो देख। मैं इसकी कहाँ तक प्रशंसा करूँ? कभी तो यह देवताओं के मार्ग से चलता है, कभी बादलों के और कभी पक्षियों के। जिधर से चलने को मेरा जी चाहता है उधर ही से यह जाता है। यह मेरे मन की भी बात समझ जाता है।

"प्रिये! अब दोपहर का समय है। इसीसे धूप के कारण तेरे मुख-मण्डल पर पसीने के बूँद निकल रहे हैं। परन्तु, ऐरावत के मद से सुगन्धित और त्रिपथगा गङ्गा की तरङ्गों के स्पर्श से शीतल हुई आकाश-वायु उन्हें तेरे मुख पर ठहरने ही नहीं देती। निकलने के साथ ही वह उन्हें सुखा देती है।

"इस समय हमारा विमान बादलों के बीच से जा रहा है। अतएव, कुतूहल में आकर जब तू अपना हाथ विमान की खिड़कियों से बाहर निकाल कर किसी मेघ को छू देती है तब बड़ा मज़ा होता है। हे कोपन-शीले! उस समय वह मेघ अपना बिजलीरूपी चमकीला भुजबन्द उतार कर तुझे एक और गहना सा देने लगता है। एक भुजबन्द तो पहले ही से ते बाँह पर है। परन्तु, वह शायद कहता होगा कि एक उसका भी चिह्न सही।

"गेरुये वस्त्र धारण करनेवाले ये तपस्वी, चिरकाल से उजड़े हुए अपने अपने आश्रमों में आ कर, इस समय, उनमें नई पर्णशालायें बना रहे हैं। राक्षसों के डर से अपने आश्रम छोड़ कर ये लोग भाग गये थे। परन्तु अब उनका डर नहीं। अब तो इस जनस्थान में सब प्रकार आनन्द है; किसी विघ्न का नाम तक नहीं। इसीसे ये फिर बसने आये हैं।

"देख, यह वही स्थान है जहाँ तुझे ढूँढ़ते ढूँढ़ते मैंने तेरा एक बिछुआ ज़मीन पर पड़ा पाया था। उसने तेरे चरणारविन्दों से बिछुड़ने के दुःख से मौनसा साध लिया था—बोलना ही बन्द सा कर दिया था। इन लताओं को देख कर भी मुझे एक बात याद आ गई। इन बेचारियों में बोलने की शक्ति तो है नहीं। इस कारण, जिस मार्ग से तुझे राक्षस हर ले गया था उसे इन्होंने, कृपापूर्व्वक, अपनी झुके हुए पत्तोंवाली डालियों से मुझे दिखाया था। इन हरिणियों का भी मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। तेरे वियोग में मुझे व्याकुल देख इन्होंने चरना बन्द करके, ऊँची पलकों वाली अपनी आँखें दक्षिण दिशा की तरफ़ उठाई थीं। जिस मार्ग से तू गई थी उसकी मुझे कुछ भी ख़बर न थी। यह बात इन्हें मालूम सी हो गई थी। इसी से इन्होंने तेरे मार्ग की सूचना देकर मुझे अनुगृहीत किया था।

"देख, माल्यवान् पर्वत का आकाश-स्पर्शी शिखर वह सामने दिखाई दे रहा है। यह वही शिखर है जिस पर बादलों ने नया मेंह, और तेरी वियोग-व्यथा से व्यथित मैंने आँसू, एक ही साथ, बरसाये थे। उस समय वर्षाकाल था। इसी से तेरे वियोग की व्यथा मुझे और भी अधिक दुःख-दायिनी हो रही थी। पानी बरस जाने के कारण छोटे छोटे तालावों से सुगन्धि आ रही थी; कदम्ब के पेड़ों पर अधखिले फूल शोभा पा रहे थे; और मोरों का शोर मनोहारी स्वर में हो रहा था। परन्तु सुख के ये सारे

सामान, बिना तेरे, मुझे अत्यन्त असह्य थे। जिस समय मैं इस पर ठहरा हुआ था उस समय गुफाओं के भीतर प्रतिध्वनित होनेवाली मेघों की गर्जना ने मुझे बड़ा दुःख दिया था। उसे सुन कर मेरा धीरज प्रायः छूट गया था। बात यह थी कि उस समय मुझे तुझ भीरु का कम्पपूर्ण आलिङ्गन याद आ गया था। मेघों को गरजते सुन तू डर कर काँपती हुई मेरी गोद में आ जाती थी। इसका मुझे एक नहीं, अनेक बार, अनुभव हो चुका था। इसी से तेरे हरे जाने के बाद, इस पर्वत के शिखर पर, मेघ-गर्जना सुन कर वे सारी बातें मुझे याद आ गई थीं और बड़ी कठिनता से मैं उस गर्जना को सह सका था। इस पर्वत के शिखर पर एक बात और भी ऐसी हुई थी जिससे मुझे दुःख पहुँचा था। पानी बरस जाने के कारण, ज़मीन से उठी हुई भाफ़ का योग पाकर, खिली हुई नई कन्दलियों ने तेरी आँखों की शोभा की होड़ की थी। उनके अरुणिमामय फूल देकर मुझे, वैवाहिक धुवाँ लगने से अरुण हुई तेरी आँखों का स्मरण हो आया था। इसी से मेरे हृदय को पीड़ा पहुँची थी।

"अब हम लोग पम्पासरोवर के पास आ पहुँचे। देख तो उसके तट पर नरकुल का कितना घना वन है। उसने तीरवर्त्ती जल को ढक सा लिया है। उसके भीतर, तट पर, बैठे हुए चञ्चल सारस पक्षी बहुत ही कम दिखाई देते हैं। दूर तक चल कर जाने के कारण थकी हुई मेरी दृष्टि इस सरोवर का जल पी सी रही है। यहीं, इस सरोवर के किनारे, मैंने चकवा-चकवी के जोड़े देखे थे। अपनी अपनी चोंचों में कमल के केसर लेकर वे एक दूसरे को दे रहे थे। वे संयोगी थे; और, मैं, तुझसे बहुत दूर होने के कारण, वियोगी था। इससे मैंने उन्हें अत्यन्त चावभरी दृष्टि से देखा था। उस समय मेरा बुरा हाल था। मेरी विचार-बुद्धि जाती सी रही थी। सरोवर के तट पर अशोक की उस लता को, जो फूलों के गोल गोल गुच्छों से झुक रही है, देख कर मुझे तेरा भ्रम हो गया था। मुझे ऐसा मालूम होने लगा था कि वह लता नहीं, किन्तु तू ही है। इस कारण आँखों से आँसू टपकाता हुआ मैं उसका आलिङ्गन करने चला था। यदि सच बात बतला कर लक्ष्मण मुझे रोक न देते तो मैं अवश्य ही उसे अपने हृदय से लगा लेता।

"देख, गोदावरी भी आ गई। विमान के झरोखों से बाहर लटकती हुई तेरी सोने की करधनी के घुँघुरुओं का शब्द सुन कर, गोदावरी के सारस पक्षी, आकाश में उड़ते हुए, आगे बढ़ कर, तुझसे भेंट सी करने आ रहे हैं।

"अहा! बहुत दिनों के बाद आज फिर पञ्चवटी के दर्शन हुए हैं। यह वही पञ्चवटी है जिसमें तूने, कटि कमज़ोर होने पर भी, आम के पौधों को, पानी से घड़े भर भर कर, सींचा था। देख तो इसके मृग, मुँह ऊपर को उठाये हुए, हम लोगों की तरफ़ कितनी उत्सुकता से देख रहे हैं। इसे दुबारा देख कर आज मुझे बड़ा ही आनन्द हो रहा है। मुझे इस समय उस दिन की याद आ रही है जिस दिन आखेट से निपट कर, तेरी गोद में अपना सिर रक्खे हुए, नरकुल की कुटी के भीतर, एकान्त में, गोदावरी के किनारे, मैं सो गया था। उस समय, नदी की तरङ्गों को छूकर आई हुई वायु ने, मेरी सारी थकावट, एक पल में, दूर कर दी थी। क्यों, याद है न?

"अगस्त्य मुनि का नाम तो तूने अवश्य ही सुना होगा। शरत्काल में उनके उदय से सारे जलाशयों के जल निर्म्मल हो जाते हैं। मैले जलों को निर्म्मल करनेवाले उन्हीं अगस्त्य का यह भूतलवर्त्ती स्थान है। इनकी महिमा अवर्णनीय है। इन्होंने अपनी भौंह टेढ़ी करके, केवल एक बार कोपपूर्ण दृष्टि से देख कर ही, नहुष-नरेश को इन्द्र की पदवी से भ्रष्ट कर दिया था। परम कीर्त्तिमान् अगस्त्य मुनि, इस समय, अग्निहोत्र कर रहे हैं। आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण नामक उनकी तीनों आगों से उठा हुआ, हव्य की सुगन्धि से युक्त धुवाँ, देख, हम लोगों के विमान-मार्ग तक में छाया हुआ है। उसे सूँघने से मेरा रजोगुण दूर हो गया और मेरी आत्मा हलकी सी हो गई।

"हे मानिनी! वह शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सर नामक विहार-सरोवर है। वह वन से घिरा हुआ है। अतएव, यहाँ से वह वन के बीच चमकता हुआ ऐसा दिखाई देता है जैसे, दूर से देखने पर, मेघों के बीच चमकता हुआ चन्द्रमा का बिम्ब थोड़ा थोड़ा दिखाई देता है। पूर्वकाल में शातकर्णि मुनि ने यहाँ पर बड़ी ही घोर तपस्या की थी। मृगों के साथ साथ फिरते हुए उन्होंने केवल कुश के अंकुर खाकर अपनी प्राण-रक्षा की थी। उनकी

ऐसी उग्र तपस्या से डरे हुए इन्द्र ने यहीं उन्हें पाँच अप्सराओं के यौवनरूपी कपट-जाल में फँसाया था। अब भी वे यहीं रहते हैं। इस सरोवर के जल के भीतर बने हुए मन्दिर में उनका निवास है। इस समय उनके यहाँ गाना-बजाना हो रहा है। देख, मृदङ्ग की गम्भीर ध्वनि यहाँ, आकाश तक में, सुनाई दे रही है। उसकी प्रतिध्वनि से पुष्पक-विमान के ऊपरी कमरे, क्षण क्षण में, गुञ्जायमान हो रहे हैं।

"सुतीक्ष्ण नाम का यह दूसरा तपस्वी है। इसका चरित्र बहुत ही उदार और स्वभाव बहुत ही सौम्य है। देख तो यह कितनी कठिन तपस्या कर रहा है। नीचे तो, इसके चारों तरफ़, चार जगह, आग धधक रही है और ऊपर, इसके सिर पर, आकाश में, सूर्य्य तप रहा है। इस प्रकार इसे तपस्या करते देख, इन्द्र के मन में, एक बार सन्देह उत्पन्न हुआ। उसने कहा, ऐसा न हो जो ऐसी उग्र तपस्या के प्रभाव से यह तपस्वी मेरा इन्द्रासन छीन ले। अतएव, इसे तप से डिगाने के लिए उसने बहुत सी देवाङ्गनायें इसके पास भेजीं। उन्होंने इसके सामने उपस्थित होकर नाना प्रकार की शृंगार-चेष्टायें कीं। मन्द मन्द मुसकराती हुई उन्होंने कभी तो इस पर अपने कटाक्षों की वर्षा की; कभी, किसी न किसी बहाने, अपनी कमर की अधखुली करधनी दिखलाई; और कभी अपने हाव-भावों से इसे मोहित करना चाहा। परन्तु उनकी एक न चली। इस तपस्वी का मन मैला तक न हुआ और उन्हें विफल मनोरथ होकर लौट जाना पड़ा। देख तो यह मुझ पर कितनी कृपा करता है। ऊर्ध्वबाहु होने के कारण इसका बायाँ हाथ तो ऊपर को उठा हुआ है। वह तो कुछ काम देता नहीं। रहा दाहना हाथ, सो उसे यह मेरी तरफ़ बढ़ा कर, इशारे से, मेरा सत्कार कर रहा है। इसी दाहने हाथ से यह कुशों के अंकुर तोड़ता है और इसी से मृगों को भी खुजलाता है। इसके इस हाथ में पहनी हुई रुद्राक्ष की माला भुजबन्द के समान शोभा दे रही है। यह सदा मौन रहता है, कभी बोलता नहीं। अतएव, मेरे प्रणाम का स्वीकार इसे, ज़रा सिर हिला कर ही, करना पड़ा है। बीच में विमान आ जाने से सूर्य्य इसकी ओट में हो गया था। परन्तु अब रुकावट दूर हो गई है। अतएव, यह फिर अपनी दृष्टि को सूर्य्य में लगा रहा है।

"यह पवित्र तपोवन प्रसिद्ध अग्निहोत्री शरभङ्ग नामक तपस्वी का है। इसमें सभी को शरण मिलती है। कोई यहाँ से विमुख नहीं लौटने पाता। समिधों से चिरकाल तक अग्नि को तृप्त करके भी जब शरभङ्ग मुनि को तृप्ति न हुई तब उसने मन्त्रों से पवित्र हुए अपने शरीर तक को अग्नि में हवन कर दिया। सुपुत्र की तरह पाले गये उसके आश्रम के ये पेड़ ही, अब, उसकी तरफ़ से, अतिथि-सेवा का काम करते हैं। अपनी सुखद छाया से ये आये-गये लोगों की थकावट दूर करते हैं और अपने मीठे तथा बहुत होने-वाले फलों से उनकी भूख मिटाते हैं।

"इस समय हम लोग चित्रकूट के ऊपर से जा रहे हैं। हे ऊँचे-नीचे अङ्गोंवाली! यह पर्वत मुझे गर्विष्ठ बैल के समान मालूम हो रहा है। बैल अपने गुहा-सदृश मुँह से घोर नाद करता है। यह भी अपने गुहारूपी मुँह से झरनों का घन-घोर शब्द करता है। टीलों या मिट्टी के धुस्सों पर टक्कर मारने से बैल के सींगों की नोकों पर कीचड़ लग जाता है। इसके भी शिखररूपी सींगों पर मेघों के ठहरने से काला काला कीचड़ सा लगा हुआ मालूम होता है। यह पर्वत मुझे ऐसा अच्छा लगता है कि मेरी दृष्टि इसकी तरफ़ बलपूर्वक खिँची सी जा रही है।

"यह मन्दाकिनी नाम की नदी है। इसका जल बहुत ही निर्म्मल है। देख तो यह कैसी धीरे धीरे बह रही है। हम लोगों के विमान से यह दूर है। इससे इसकी धारा बहुत पतली दिखाई देती है। यह पर्वत की त[illegible] हटी में बहती जा रही है और ऐसी मालूम हो रही है जैसे पृथ्वी के ग[illegible] में मोतियों की माला पड़ी हो।

"पहाड़ के पास तमाल का वह पेड़ कितना सुन्दर है। यवांकुर के समान तेरे कुछ कुछ पीले कपोलों की शोभा बढ़ाने के लिए मैंने इसी तमाल के सुगन्धिपूर्ण कोमल पत्ते तोड़ कर तेरे लिए कर्णफूल बनाये थे।

"यह महर्षि अत्रि का पावन वन है। यहीं अपने आश्रम में वे तपस्या करते हैं। इसके पेड़ों पर फूलों के तो कहीं चिह्न नहीं; पर फलों से वे सब के सब, चोटी तक, लदे हुए हैं। इससे सिद्ध है कि इस वन के वृक्ष बिना फूले ही फलते हैं। इसके जङ्गली जीवों को कोई छेड़ नहीं सकता। किसी में इतनी शक्ति या साहस ही नहीं जो उन्हें मारे या कष्ट

दे। इसी से वे बेतरह हिल गये हैं और निर्भय विचरण कर रहे हैं। ये अघटित घटनायें महर्षि अत्रि की उग्र तपस्या के प्रभाव की सूचना दे रही हैं। जो त्रिपथगा गङ्गा महादेवजी के मस्तक पर माला के सदृश शोभा देती है और जिसमें खिले हुए सुवर्ण-कमलों को सप्तर्षि अपने हाथों से तोड़ते हैं उसेही, सुनते हैं, अत्रि की पत्नी अनसूया ने, तपोधनी मुनियों के स्नान के लिए, यहाँ बहाया था। वीरासन लगाकर ध्यान में निमग्न हुए ऋषियों की वेदियों के बीच में खड़े हुए ये पेड़ भी, हृदय में, एक अपूर्व भाव पैदा करते हैं। पवन न चलने के कारण निश्चल खड़े हुए ये पेड़ स्वयं भी ध्यानमग्न से मालूम होते हैं।

"अब हम लोग प्रयाग आ गये। देख यह वही श्याम नाम का वट-वृक्ष है जिसकी पूजा करके, एक बार, तूने कुछ याचना की थी। यह इस समय खूब फल रहा है। अतएव, चुन्नियों सहित पन्नों के ढेर की तरह चमकता है।

"हे निर्दोष अङ्गों वाली! गङ्गा और यमुना के सङ्गम के दर्शन कर। शुभ्रवर्ण गङ्गा में नीलवर्ण यमुना साफ़ अलग मालूम हो रही है। यमुना की नीली नीली तरङ्गों से पृथक् किया गया गङ्गा का प्रवाह बहुतही भला मालूम होता है। कहीं तो गङ्गा की धारा, बड़ी प्रभा विस्तार करने वाले, बीच बीच नीलम गुथे हुए मुक्ताहार के सदृश शोभित है; और, कहीं बीच बीच नीले कमल पोहे हुए सफ़ेद कमलों की माला के सदृश शोभा पाती है। कहीं तो वह मानस-सरोवर के प्रेमी राजहंसों की उस पाँति के सदृश मालूम होती है जिसके बीच बीच नीले पंखवाले कदम्ब नामक हंस बैठे हों; और कहीं कालागरु के बेल-बूटे सहित चन्दन से लिपी हुई पृथ्वी के सदृश मालूम होती है। कहीं तो वह छाया में छिपे हुए अँधेरे के कारण कुछ कुछ कालिमा दिखलाती हुई चाँदनी के सदृश जान पड़ती है; और कहीं ख़ाली जगहों से थोड़ा थोड़ा नीला आकाश प्रकट करती हुई शरत्काल की सफ़ेद मेघमाला के सदृश भासित होती है। और, कहीं कहीं वह काले साँपों का गहना और सफ़ेद भस्म धारण किये हुए महादेवजी के शरीर के सदृश मालूम होती है। नीलिमा और शुभ्रता का ऐसा अद्भुत मेल देख कर चित्त बहुतही प्रसन्न होता है। समुद्र की गङ्गा और

यमुना नामक दो पत्नियों के इस सङ्गम में स्नान करने वाले देहधारियों की आत्मा पवित्र हो जाती है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बिनाही उन्हें जन्म-मरण के फन्दे से छुट्टी मिल जाती है। वे सदा के लिए देहबन्धन के झंझट से छूट जाते हैं।

“यह निषादों के नरेश का वह गाँव है जहाँ मैंने सिर से मणि उतार कर जटा-जूट बाँधे थे और जहाँ मुझे ऐसा करते देख सुमन्त्र यह कह कर रोया था कि—'कैकेयी! ले, अब तो तेरे मनोरथ सिद्ध हुए!'

“आहा! यहाँ से तो सरयू देख पड़ने लगी। वेद जिस तरह बुद्धि के प्रधान कारण अव्यक्त बतलाते हैं उसी तरह बड़े बड़े विज्ञानी मुनि इस नदी का आदि-कारण—इसका उद्गम-स्थान—ब्रह्मसरोवर बतलाते हैं—वह ब्रह्मसरोवर जिसमें खिले हुए सुवर्ण-कमलों की रज, स्नान करते समय, यक्षों की स्त्रियों की छाती में लग लग जाती है। इसके किनारे किनारे यज्ञों के न मालूम कितने यूप-नामक खम्भे गड़े हुए हैं। अश्वमेध-यज्ञ समाप्त होने पर, अवभृथ-नामक स्नान कर के, इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने इसके जल को और भी अधिक पवित्र कर दिया है। ऐसी पुण्यतोया यह सरयू अयोध्या-राजधानी के पासही बहती है। इसकी बालुकापूर्ण-तटरूपी गोद में सुख से खेलने और दुग्धवत् जल पीकर बड़े होने वाले उत्तर-कोसल के राजाओं की यह धाय के समान है। इसी से मैं इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूँ। मेरे माननीय पिता के वियोग को प्राप्त हुई मेरी माता के समान यह सरयू, चौदह वर्ष तक दूर देश में रहने के अनन्तर मुझे अयोध्या को आते देख, वायु को शीतलता देने वाले अपने तरङ्गरूपी हाथों से मेरा आलिङ्गन सा कर रही है।

“सन्ध्या के समान लालिमा लिये हुए धूल सामने उड़ती दिखाई दे रही है। जान पड़ता है, हनूमान् से मेरे आगमन का समाचार सुन कर, सेना को साथ लिये हुए भरत, आगे बढ़ कर, मुझसे मिलने आ रहे हैं। वे पूरे साधु हैं। अतएव, मुझे विश्वास है कि प्रतिज्ञा का पालन करके लौटे हुए मुझे वे निज-रक्षित राजलक्ष्मी को उसी तरह अछूती सौंप देंगे जिस तरह कि युद्ध में खर-दूषण आदि को मार कर लौटे हुए मुझे लक्ष्मण ने तुझे सौंपा था।

"मेरा विचार सच निकला। छाल के कपड़े पहने और अर्घ्य हाथ में लिये हुए, बूढ़े बूढ़े मन्त्रियों के साथ, भरत मुझसे मिलने के लिए पैदल आ रहे हैं। गुरु वशिष्ठ तो उनके आगे हैं और सेना पीछे। भरत की मुझ पर अपूर्व भक्ति है। पिता ने राजलक्ष्मी को उनकी गोद में दे दिया। परन्तु भरत ने, युवा होकर भी, उसे हाथ न लगाया। मुझ में अत्यधिक श्रद्धा रखने के कारण उसे उन्होंने चौदह वर्ष तक वैसी ही अनभोगी रक्खा। पास पास रहने पर भी यदि युवक और युवती के मन में विकार न उत्पन्न हो तो वह असिधार-व्रत कहलाता है। तलवार की धार पर चलने के समान इस व्रत को साध ले जाना बड़ाही कठिन काम है। भरत ने इतने वर्ष तक लक्ष्मी को अनभोगी रख कर इसी महा-कठिन व्रत की साधना की है। अतएव उनके निर्म्मल चरित्र की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।"

रामचन्द्रजी के इतना कह चुकने पर विमान को उनके मन की बात विदित हो गई। वह जान गया कि अब वे उतरना चाहते हैं। विमान में एक प्रकार का देवतापन था। वह अपने अधिदेवता की प्रेरणा से, देवता ही की तरह सारे काम करता था। अतएव वह आकाश से उतर पड़ा। उस समय, भरत के पीछे पीछे आती हुई अयोध्या की प्रजा ने उसे बड़ी ही विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखा। ज़मीन से थोड़ी ही ऊँचाई पर आकर विमान ठहर गया। तब स्फटिक-मणि जड़े हुए डण्डोंवाली सीढ़ी उससे लटका दी गई। ज़मीन पर उसके टिक जाने पर, विभीषण ने, आगे बढ़ कर, कहा—"महाराज, इसी पर पैर रख कर उतर आइए।" सुग्रीव भी रामचन्द्र की सेवा में सदा ही दत्तचित्त रहते थे। उन्होंने अपने हाथ का सहारा दिया और रामचन्द्रजी उसे थाम कर तुरन्तही विमान से उतर पड़े।

रामचन्द्र विनीत तो बड़े ही थे। उतर कर पहले तो उन्होंने इक्ष्वाकु-वंश के गुरु, महर्षि वशिष्ठ को दण्डप्रणाम किया। तदनन्तर, भाई भरत का दिया हुआ अर्घ्य ग्रहण करके, आँखों से आँसू बहाते हुए, उन्होंने भरत को गले से लिपटा लिया। फिर, उन्होंने बड़े ही प्रेम से भरत का मस्तक सूँघा—वह मस्तक जिसने रामचन्द्रजी की भक्ति के वशीभूत होकर, पिता के दिये हुए राज्य के महाभिषेक का परित्याग कर दिया था। भरत के साथ उनके बूढ़े बूढ़े मन्त्री भी थे। चौदह वर्ष से हजामत न कराने के

कारण उनकी डाढ़ियों के वाल वेतरह वढ़ रहे थे। अतएव, उनके चेहरे कुछ के कुछ हो गये थे। वे वढ़ी हुई वरोहियों या जटाओं वाले वरगद के वृक्षों की तरह मालूम हो रहे थे। भरत और रामचन्द्र का मिलाप हो चुकने पर, मन्त्रियों ने वड़े ही भक्ति-भाव से रामचन्द्र को प्रणाम किया। रामचन्द्रजी ने प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि से उनकी तरफ़ देखा और मीठी वाणी से कुशल-समाचार पूछ कर उन पर अपना अनुग्रह प्रकट किया।

इसके वाद, रामचन्द्रजी ने सुग्रीव और विभीषण का परिचय भरत से कराया। वे वोले:—"भाई, ये रीछों और वन्दरों के राजा सुग्रीव हैं। इन्होंने विपत्ति में मेरा साथ दिया था। और, ये पुलस्त्यपुत्र विभीषण हैं। युद्ध में सवसे आगे इन्हीं का हाथ उठा था। पहला प्रहार सदा इन्होंने किया था।" रामचन्द्र के मुख से सुग्रीव और विभीषण की इतनी वड़ाई सुन कर, भरत ने लक्ष्मण को तो छोड़ दिया; इन्हीं दोनों को उन्होंने वड़े आदर से प्रणाम किया। तदनन्तर, वे सुमित्रा-नन्दन श्रीलक्ष्मण से मिले और उनके चरणों पर अपना सिर रख दिया। लक्ष्मण ने भरत को उठा कर वलपूर्व्वक अपने हृदय से लगा लिया। उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे मेघनाद के प्रहारों के घाव लगने के कारण कर्कश हुए अपने वक्षःस्थल से लक्ष्मणजी भरत की भुजाओं के वीचवाले भाग को पीड़ित सा कर रहे हैं।

रामचन्द्र की आज्ञा से, वन्दरों की सेना के स्वामी, मनुष्य का रूप धारण करके, वड़े वड़े हाथियों पर सवार हो गये। हाथी थे मतवाले। उनके शरीर से, कई जगह, मद की धारा झर रही थी। अतएव गजारोही सेनापतियों को झरने झरते हुए पहाड़ों पर चढ़ने का सा आनन्द आया।

निशाचरों के राजा विभीषण भी, दशरथ-नन्दन रामचन्द्र की आज्ञा से, अपने साथियों सहित रथों पर सवार हुए। रामचन्द्र के रथों को देख कर विभीषण को वड़ा आश्चर्य हुआ। विभीषण के रथ माया से रचे गये थे और रामचन्द्र के रथ कारीगरों के वनाये हुए थे। परन्तु रामचन्द्र के रथों की शोभा और सुन्दरता विभीषण के रथों से कहीं वढ़कर थी।

तदनन्तर, अपने छोटे भाई लक्ष्मण और भरत को साथ लेकर, रामचन्द्रजी लहराती हुई पताका से शोभित और आरोही की इच्छा के

चलने वाले पुष्पक-विमान पर फिर सवार हुए । उस समय वे चमकती हुई बिजलीवाले सायङ्कालीन बादल पर, बुध और बृहस्पति के योग से शोभायमान, चन्द्रमा के समान मालूम हुए ।

वहाँ, रथ पर, प्रलय से आदि-वराह की उद्धार की हुई पृथ्वी के समान, अथवा मेघों की घटा से शरत्काल की उद्धार की हुई चन्द्र की चन्द्रिका के समान—दशकण्ठ के कठोर संकट से रामचन्द्र की उद्धार की हुई धैर्य्यवती सीता की वन्दना भरत ने बड़े ही भक्ति-भाव से की । रावण की प्रणयपूर्ण विनती भङ्ग करने के व्रत की रक्षा में दृढ़ता दिखानेवाले जानकीजी के वन्दनीय चरणों पर, भरत ने, बड़े भाई का अनुकरण करने के कारण, बढ़ी हुई जटाओं वाला अपना मस्तक रख दिया । उस समय जानकीजी के पूजनीय पैरों को जोड़े और साधु-शिरोमणि भरत के जटाधारी शीश ने, परस्पर मिल कर, एक दूसरे की पवित्रता को और भी अधिक कर दिया ।

आगे आगे अयोध्या की प्रजा चली; उसके पीछे धीरे धीरे रामचन्द्रजी का विमान । आध कोस चलने पर अयोध्या का विस्तृत उद्यान मिला । उसमें शत्रुघ्न ने डेरे लगवा कर उन्हें खूब सजा रक्खा था । विमान से उतर कर वहीं रामचन्द्रजी ठहर गये ।

चौदहवाँ सर्ग।

—:o:—

सीता का परित्याग।

वहाँ, उस उद्यान में, रामचन्द्र और लक्ष्मण को, एकही स
अपनी अपनी माता के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि पति
मरने से उनकी दोनों मातायें, कौशल्या और सुमित्रा, आश्र
दाता वृक्ष के कट जाने से दो लताओं के समान बहुतही शोचनीय दशा क
प्राप्त हैं। वैरियों का विनाश करके लौटे हुए परम पराक्रमी राम-लक्ष्मण ने,
उनके पैरों पर अपने अपने सिर रख कर, क्रम क्रम से उन्हें प्रणाम किया।
चौदह वर्ष के बाद पुत्रों की पुनरपि प्राप्ति होने के कारण उनकी आँखों में
आँसू भर आये। अतएव वे राम-लक्ष्मण को अच्छी तरह न देख सकीं।
परन्तु पुत्र-स्पर्श से जो सुख होता है उसका उन्हें अनुभव था। इससे
स्पर्श-सुख होने पर, भूतपूर्व अनुभव द्वारा, उन्होंने अपने अपने पुत्र को
पहचान लिया। उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनकी आँखों से आनन्द के
शीतल आँसुओं की झड़ी लग गई। उस झड़ी ने उनके शोक के आँसुओं
को इस तरह तोड़ दिया जिस तरह कि हिमालय के गले हुए बर्फ़ की धारा,
धूप से तपे हुए गङ्गा और सरयू के जल के प्रवाह को तोड़ देती है। वे
अपने शोक को भूल गईं। पुत्र-दर्शन से उनका दुःख सुख में बदल गया।
वे अपने अपने पुत्र के शरीर पर धीरे धीरे हाथ फेरने, और, उस पर
राक्षसों के शस्त्रों के आघात से उत्पन्न हुए घावों के चिह्नों को इस तरह
दयार्द्र होकर छूने लगीं, मानों वे अभी हाल के लगे हुए टटके घाव हों।
क्षत्रिय-जाति की स्त्रियों की यह सदाही कामना रहती है कि वे वीरप्रसू
कहलावें—उनके पुत्र शूरवीर और योद्धा हों। परन्तु राम-लक्ष्मण के शरीर
पर शस्त्रों के चिह्न देख कर कौशल्या और सुमित्रा ने वीरप्रसू-पदवी की

आकाङ्क्षा न की। उन्होंने कहा—हम वीरजननी नहीं कहलाना चाहतीं। हमारे प्यारे पुत्रों को इस प्रकार शस्त्राघात की व्यथा न सहनी पड़ती तो अच्छा होता।

इतने में अपने स्वर्गवासी श्वसुर की दोनों रानियों, अर्थात् कौशल्या और सुमित्रा, को समान भक्ति-भाव से प्रणाम करते हुए सीता ने कहा:—"माँ! पति को दुःख देनेवाली, आपकी बहू, यह कुलक्षणी सीता आपकी वन्दना करती है।" यह सुन कर उन दोनों रानियों ने कहा:—"बेटी! उठ। यह तेरेही पवित्र आचरण का प्रभाव है जो इतना बड़ा दुःख झेल कर भाई सहित तेरा पति फिर हमें देखने को मिला।" इसमें सन्देह नहीं कि सीता जैसी सुलक्षणी और सब की प्यारी बहू के विषय में ऐसे ही प्यारे वचनों का प्रयोग उचित था। कौशल्या और सुमित्रा के ये वचन तो प्यारे होकर सच भी थे। अतएव, उनके प्रयोग के औचित्य का कहना ही क्या?

रघुकुल-केतु रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक का आरम्भ तो उनकी दोनों माताओं के आँसुओं से, पहले ही, हो चुका था। पूर्त्ति उसकी होने को थी। सो वह सोने के कलशों में तीर्थों से लाये गये जलों से बूढ़े बूढ़े मन्त्रियों के द्वारा हुई। राक्षसों और बन्दरों के नायक चारों तरफ़ दौड़ पड़े। समुद्रों, सरोवरों और नदियों से भर भर कर वे जल ले आये। वह जल—विन्ध्याचल के ऊपर मेघों के जल की तरह—विजयी रामचन्द्र के शीश पर डाला गया। यथाविधि उनका राज्याभिषेक हुआ। तपस्वी का वेश भी जिसका इतना दर्शनीय था उसके राजेन्द्र-रूप की शोभा बहुतही बढ़ जायगी, इसमें सन्देह करने को जगह ही कहाँ? वह तो पुनरुक्तदोषा, अर्थात् दुगुनी, हो गई। एक तो रामचन्द्र की स्वाभाविक शोभा, दूसरी राजसी-रूप-रचना की शोभा। फिर भला वह दुगुनी क्यों न हो जाय?

तदनन्तर मन्त्रियों, राक्षसों और बन्दरों को साथ लिये और तुरहियों के नाद से पुरवासियों के समूह को आनन्दित करते हुए रामचन्द्र ने, तोरणों और वन्दनवारों से सजी हुई, अपने पूर्व-पुरुषों की राजधानी में प्रवेश किया। प्रवेश के समय अयोध्या के ऊँचे ऊँचे मकानों से उन पर खीलों की बेहद वर्षा हुई। लोगों ने देखा कि रामचन्द्रजी रथ पर सवार

हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न, दोनों भाई, उन पर मन्द मन्द चमर कर रहे हैं।
भरत, पीछे, उन पर छत्र धारण किये हुए खड़े हैं। उस समय देखनेवालों
को वे अपने भाइयों सहित, साक्षात् साम, दान, दण्ड और भेद नामक
चारों उपायों के समुदाय की तरह मालूम हुए।

रामचन्द्रजी के प्रवेश-समय में, अयोध्या के महलों के ऊपर छाये हुए
कालागरु के धुवें की ध्वजा, वायु के झोंकों से टूट कर, इधर उधर फैल
गई। उसे देख कर ऐसा मालूम हुआ जैसे वन से लौट कर रामचन्द्रजी ने
अपनी पुरी की वेणी अपने हाथ से खोल दी हो। जब तक पति परदेश में
रहता है तब तक पतिव्रता स्त्रियाँ कंघी-चोटी नहीं करतीं; वे अपनी वेणी
तक नहीं खोलतीं। अपने स्वामी रामचन्द्र के वनवासी होने से अयोध्यापुरी
भी, पतिव्रता स्त्री की तरह, मानों अब तक वियोगिनी थी। इसी से रामचन्द्र
ने उसकी वेणी खोल कर उसके वियोगीपन का चिह्न दूर कर दिया।

जिस समय कर्णीरथ नाम के एक छोटे से सुसज्जित रथ पर सव
हुई सीताजी ने पुरी में प्रवेश किया उस समय अयोध्या की स्त्रियों ने
अपने अपने मकानों की खिड़कियों से, दोनों हाथ जोड़ जोड़ कर, उन
इस तरह खुल कर प्रणाम किया कि उनके हाथों की अँगुलियाँ बाहर वालों
को भी साफ़ दिखाई दीं। सीताजी का उस समय का वेश बड़ा ही सुन्दर
था। उनकी दोनों सासुओं ने, अपने हाथ से उनका शृंगार करके, उन्हें
अच्छे अच्छे कपड़े और गहने पहनाये थे। अनसूया का दिया हुआ उबटन
उनके बदन पर लगा हुआ था। वह कान्तिमान् उबटन कभी ख़राब होने-
वाला न था। उससे प्रभा का मण्डल निकल रहा था। सीताजी के चारों
ओर फैले हुए उस प्रभा-मण्डल को देख कर यह मालूम होता था मानों
रामचन्द्र ने उन्हें फिर आग के बीच में खड़ा करके अयोध्या को यह दिखाया
है कि सीताजी सर्वथा शुद्ध हैं। अतएव, उनको ग्रहण करके मैंने कोई
अनुचित काम नहीं किया।

रामचन्द्रजी मित्रों का सत्कार करना ख़ूब जानते थे। सौहार्द के तो
वे सागर ही थे। विभीषण, सुग्रीव और जाम्बुवान् आदि अपने मित्रों को,
अच्छे अच्छे सजे हुए मकानों में ठहरा कर, और, उनके आराम का उत्तम
प्रबन्ध करके वे पिता के पूजाघर में गये। वहाँ पिता के तो दर्शन उन्हें हुए

नहीं। उनकी पूजा की सामग्री और चित्रमात्र वहाँ उन्हें देख पड़ा। घर के भीतर घुसते ही रामचन्द्र की आँखों से आँसू टपक पड़े। सामने कैकेयी को देख कर उन्होंने बड़ेही विनीत-भाव से कहा:—"माता! सत्य पर स्थिर रहने का फल स्वर्ग की प्राप्ति है। ऐसे कल्याणकारी सत्य से जो पिता नहीं डिगे, यह तुम्हारे ही पुण्य का प्रताप है। बार बार सोचने पर भी मुझे, तुम्हारे पुण्य के सिवा इसका और कोई कारण नहीं देख पड़ता। तुम्हारीही कृपा से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई है।" रामचन्द्रजी के मुँह से यह सुन कर भरत की माता का सारा सङ्कोच दूर हो गया। अब तक कैकेयी अपनी करतूत पर लज्जित थी। पर रामचन्द्रजी के उदार वचन सुन कर उसकी सारी लज्जा जाती रही।

रामचन्द्र ने सुग्रीव और विभीषण आदि की सेवा-शुश्रूषा में ज़रा भी कसर न पड़ने दी। उन्होंने नाना प्रकार की कृत्रिम वस्तुओं से उनका खूबही सत्कार किया। उनके मन में भी जिस वस्तु की इच्छा उत्पन्न हुई वह तुरन्तही उन्हें प्राप्त हो गई। माँगने की उन्हें ज़रूरतही न पड़ी। उनके मन तक की बात ताड़ कर, रामचन्द्र के सेवकों ने, तत्कालही, उसकी पूर्त्ति कर दी। मुँह से किसी को कुछ कहने की उन्होंने नौबतही न आने दी। रामचन्द्रजी का ऐसा अच्छा प्रबन्ध और उनके नौकरों की इतनी दक्षता देख कर विभीषण आदि को बड़ाही आश्चर्य्य हुआ।

रामचन्द्रजी से मिलने और उनका अभिनन्दन करने के लिए अगस्त्य आदि कितनेही दिव्य ऋषि और मुनि भी अयोध्या आये। रामचन्द्र ने उन सबका अच्छा आदर सत्कार किया। उन्होंने रामचन्द्र के हाथ से मारे गये उनके शत्रु रावण का वृत्तान्त, जन्म से आरम्भ करके मृत्यु-पर्य्यन्त, रामचन्द्र को सुनाया। इस वृत्तान्त से रामचन्द्र के पराक्रम का और भी अधिक गौरव सूचित हुआ। रामचन्द्र की स्तुति और प्रशंसा करके वे लोग अपने अपने स्थान को लौट गये।

राक्षसों और बन्दरों के स्वामियों को अयोध्या आये पन्द्रह दिन हो गये। परन्तु उन्हें रामचन्द्र ने इतने सुख से रक्खा कि उन्हें मालूम ही न हुआ कि इतने दिन कैसे बीत गये। उनका एक एक दिन एक एक घंटे की तरह कट गया। उनको सब तरह सन्तुष्ट करके रामचन्द्र ने उन्हें घर

जाने की आज्ञा दी। उस समय सीताजी ने स्वयं अपने हाथ से बहुमूल्य भेंटें देकर उन्हें विदा किया।

जिस पुष्पक-विमान पर बैठ कर रामचन्द्रजी लङ्का से आये थे वह कुवेर का था। रावण उसे कुवेर से छीन लाया था। अतएव रावण के मारे जाने पर वह रामचन्द्र का हो गया था। अथवा यह कहना चाहिए कि रावण के प्राणों के साथ उसे भी रामचन्द्र ने ले लिया था। वह विमान क्या था आकाश का फूल था। आकाश में वह फूल के सदृश शोभा पाता था। रामचन्द्र ने उससे कहा—"जाव, तुम फिर कुवेर की सवारी का काम दो। जिस समय मैं तुम्हारी याद करूँ, आ जाना।"

इस प्रकार, अपने पिता की आज्ञा से चौदह वर्ष वनवास करने के अनन्तर, रामचन्द्रजी को अयोध्या का राज्य प्राप्त हुआ। राजा होने पर जिस तरह उन्होंने धर्म्म, अर्थ और काम के साथ, पक्षपात छोड़ कर, एक सा व्यवहार किया उसी तरह उन्होंने अपने तीनों छोटे भाइयों के साथ भी व्यवहार किया। सब को उन्होंने तुल्य समझा। अपने व्यवहार में उन्होंने ज़रा भी विषमता नहीं आने दी। माताओं के साथ भी उन्होंने एक ही सा व्यवहार किया। उसकी प्रीति सब पर समान होने के कारण किसी के भी आदर में उन्होंने न्यूनाधिकता नहीं होने दी। छः मुखों से दूध पी गई कृत्तिकाओं पर स्वामिकार्त्तिक के समान, तीनों माताओं पर रामचन्द्र ने एक सी वत्सलता प्रकट की।

रामचन्द्र ने अपनी प्रजा का पालन बहुत ही अच्छी तरह किया। लालच उनको छू तक न गया; इससे उनकी प्रजा धनाढ्य हो गई। विघ्नों से उत्पन्न हुए भय का नाश करने में उन्होंने सदा तत्परता दिखाई; इससे उनकी प्रजा धार्म्मिक हो गई—घर घर धर्म्मानुष्ठान होने लगे। नीति का अवलम्बन करके उन्होंने किसी को ज़रा भी सुमार्ग से न हटने दिया; इससे उनकी प्रजा उन्हें अपना पिता समझने लगी। प्रजा का दुख-दर्द दूर करके सबको उन्होंने सुखी कर दिया; इससे प्रजा उन्हें पुत्रवत् प्यार करने लगी। सारांश यह कि रामचन्द्र की प्रजा उन्हीं से धनवती, उन्हीं से क्रियावती, उन्हीं से पितृवती और उन्हीं से पुत्रवती हुई।

पुरवासियों का जो काम जिस समय करने को होता उसे रामचन्द्र

उसी समय कर डालते। समय को वे कभी व्यर्थ न खोते। राज्य के काम काज करके जो समय बचता उसे वे सीता के साथ, एकान्त में बैठ कर, व्यतीत करते। सीता के रूप-लावण्य आदि की प्रशंसा नहीं हो सकती। रामचन्द्रजी के समागम का सुख लूटने के लिए, सीता का सुन्दर रूप धारण करके, मानों स्वयं लक्ष्मी ही उनके पास आ गई थी। रामचन्द्रजी के महल उत्तमोत्तम चित्रों से सजे हुए थे। दण्डकारण्य के प्राकृतिक दृश्यों और मुख्य मुख्य स्थानों के भी चित्र वहाँ थे। उन चित्रों को देख कर सीता के साथ बैठे हुए रामचन्द्र को दण्डक-वन की दुःखदायक बातें भी याद आ जाती थीं। परन्तु उनसे उन्हें दुःख के बदले सुख ही होता था।

प्रजा के काम से छुट्टी पाने पर, रामचन्द्रजी, सीता के साथ, इच्छा-पूर्वक, इन्द्रियों के विषय भोग करने लगे। इस प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर सीता के मुख पर शर-नामक घास के रङ्ग का पीलापन दिखाई दिया। उनके नेत्र पहले से भी अधिक पानीदार, अतएव और भी सुन्दर, हो गये। सीता ने इन चिह्नों से, बिना मुँह से कहे ही, अपने गर्भवती होने की सूचना रामचन्द्र को कर दी। रामचन्द्र को सीता का हाल मालूम हो गया। अतएव उन्हें बड़ी ख़ुशी हुई। वह रूप, उस समय, उनको बहुत ही अच्छा मालूम हुआ। धीरे धीरे सीता का शरीर बहुत कृश हो गया। गर्भ-धारण के चिह्न और भी स्पष्ट दिखाई देने लगे। अतएव उन्हें राम-चन्द्रजी के सामने होने अथवा उनके पास बैठने में लज्जा मालूम होने लगी। परन्तु उनकी सलज्जता और गर्भ-स्थितिसूचक उनका शरीर देख कर राम-चन्द्र को प्रसन्नता होती थी।

एक दिन सीताजी को अपने पास बिठा कर रमणशील रामचन्द्रजी ने प्रेमपूर्वक उनसे पूछा :—

"प्रिये वैदेहि! तेरा मन, इस समय, किसी वस्तु-विशेष की इच्छा तो नहीं रखता? तुझे अपने मन का अभिलाष, सङ्कोच छोड़ कर, मुझ पर प्रकट करना चाहिए।"

इस पर सीताजी ने कहा :—

"भागीरथी के तीरवर्ती तपोवनों का फिर एक बार मैं दर्शन करना चाहती हूँ। मेरा जी चाहता है कि मैं फिर कुछ दिन वहाँ जाकर रहूँ।

आहा ! वे कैसे मनोहारी तपोवन हैं । कुश वहाँ बहुत होते हैं; उनसे उन तपोवनों की भूमि हरी दिखाई देती है । जङ्गल के हिंस्र पशु, मांस खाना छोड़ कर, मुनियों के बलि-वैश्वदेव-कार्य्य में उपयोग किये जाने वाले सांवा, कोदों और धान आदि जङ्गली धान्य, वहाँ, आनन्द से खाया करते हैं । वहाँ रहने वाले मुनियों की कितनी ही कन्यकाओं से मेरी मैत्री भी है । अतएव, मेरे मनोविनोद का बहुत कुछ सामान वहाँ है । इसीसे मेरा मन वहाँ जाने को ललचाता है ।"

रामचन्द्र ने कहा :—

"बहुत अच्छा । मैं तेरी इच्छा पूर्ण कर दूँगा ।"

सीता का मनोरथ सफल कर देने का वचन देकर रामचन्द्रजी, एक सेवक को साथ लिये हुए, अयोध्या का दृश्य देखने के इरादे से, अपने मेघस्पर्शी महल की छत पर चढ़ गये । उन्होंने देखा कि अयोध्या में सर्वत्र ही प्रसन्नता के चिह्न वर्त्तमान हैं । राज-मार्ग की दूकानों में लाखों रुपये का माल भरा हुआ है; सरयू में बड़ी बड़ी नावें चल रही हैं; नगर के समीपवर्त्ती उपवनों और बाग़ीचों में बैठे हुए विलासी पुरुष आनन्द कर रहे हैं ।

इस दृश्य को देख कर शेषनाग के समान लम्बी भुजाओं वाले और विश्व-विख्यात शत्रु का संहार करनेवाले, विशुद्ध-चरित, रामचन्द्रजी बहुत ही प्रसन्न हुए । मौज में आकर, उस समय, वे भद्र नामक अपने विश्वस्त सेवक से अयोध्या का हाल पूछने लगे । उन्होंने कहा :—

"भद्र ! कहो, क्या ख़बर है ? मेरे विषय में लोग क्या कहते हैं ? आज कल नगर में क्या चर्चा हो रही है ?"

इस प्रकार रामचन्द्र के आग्रहपूर्वक बार बार पूछने पर भद्र बोला:—

'हे नरदेव, अयोध्या के निवासी आपके सभी कामों की प्रशंसा करते हैं । वे आपके चरित को बहुत ही प्रशंसनीय समझते हैं । हाँ, एक बात को वे अच्छा नहीं कहते—राक्षस के घर में रही हुई रानी को ग्रहण कर लेना वे बुरा समझते हैं । बस, आपके इसी एक काम की निन्दा हो रही है ।"

यह सुन कर वैदेही-वल्लभ रामचन्द्रजी के हृदय पर कड़ी चोट लगी । पत्नी-सम्बन्धिनी इस निन्दा को उन्होंने अपने लिए बहुत बड़े अपयश का

कारण समझा। उससे उनका हृदय—लोहे के घोर घन के आघात से तपे हुए लोहे के समान—विदीर्ण हो गया। वे गहरे विचार में मग्न हो गये। वे सोचने लगे:—यह जो मुझ पर कलङ्क लगाया जाता है उसकी बात मैं सुनी अनसुनी करदूँ या निर्दोष पत्नी को छोड़ दूँ? क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता? कुछ देर तक, इन दोनों बातों में से एक का भी निश्चय उनसे न हो सका। उनका चित्त झूले की तरह चलायमान होकर कभी एक की तरफ़ चला गया कभी दूसरी की तरफ़। अन्त में उन्होंने स्थिर किया कि यह कलङ्क और किसी तरह नहीं मिट सकता। इसे दूर करने के लिए पत्नी-त्याग के सिवा और कोई इलाज ही नहीं। अतएव उन्होंने सीता का परित्याग कर देना ही निश्चित किया। सच तो यह है कि जो लोग यश को ही सब धनों से श्रेष्ठ समझते हैं उन्हें अपने शरीर से भी यश अधिक प्यारा होता है। धन-सम्पत्ति, भोग-विलास और स्त्री-पुत्र आदि से भी वह अधिक प्यारा होगा, इसके कहने की तो आवश्यकता ही नहीं।

रामचन्द्र पर इस घटना का बहुत बुरा असर हुआ। उनका तेज क्षीण हो गया। उनके चेहरे पर उदासीनता छा गई। उन्होंने अपने तीनों भाइयों को बुला भेजा। वे आये तो उन्होंने रामचन्द्रजी की बुरी दशा देखी। अतएव वे घबरा गये। उनसे रामचन्द्र ने अपनी निन्दा का वृत्तान्त वर्णन करके कहा:—

"भाई! जिस वंश के हम लोग अंकुर हैं वह सूर्य्य से उत्पन्न हुए राजर्षियों का वंश है। उसी पर इस कलङ्क का आरोप हुआ है। यह तो तुमसे छिपा ही नहीं कि मेरा आचरण सर्वथा शुद्ध है। तथापि मुँह की भीगी हुई वायु के कारण उत्पन्न हुए स्वच्छ दर्पण के धब्बे की तरह—मेरे कारण इस उज्ज्वल वंश पर कलङ्क का यह टीका लग रहा है। पानी की लहरों में तेल की बूँद की तरह, यह पुरवासियों में फैलता ही चला जा रहा है। आज तक, इस वंश पर, इस तरह का कलङ्क कभी न लगा था। यह पहला ही मौक़ा है। अतएव, हाथी जैसे अपने बन्धनस्तम्भ को नहीं सह सकता वैसे ही मैं भी इसे नहीं सह सकता। मुझे यह अत्यन्त असह्य है। इसे मेटने के लिए—इससे बचने के लिए—मैं जनकसुता को उसी तरह त्याग दूँगा जिस तरह कि पिता की आज्ञा से, आगे, मैंने पृथ्वी त्याग दी

थी। जानकी में यद्यपि शीघ्रही फलोत्पत्ति होने वाली है—यद्यपि उनका प्रसूति-काल समीप आ गया है—तथापि मैं इस बात की भी कुछ परवा न करूँगा। मैं जानता हूँ कि जानकी सर्वथा निर्दोष है। अतएव, पुरवासी उसके विषय में जो सन्देह करते हैं वह सच नहीं। परन्तु मेरे मत में लोकापवाद बहुत प्रबल वस्तु है; उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। देखो न, चन्द्रमा में कलङ्क का नाम नहीं। वह सर्वथा शुद्ध और निर्मल है। परन्तु उस पर पृथ्वी की जो छाया पड़ती है उसी को लोगों ने कलङ्क मान रक्खा है। तुम शायद यह कहो कि जानकी को जो घर से निकालना ही था तो रावण पर चढ़ाई करके उसे मारने का परिश्रम व्यर्थ ही क्यों मैंने उठाया। परन्तु, रावण को मारने में मुझे जो प्रयास पड़ा उसे मैं व्यर्थ नहीं समझता। उससे वैर का बदला लेना मेरा कर्तव्य था। और, इस तरह का बदला किसी लाभ की आशा से थोड़े ही लिया जाता है। पैर से दबा देने वाले को साँप, क्रोध में आकर, जो काट खाता है वह क्या उसका लोहू पीने की आकांक्षा से थोड़े ही काटता है। साँप कभी रुधिर नहीं पीता। वह तो केवल बदला लेने ही के लिए काटता है। अतएव, तिर्य्यक्-योनि में उत्पन्न साँप तक जब अपने वैरी से वैर का बदला लेता है तब मैं क्यों न लूँ? इसमें सन्देह नहीं कि मेरा निश्चय सुन कर तुमको जानकी पर दया आवेगी—तुम्हारा हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठेगा। परन्तु, यदि तुम चाहते हो कि इस कलङ्करूपी पैने बाण से छिदे हुए अपने प्राण मैं कुछ दिन तक और धारण किये रहूँ तो तुम्हें जानकी का परित्याग करने से मुझे न रोकना चाहिए।"

रामचन्द्र को जानकीजी के साथ ऐसा क्रूर और कठोर व्यवहार करने का ठान ठाने देख, उनके तीनों भाई—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—सहसा सहम गये। उनमें से किसी के भी मुँह से 'हाँ' या 'नहीं' न निकला। न उन्होंने वैसा व्यवहार करने से रामचन्द्र को मना ही किया और न उनकी इच्छा के अनुकूल सलाह ही दी। सन्नाटे में आकर सब चुपचाप बैठे रह गये।

यह दशा देख कर सदा सत्यवादी और तीनों लोकों में विख्यात-कीर्ति रामचन्द्र ने अपने परम आज्ञाकारी भाई लक्ष्मण की तरफ़ देखा और उन्हें अलग एकान्त में ले गये। वहाँ उनसे वे बोले:—

"हे सौम्य ! तुम्हारी भौजाई मुनियों के तपोवनों में जाना चाहती है। गर्भवती होने के कारण, उसके मन में, वहाँ जाने की इच्छा, आपही आप, उत्पन्न हुई है। और, उसे यहाँ से हटा देना मैं चाहता भी हूँ। अतएव, इसी बहाने, रथ पर सवार होकर तुम उसे वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आओ। इससे उसकी इच्छा भी पूर्ण हो जायगी और मेरा अभीष्ट भी सिद्ध हो जायगा।"

पिता की आज्ञा से परशुराम ने अपनी माता के साथ शत्रुवत् व्यवहार करके उसका सिर काट लिया था—यह बात लक्ष्मण अच्छी तरह जानते थे। अतएव, उन्होंने अपने बड़े भाई की आज्ञा मान ली। बात यह है कि बड़ों की आज्ञा का पालन, बिना किसी सोच-विचार के, करना ही चाहिए। वे जो कहें, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, उसे चुपचाप कर डालना ही मनुष्य का धर्म है।

लक्ष्मण ने जानकीजी से जाकर कहा कि बड़े भाई ने तुम्हें तपोवन को ले जाने की आज्ञा दी है। वे तो यह चाहती ही थीं। अतएव, बहुत प्रसन्न हुईं। सुमन्त ने ज़रा भी न भड़कनेवाले घोड़े रथ में जोत दिये। उसने मन में कहा—सधे हुए ही घोड़े जोतने चाहिए; चञ्चल घोड़े जोतने से, सम्भव है, जानकीजी को कष्ट हो। रथ तैयार होने पर, सुमन्त ने घोड़ों की रास हाथ में ली और लक्ष्मण ने जानकीजी को उस पर बिठा कर अयोध्या से प्रस्थान कर दिया। बड़े ही अच्छे मार्ग से सुमन्त ने रथ हाँका। मनोहारी दृश्यों और स्थानों को देखती हुई जानकीजी चलीं। मन में यह सोच कर वे बहुत प्रसन्न हुईं कि मेरा पति मेरा इतना प्यार करता है कि मेरी इच्छा होते ही उन्होंने मुझे तपोवन का फिर दर्शन करने के लिए भेज दिया। हाय ! उन्हें यह ख़बर ही न थी कि उनके पति ने उनके विषय में कल्पवृक्ष के स्वभाव को छोड़ कर असिपत्रवृक्ष के स्वभाव को ग्रहण किया है ! रामचन्द्रजी अब तक तो जानकी के लिए कल्पवृक्ष अवश्य थे; परन्तु अब वे नरक के असिपत्र नामक उस पेड़ के सदृश हो गये थे जिसके पत्ते तलवार की धार के सदृश काट करते हैं।

रास्ते में भी लक्ष्मण ने सीताजी से असल बात न बताई। परन्तु जिस दुःसह भावी दुःख को उन्होंने छिपा रक्खा उसे सीताजी की दाहनी

आँख ने फड़क कर बता ही दिया । सीताजी की आँखों के लिए रामचन्द्र का दर्शन बहुत ही प्यारा था । उन्हें देख कर उनकी आँखों को परमानन्द होता था । उस आनन्द से वे, और उनके द्वारा स्वयं सीताजी, चिरकाल के लिए वञ्चित होनेवाली थीं । इसी से उनकी दाहनी आँख से न रहा गया । फड़क कर उसने उस भावी दुःख की सूचना कर ही दी । इस बुरे शकुन ने सीताजी को विकल कर दिया । उनका मुखारविन्द कुम्हला गया । उस पर बेतरह उदासीनता छा गई । मुँह से तो उन्होंने कुछ न कहा। पर अन्तःकरण से वे परमेश्वर की प्रार्थना करने लगीं । उन्होंने मन ही मन कहा:—"भाइयों सहित राजा का भगवान् कल्याण करे !"

मार्ग में आगे बहती हुई गङ्गाजी मिलीं । बड़े भाई की आज्ञा से, वन में छोड़ आने के लिए, उनकी पतिव्रता और सुशीला पत्नी को, ले जाते देख, गङ्गा ने अपने तरङ्गरूपी हाथ उठा कर लक्ष्मण से मानों यह कहा कि ख़बरदार, ऐसा काम न करना ! इन्हें छोड़ना मत ! गङ्गा के किनारे सुमन्त ने रथ खड़ा कर दिया और लक्ष्मण ने रथ से उतर कर अपनी भावज को भी उतार लिया । तब तक उस घाट का मल्लाह एक सुन्दर नाव ले आया । सत्यप्रतिज्ञ लक्ष्मण उसी पर सीताजी को चढ़ा कर गङ्गा के पार उतर गये । पार क्या उतर गये, मानों बड़े भाई की आज्ञा से, सीताजी को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आने के लिए उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसके वे पार हो गये; उन्होंने उसकी पूर्त्ति सी कर दी ।

गङ्गा के उस पार पहुँचने पर जब रामचन्द्र की आज्ञा सुनाने का कठिन प्रसङ्ग उपस्थित हुआ तब लक्ष्मण की आँखें डब डबा आईं । उनका कण्ठ रुँध गया । कुछ देर तक उनके मुँह से शब्द ही न निकला । ख़ैर, हृदय को कड़ा करके, किसी तरह, उन्होंने, उत्पात मचानेवाले मेघ से पत्थरों की वृष्टि के समान, अपने मुँह से राजा की वह दारुण आज्ञा उगल दी। उसे सुनते ही तिरस्काररूपी तीव्र लू की मारी सीताजी, लता की तरह, अपनी जन्मदात्री धरणी पर धड़ाम से गिर गईं और उनके आभरणरूपी फूल उनके शरीर से टपक पड़े । विपत्ति में स्त्रियों को माता ही याद आती है । चाहे वह उनका दुःख दूर कर सके चाहे न कर सके, सहारा उसका ही स्त्रियों को लेना पड़ता है । हाय ! माता धरणी ने

सीता का दुःख दूर न किया। वह फटती तो उसके भीतर सीताजी प्रवेश कर जातीं। पर वह न फटी। उसे अपनी सुता के परित्याग में सन्देह सा हो आया। उसने अपने मन में मानों कहा:—"तेरे पति का आचरण बहुतही शुद्ध है; वह बड़ा ही साधुचरित है। वह महाकुलीन भी है, क्योंकि इक्ष्वाकु के वंश में उसने जन्म पाया है। फिर भला, इस तरह, अकस्मात् बिना किसी कारण के, वह तुझे कैसे छोड़ सकता है! मुझे इस आज्ञा पर विश्वास नहीं। इससे मैं तुझे अपने भीतर नहीं बिठा सकती।"

जब तक जानकीजी मूर्च्छित पड़ी रहीं तब तक उन्हें दुःख से छुटकारा रहा। ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने से दुःख का भी उन्हें ज्ञान न हुआ। लक्ष्मणजी ने उनके मुख पर पानी छिड़क कर और पंखा झल कर उन्हें जब फिर सचेत किया तब उनका हृदय दुःखाग्नि से बेतरह जल उठा। सचेत होना उन्हें मूर्च्छित होने से भी अधिक दुःखदायक हुआ। आहा! जानकीजी की सुशीलता का वर्णन नहीं हो सकता। यद्यपि उनके पति ने उन्हें, निरपराध होने पर भी, घर से निकाल दिया, तथापि, उनके मुँह से, पति के विषय में, एक भी दुर्वचन न निकला। उन्होंने बार बार अपने ही को धिक्कारा; बार बार अपनीही निन्दा की; बार बार जन्म के दुखिया अपने ही जीवन का तिरस्कार किया।

लक्ष्मण ने महासती सीताजी को बहुत कुछ आसा-भरोसा देकर और बहुत कुछ समझा बुझा कर वाल्मीकि मुनि के आश्रम का रास्ता बता दिया और वहीं जाकर रहने की सलाह दी। फिर उन्होंने सीताजी के पैरों पर गिर कर उनसे प्रार्थना की:—

"हे देवी! मैं पराधीन हूँ। पराधीनता ही ने मुझसे ऐसा क्रूर कर्म्म कराया है। स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो ऐसा कठोर व्यवहार किया है उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। मैं, अत्यन्त नम्र होकर, आपसे क्षमा की भिक्षा माँगता हूँ।"

सीताजी ने लक्ष्मण को झट पट उठा कर उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया:—

"हे सौम्य! तुम बड़े सुशील हो। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम चिरञ्जीव हो! तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं। तुम तो अपने जेठे भाई के

उसी तरह अधीन हो जिस तरह कि विष्णु इन्द्र के अधीन हैं। और, स्वामी की आज्ञा का पालन करना अधीन का कर्त्तव्य ही है।

"मेरी सब सासुओं से मेरा यथाक्रम प्रणाम कहना और कहना कि मेरी कोख में तुम्हारे पुत्र का गर्भ है। हृदय से तुम उसकी कुशल-कामना करो; आशीष दो कि उसका मङ्गल हो।

"और, उस राजा से मेरी तरफ़ से कहना कि मैंने तो तुम्हारी आँख के सामने ही आग में कूद कर अपनी विशुद्धता साबित कर दी थी। फिर भी जो तुमने पुरवासियों की की हुई अलीक चर्चा सुन कर ही मुझे छोड़ दिया, वह क्या तुमने अपने कुल के अनुरूप काम किया अथवा शास्त्र के अनुरूप? रघु के उज्ज्वल वंश में जन्म ले कर और सारे शास्त्रों का मर्म्म जान कर भी क्या तुम्हें मेरे साथ ऐसा ही व्यवहार करना उचित था! अथवा तुम्हें मैं क्यों दोष दूँ। तुम तो सदा ही दूसरों का कल्याण चाहते हो; कभी भी किसी का जी नहीं दुखाते। अतएव, मैं यह नहीं कह सकती कि तुमने अपने ही मन से मेरा परित्याग किया है। यह परित्याग मेरे ही जन्म-जन्मान्तरों के पापों का फल है। उसमें तुम्हारा क्या अपराध? जान पड़ता है, यह करतूत तुम्हारी राज-लक्ष्मी की है। वह तुम्हें प्राप्त होती थी। परन्तु उसका तो तुमने तिरस्कार किया और मेरा आदर। उसे तो तुमने छोड़ दिया और मुझे अपने साथ लेकर वन को चले गये। इसीसे जब मैं तुम्हारे घर में आदर-पूर्व्वक रहने लगी तब, मत्सर के कारण, उससे मेरा रहना न सहा गया। क्रुद्ध हुई उसी राज-लक्ष्मी की प्रेरणा का यह परिणाम मालूम होता है। हाय! मेरे वे दिन कहाँ गये जब मैं राक्षसों से सताये गये सैकड़ों तपस्वियों की पत्नियों को, तुम्हारी बदौलत, शरण देती थी। पर, अब, मुझे ही औरों की शरण जाना पड़ेगा! तुम्हारे जीते, यह मुझसे कैसे हो सकेगा? तुम्हारे वियोग में मेरे ये पापी प्राण बिलकुल ही निकम्मे हैं। बिना तुम्हारे मैं अपने जीवन को व्यर्थ समझती हूँ। वह मेरे किसी काम का नहीं। यदि तुम्हारा तेज मेरी कोख में न विद्यमान होता तो मैं अपने तुच्छ जीवन का एक पल में नाश कर देती। परन्तु तुमसे जो गर्भ मुझ में रह गया है वह मेरी इस इच्छा की सफलता में विघ्न डाल रहा है। यदि मैं आत्महत्या कर लूँ तो उसका भी नाश हो जायगा। और, यह मैं नहीं चाहती। गर्भ की रक्षा करना ही

मैं अपना धर्म समझती हूँ। इसीसे मुझे मरने से वञ्चित रहना पड़ता है। अच्छा, कुछ हर्ज नहीं। शिशु-जन्म के बाद, सूर्य्य की तरफ़ एकटक देखती हुई, मैं ऐसी तपस्या करूँगी जिससे जन्मान्तर में भी तुम्हीं मेरे पति हो; और, फिर, तुमसे कभी मेरा वियोग न हो। तुम से मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि मनु ने वर्णाश्रमों का पालन करना ही राजा का सबसे बड़ा धर्म्म बतलाया है। यह तुम अवश्य ही जानते होगे। अतएव, यद्यपि, तुमने मुझे अपने घर से निकाल दिया है, तथापि, फिर भी, मैं तुम्हारी दया का पात्र हूँ। इस दशा को प्राप्त होने पर मुझे तुम पत्नी समझ कर नहीं, किन्तु एक साधारण तपस्विनी समझ कर ही मुझ पर कृपा करना। प्रजा की देख-भाल रखना और उसकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है ही। अतएव, तुम्हारे राज्य में रहनेवाली मुझ तपस्विनी को भी अपनी प्रजा समझ कर ही मुझ पर कृपादृष्टि रखना। पत्नी की हैसियत से न सही, प्रजा की हैसियत से ही मुझ पर अपना स्वामित्व बना रहने देना। मुझसे बिलकुल ही नाता न तोड़ देना।"

लक्ष्मण ने कहा:—"देवी! मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा। माताओं और बड़े भाई से आपका सन्देश मैं यथावत् कह दूँगा।"

यह कह कर लक्ष्मणजी बिदा हो गये। जब तक वे आँखों की ओट नहीं हुए तब तक सीताजी उन्हें टकटकी लगाये बराबर देखती रहीं। दृष्टि के बाहर लक्ष्मण के निकल जाने पर सीताजी दुःखातिरेक से व्याकुल हो उठीं और कण्ठ खोल कर, डरी हुई कुररी की तरह, चिल्ला चिल्ला कर रोने लगीं। उनका रोना और बिलखना सुन कर वन में भी सर्वत्र रोना-धोना शुरू हो गया। पशु और पक्षी तक सीताजी के दुःख से दुःखी होकर विकल हो गये। मोरों ने नाच छोड़ दिया; पेड़ों ने डालियों से फूल फेंक दिये; हरिणियों ने मुँह में लिये हुए भी कुश के ग्रास उगल दिये। चारों ओर हा-हाकार मच गया।

व्याध के बाण से छिदे हुए क्रौञ्च नाम के पक्षी को देख कर जिनके हृदय का शोक, श्लोक के रूप में, बाहर निकल आया था वे—अर्थात् आदि-कवि वाल्मीकिजी—इस समय, कुश और ईंधन लेने के लिए, वन में विचर रहे थे। अकस्मात् उन्हें रोने की आवाज़ सुनाई दी। अतएव, उसका पता

लगाने के लिए, जिधर से वह आ रही थी उधर ही को वे चल दिये और कुछ देर में सीताजी के सामने जाकर उपस्थित हुए। उन्हें देख कर सीताजी ने विलाप करना बन्द कर दिया और आँखों का अवरोध करने वाले आँसू पोंछ कर मुनिवर को प्रणाम किया। वाल्मीकि ने चिह्नों से जान लिया कि सीताजी गर्भवती हैं। अतएव, उन्होंने—"तेरे सुपुत्र हो"—यह कह कर आशीर्वाद दिया। फिर वे बोले:—

"मैंने ध्यान से जान लिया है कि झूठे लोकापवाद से कुपित होकर तेरे पति ने तुझे छोड़ दिया है। वैदेहि! तू सोच मत कर। तू ऐसा समझ कि तू अपने पिता ही के घर आई है। मेरा आश्रम दूसरी जगह है तो क्या हुआ; वह तेरे पिता ही के घर के सदृश है। यद्यपि, भरत के बड़े भाई ने तीनों लोकों के कण्टकरूपी रावण को मारा है; यद्यपि वह की हुई प्रतिज्ञा से चावल भर भी नहीं हटता—उसे पूरी करके ही छोड़ता है; और, यद्यपि अपने मुँह से वह कभी घमण्ड की बात नहीं निकालता—कभी अपने मुँह अपनी बड़ाई नहीं करता—तथापि यह मैं निःसन्देह कह सकता हूँ कि उसने तुझ पर अन्याय किया है। अतएव, मैं उस पर अवश्य ही अप्रसन्न हूँ। तेरे यशस्वी ससुर से मेरी मित्रता थी। तेरा तत्त्व-ज्ञानी पिता, सदुपदेश-द्वारा, पण्डितों के भी सांसारिक आवागमन का मिटाने वाला है। और, स्वयं तू पतिव्रता स्त्रियों की शिरोमणि है। अतएव, सब तरह तू मेरी कृपा का पात्र है। तेरे ससुर में, तेरे पिता में, और स्वयं तुझ में, एक भी बात ऐसी नहीं जिसके कारण मुझे, तुझ पर दया दिखाने में, सङ्कोच हो सके। तू मेरी सर्वथा दयनीय है। अतएव, तू मेरे तपोवन में आनन्द से रह। तपस्वियों के सत्सङ्ग से वहाँ के हिंसक पशुओं तक ने सुशीलता सीख ली है। वे भी हिल गये हैं। उन तक से तुझे कोई कष्ट न पहुँचेगा। तू निडर होकर वहाँ रह सकती है। विना किसी विघ्न बाधा के, सुखपूर्व्वक प्रसूति होने के अनन्तर, तेरी सन्तान के जातकर्म्म आदि सारे संस्कार, विधिवत्, किये जायँगे। उनमें ज़रा भी त्रुटि न होने पावेगी। पुण्यतोया तमसा नदी मेरे आश्रम के पास ही बहती है। उसमें स्नान करने से मनुष्य के सारे पाप छूट जाते हैं। इसीसे, कुटियाँ निम्माण करके, उसके किनारे किनारे, कितने ही ऋषि-मुनि रहते हैं। तू भी उसमें नित्य स्नान करके,

उसके वालुका-पूर्ण तट पर, देवताओं की पूजा-अर्चा किया करना। इससे तुझे बहुत कुछ शान्ति मिलेगी और तेरे चित्त की उदासीनता जाती रहेगी। तुझे वहाँ अकेली न रहना पड़ेगा। आश्रमों में अनेक मुनि-कन्यायें भी हैं। वे तेरा मनोविनोद किया करेंगी। जिस ऋतु में जो फल-फूल होते हैं उन्हें वे वन से लाया करती हैं। बिना जोते बोये उत्पन्न होने वाले अन्न भी वे पूजा के लिए लाती हैं। वे सब बड़ी ही मधुरभाषिणी और शीलवती हैं। उनके साथ रहने और उनसे बात-चीत करने से तुझे अवश्य ही शान्ति मिलेगी। मीठी मीठी बातें करके, तुझ पर पड़े हुए इस नये दुःख को वे बहुत कुछ कम कर देंगी। तेरा जी चाहे तो अपनी शक्ति के अनुसार तू आश्रम के छोटे छोटे पौधों को घड़ों से पानी दिया करना। इससे पुत्रोत्पत्ति के पहले ही तुझे यह मालूम हो जायगा कि सन्तान पर माता की कितनी ममता होती है। मेरी बातों को तू सच समझ। उनमें तुझे ज़रा भी सन्देह न करना चाहिए।"

दयार्द्रहृदय वाल्मीकि के इन आश्वासनपूर्ण वचनों को सुन कर सीताजी ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की। मुनिवर के इस दयालुतादर्शक बरताव की उन्होंने बड़ी बड़ाई की और उन्हें बहुत धन्यवाद दिया। सायङ्काल वाल्मीकिजी उन्हें अपने आश्रम में ले आये। उस समय कितने ही हरिण, आश्रम की वेदी को चारों ओर से घेरे, बैठे हुए थे और जंगली पशु, वहाँ, शान्तभाव से आनन्दपूर्वक घूम रहे थे। आश्रम के प्रभाव से हिंसक जीव भी, अपनी हिंसक-वृत्ति छोड़ कर, एक दूसरे के साथ वहाँ मित्रवत् व्यवहार करते थे।

जिस समय सीताजी आश्रम में पहुँचीं उस समय वहाँ की तपस्विनी स्त्रियाँ बहुत ही प्रसन्न हुईं। अमावास्या का दिन जिस तरह, पितरों के द्वारा सारा सार खींच लिये गये चन्द्रमा की अन्तिम कला को, ओषधियों को सौंप देता है उसी तरह वाल्मीकिजी ने उस दीन-दुखिया और शोक-विह्वला सीता को उन तपस्विनियों के सुपुर्द कर दिया।

तपस्वियों की पत्नियों ने सीताजी को बड़े आदर-सत्कार से लिया। उन्होंने पूजा के उपरान्त, कुछ रात बीतने पर, उन्हें रहने के लिए एक पर्णशाला दी। उसमें उन्होंने इंगुदी के तेल का एक दीपक जला दिया और

सोने के लिए एक पवित्र मृगचर्म्म बिछा दिया। तब से सीताजी वहीं रहने और अन्यान्य तपस्विनी स्त्रियों के सदृश काम करने लगीं। नित्य, प्रातःकाल, पवित्र-सलिला तमसा में स्नान करके, आश्रम में आये हुए अतिथियों का वे विधिपूर्व्वक सत्कार करने लगीं। पेड़ों की छाल के ही वस्त्र धारण करके और जङ्गली कन्द-मूल तथा फल-फूल खाकर ही किसी तरह उन्होंने, अपने पति के वंश की रक्षा करने के लिए, अपने शरीर को जीवित रखने का निश्चय किया।

उधर मेघनाद का मर्दन करने वाले लक्ष्मणजी अयोध्या लौट गये। उन्होंने मन में कहा, भगवान् करे रामचन्द्रजी को अपने कृत्य पर अब भी पछतावा आवे। यह सोच कर वे बहुत ही उत्सुक हो उठे और बड़े भाई की आज्ञा पूर्ण करने का सारा वृत्तान्त, सीताजी के रोने-धोने और विलाप करने तक, उन्होंने उनको एक एक करके कह सुनाया। उसे सुन कर रामचन्द्रजी को महा दुःख हुआ। ओस बरसाने वाले पूस के चन्द्रमा के समान वे अश्रुपूर्ण हो गये। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। बात यह थी कि रामचन्द्रजी ने मन से सीताजी को घर से न निकाला था; किन्तु लोकापवाद के डर से उन्होंने ऐसा किया था। बुद्धिमान् और समझदार होने के कारण किसी तरह उन्होंने अपने शोक को, बिना किसी के समझाये बुझाये, आप ही अपने क़ाबू में कर लिया। स्वस्थ होने पर, सजग होकर वे फिर वर्णाश्रम की रक्षा करने और रजोगुण को अपने मन से दूर करके राज्य के शासन में चित्त देने लगे। परन्तु उस उतने बड़े और समृद्धिशाली राज्य का उपभोग उन्होंने अकेले ही न किया। भाइयों का भी उसमें हिस्सा समझ कर उन्होंने उन्हें भी, अपने ही सदृश, उसका उपभोग करने दिया।

राज-लक्ष्मी की अब बन आई। अपनी अकेली एक, सो भी महापतिव्रता, पत्नी को, लोकापवाद के डर से, छोड़ देने वाले राजा रामचन्द्र के हृदय में वह अत्यन्त सुख से रहने लगी। रामचन्द्र ने सीता को क्या निकाला, मानों लक्ष्मी को बिना सौत का कर दिया। फिर भला क्यों न वह बड़े सुख से रहे और क्यों न उसकी दीप्ति की नित नई बढ़ती हो।

सीता का परित्याग करके रावण के वैरी रामचन्द्र ने दूसरा विवाह न

किया। यज्ञों के अनुष्ठान के समय जब जब पत्नी की उपस्थिति की आवश्यकता हुई तब तब उन्होंने सीता की ही मूर्त्ति अपने पास रख कर सारी धार्म्मिक क्रियायें निपटाईं। सीताजी पर यह उनकी कृपा ही समझनी चाहिए। क्योंकि, यह बात जब सीताजी के कान तक पहुँची तब उनका शोक कुछ कम हो गया और अपने दुःसह परित्याग-दुःख को उन्होंने किसी तरह सह लिया। यदि रामचन्द्रजी उनपर इतनी भी दया न दिखाते तो दुःखाधिक्य से दबी हुई सीता की न मालूम क्या दशा होती!

पन्द्रहवाँ सर्ग।

—:०:—

रामचन्द्र का स्वर्गारोहण।

समुद्र ने पृथ्वी को चारों तरफ़ से घेर रक्खा है। इस कारण वह पृथ्वी की मेखला के समान मालूम होता है। सीता का परित्याग कर चुकने पर, पृथ्वीपति रामचन्द्र के पास, समुद्ररूपी मेखला धारण करने वाली अकेली पृथ्वी ही, भोग करने के लिए, रह गई। अतएव एकमात्र उसी का उन्होंने उपभोग किया।

इतने में लवण नामक एक राक्षस बड़ी उद्दण्डता करने लगा। अपने अत्याचार और अन्याय से उसने यमुना के तट पर रहनेवाले तपस्वियों का नाकों दम कर दिया। यहाँ तक कि उनके यज्ञ तक उसने बन्द कर दिये। अतएव, बहुत पीड़ित होने पर, वे तपस्वी सब को शरण देनेवाले रामचन्द्रजी की शरण गये। यदि वे चाहते तो अपने तपोबल से लवण को एक पल में जला कर भस्म कर देते। परन्तु उन्होंने ऐसा करना मुनासिब न समझा। तपस्या के तेज का उपयोग तभी किया जाता है जब अत्याचारियों को दण्ड देकर तपस्वियों की रक्षा करने वाला और कोई विद्यमान न हो। तपस्वी अपने तपोबल का व्यर्थ ख़र्च नहीं करते। ऐसे ऐसे कामों में तपस्या का उपयोग करने से वह क्षीण हो जाती है।

रामचन्द्रजी ने मुनियों से कहा:—"आपकी आज्ञा मुझे मान्य है। लवणासुर को मार कर मैं आपकी विघ्न-बाधायें दूर कर दूँगा।"

धर्म्म की रक्षाही के लिए धनुषधारी विष्णु पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इससे रामचन्द्रजी ने यमुना-तट-वासी तपस्वियों से जो प्रतिज्ञा की वह सर्वथा उचित हुई। उनका तो यह कामही था।

मुनियों ने रामचन्द्रजी की कृपा का अभिनन्दन करके अपनी कृतज्ञता

प्रकट की। उन्होंने उस देवद्रोही दैत्य के मारने का उपाय भी रामचन्द्रजी से बताया। वे बोले:—"महाराज, जब उसके पास उसका त्रिशूल न हो तभी उस पर आक्रमण करना। क्योंकि, जब तक उसके हाथ में त्रिशूल है तब तक कोई उसे नहीं जीत सकता।"

रामचन्द्रजी ने मुनियों की रक्षा का काम शत्रुघ्न को सौंपा। शत्रुघ्न का अर्थ है—शत्रुओं का संहार करने वाला। अतएव शत्रुघ्न का नाम यथार्थ करनेही के लिए मानों रामचन्द्रजी ने उन्हें लवणासुर को मारने की आज्ञा दी। शत्रुओं को सन्ताप पहुँचाने में रघुवंशी एक से एक बढ़ कर होते हैं। जिस तरह अपवादात्मक नियम सर्व-साधारण नियम को धर दबाता है उसी तरह रघुवंशियों में, कोई भी क्यों न हो, वह अपने शत्रु का प्रताप शमन करने की शक्ति रखता है।

रामचन्द्रजी ने शत्रुघ्न को आशीष देकर विदा किया। वे झट रथ पर सवार हुए और सुगन्धित फूल खिले हुए वनों का दृश्य देखते हुए चले। शत्रुघ्न वीर भी बड़े थे और निडर भी बड़े थे। उनके लिए सेना की कुछ भी आवश्यकता न थी। तथापि रामचन्द्रजी ने उनकी सहायता के लिए थोड़ी सी सेना साथ करही दी। वह शत्रुघ्न के पीछे पीछे चली। परन्तु उनकी प्रयोजन-सिद्धि के लिए वह सेना बिलकुलही अनावश्यक सिद्ध हुई। 'इ' धातु स्वयं ही अध्ययनार्थक है। उसके पीछे लगे हुए 'अधि' उपसर्ग से उसका जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतनाही पीछे चलने वाली सेना से शत्रुघ्न का प्रयोजन सिद्ध हुआ। 'इ' के लिए 'अधि' की तरह शत्रुघ्न के लिए रामचन्द्रजी की भेजी हुई सेना व्यर्थ हुई। सूर्य्य के रथ के आगे आगे चलने वाले बालखिल्य मुनियों की तरह, यमुना-तट-वासी ऋषि भी, शत्रुघ्न के रथ के आगे आगे, रास्ता बतलाते हुए, चले। शत्रुघ्न बड़े ही तेजस्वी थे। देदीप्यमान जनों में वे बढ़ कर थे। जिस समय तपस्वियों के पीछे वे, और, उनके पीछे सेना चली, उस समय उनकी तेजस्विता और शोभा और भी बढ़ गई।

रास्ते में वाल्मीकि का तपोवन पड़ा। उसके पास पहुँचने पर, आश्रम के मृग, शत्रुघ्न के रथ की ध्वनि सुन कर, सिर ऊपर को उठाये हुए बड़े चाव से उन्हें देखने लगे। शत्रुघ्न ने एक रात वहीं, उस आश्रम में, बिताई।

उनके रथ के घोड़े बहुत थक गये थे। इससे उन्होंने वहीं ठहर जाना मुनासिब समझा। वालमीकि ने कुमार शत्रुघ्न का अच्छा सत्कार किया। तपस्या के प्रभाव से उन्होंने उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये और शत्रुघ्न को बड़ेही आराम से रक्खा। उसी रात को शत्रुघ्न की गर्भवती भाभी के—पृथ्वी के कोश और दण्ड के समान—दो सर्वसम्पन्न पुत्र हुए। बड़े भाई की सन्तानोत्पत्ति का समाचार सुन कर शत्रुघ्न को बड़ा आनन्द हुआ। प्रातःकाल होने पर, उन्होंने हाथ जोड़ कर मुनिवर वालमीकि को प्रणाम किया और उनकी आज्ञा से रथ पर सवार होकर चल दिया।

यथासमय शत्रुघ्न मधूपघ्न नामक नगर में पहुँच गये। वे पहुँचे ही थे कि कुम्भीनसी नामक राक्षसी का पुत्र, लवणासुर, मारे हुए पशुओं के समूह को, वन से ली गई भेंट के सदृश, लिये हुए उन्हें मिल गया। उसका रूप बहुतही भयानक था। चलती फिरती चिता की आग के सदृश वह मालूम होता था। चिता की आग के सारे लक्षण उसमें थे। चिता की आग धुवें से कुछ धुँधली दिखाई देती है; वह भी धुवें के ही समान धुँधले रङ्ग का था। चिता की आग से जलते हुए मुर्दे की मज्जा की दुर्गन्धि आती है; उसके भी शरीर से मज्जा की दुर्गन्धि आती थी। चिता की आग ज्वालारूपी लाल-पीले केशवाली होती है; उसके भी केश ज्वाला ही के सदृश लाल-पीले थे। चिता की आग को मांसाहारी (गीध, चील्ह और गीदड़ आदि) घेरे रहते हैं; उसे भी मांसाहारी (राक्षस) घेरे हुए थे। दैवयोग से, उस समय, लवण के हाथ में त्रिशूल न था। उसे त्रिशूलहीन देख कर शत्रुघ्न बहुत ख़ुश हुए। उन्होंने उस पर तत्काल ही आक्रमण कर दिया। यह उन्होंने अच्छा ही किया। क्योंकि, शत्रु के छिद्र देख कर जो लोग वहीं प्रहार करते हैं उनकी अवश्य ही जीत होती है—जीत उनके सामने हाथ बाँधे खड़ी सी रहती है। युद्धविद्या के आचार्यों की आज्ञा है कि जिस बात में शत्रु को कमज़ोर देखे उसी को लक्ष्य करके उस पर आघात करे। इस मौक़े पर शत्रुघ्न ने इसी आज्ञा का परिपालन किया।

शत्रुघ्न को अपने ऊपर चोट करते देख लवणासुर के क्रोध की सीमा न रही। उसने ललकार कर कहा:—

"मुझे आज पेट भर खाने को न मिला देख, जान पड़ता है, ब्रह्मा डर गया है। इससे उसी ने तुझे, मेरे मुँह का कौर बनाने के लिए, भेजा है। धन्य मेरे भाग्य! ठहर; तेरी गुस्ताख़ी का बदला मैं अभी देता हूँ।"

इस प्रकार शत्रुघ्न को डराने की चेष्टा करके उसने पास के एक प्रकाण्ड पेड़ को, मोथा नामक घास के एक तिनके की तरह, जड़ से उखाड़ लिया और शत्रुघ्न को जान से मार डालने की इच्छा से, उसे उसने उन पर फेंका। परन्तु शत्रुघ्न ने अपने तेज़ बाणों से बीच ही में काट कर उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। वह पेड़ तो उनके शरीर तक न पहुँचा; हाँ उसके फूलों की रज उड़ कर ज़रूर उनके शरीर पर जा गिरी। अपने फेंके हुए पेड़ की यह दशा हुई देख लवणासुर ने सैकड़ों मन वज़नी एक पत्थर, यमराज के शरीर से अलग हुए उसके मुक्के की तरह, शत्रुघ्न पर चलाया। शत्रुघ्न ने इन्द्र-देवतात्मक अस्त्र उठा कर उस पर ऐसा मारा कि वह पत्थर चूर चूर हो गया। वह पिस सा गया; उसके परमाणु रेत से भी अधिक बारीक हो गये। तब, प्रलयकाल की आँधी के उड़ाये हुए, ताड़ के एकही वृक्ष वाले पर्वत की तरह—अपनी दाहनी भुजा उठा कर, वह शत्रुघ्न पर दौड़ा। यह देख कर शत्रुघ्न ने विष्णुदेवता-सम्बन्धी एक बाण ऐसा छोड़ा कि वह लवणासुर की छाती फाड़ कर पार निकल गया। इस बाण के लगते ही वह निशाचर अररा कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके गिरने से पृथ्वी तो कँप उठी, पर आश्रमवासी मुनियों का कँपना बन्द हो गया। यमुना-तीर-वर्ती ऋषि और मुनि, जो अब तक उसके डर से कँपते थे, निर्भय हो गये। इधर उस मरे हुए राक्षस के ऊपर तो मांसभक्षी पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड टूट पड़े; उधर उसके शत्रु शत्रुघ्न के शीश पर आकाश से दिव्य फूलों की वर्षा हुई।

लवणासुर को मारने से वीर-वर शत्रुघ्न को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने कहा—"इन्द्रजित का वध करने से बढ़ी हुई शोभावाले परम तेजस्वी लक्ष्मण का सहोदर भाई, मैं, अपने को, अब, अवश्य समझता हूँ। यह काम मेरा अवश्य अपने भाई के बल और विक्रम के अनुरूप हुआ है।"

लवण के मारे जाने पर उसके सताये हुए सारे तपस्वियों ने अपने को कृतार्थ माना और शत्रुघ्न की स्तुति आरम्भ कर दी। प्रताप और पराक्रम

से उन्नत हुए अपने सिर को शत्रुघ्न ने, उस समय, मुनियों के सामने झुका कर नम्रता दिखाई। पराक्रम के काम कर के भी, अपनी प्रशंसा सुनने पर, लज्जित होना और सङ्कोच से सिर नीचा कर लेना ही सच्ची वीरता का सूचक है। ऐसे ही व्यवहार से वीरों की शोभा होती है।

पुरुषार्थ ही को सच्चा भूषण समझने वाले और इन्द्रियों के विषय-भोग की ज़रा भी इच्छा न रखने वाले मधुरमूर्ति शत्रुघ्न को वह जगह बहुत पसन्द आई। इस कारण, उन्होंने, यमुना के तट पर, मथुरा नाम की एक पुरी बसाई और आप उसके राजा हो गये। ऐसा अच्छा राजा पाकर पुरवासियों की सम्पदा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। सभी कहीं सुख, सन्तोष और समृद्धि ने अपना डेरा जमा दिया। अतएव, ऐसा मालूम होने लगा जैसे स्वर्ग में बसने से बचे हुए मनुष्य लाकर मथुरा बसाई गई हो।

अपनी बसाई हुई पुरी की शोभा ने शत्रुघ्न का मन मोह लिया। अपने महल की छत से वे, सोने के सदृश रङ्गवाले चक्रवाक-पक्षियों से युक्त नीलवर्ण यमुना को—पृथ्वी की सुवर्ण-जटित वेणी के समान—देख कर बहुत ही प्रसन्न हुए।

मन्त्रों के आविष्कारकर्त्ता महामुनि वाल्मीकिजी दशरथ के भी मित्र थे और जनक जी के भी। मिथिलेश-नन्दिनी सीताजी के पुत्रों के दादा और नाना पर वाल्मीकिजी की विशेष प्रीति होने के कारण, उन्होंने उन दोनों सद्योजात शिशुओं के जात-कर्म आदि संस्कार, विधिपूर्वक, बहुत ही अच्छी तरह, किये। उत्पन्न होने के अनन्तर उनके शरीर पर जो गर्भ-सम्बन्धी मल लगा हुआ था उसे आदि-कवि ने, अपने ही हाथ से, कुश और लव (गाय की पूँछ के बाल) से साफ़ किया। इस कारण उन्होंने उन दोनों शिशुओं का नाम भी कुश और लव ही रक्खा। बाल्य-काल बीत जाने पर जब वे किशोरावस्था को प्राप्त हुए तब मुनिवर ने पहले तो उन्हें वेद और वेदाङ्ग पढ़ाया। फिर, भावी कवियों के लिए कवित्व-प्राप्ति की सीढ़ी का काम देने वाली अपनी कविता, अर्थात् रामायण, पढ़ाई। यही नहीं, किन्तु रामायण को गाकर पढ़ना भी उन्होंने लव-कुश को सिखा दिया। रामचन्द्र के मधुर वृत्तान्त से परिपूर्ण रामायण को, अपनी माता

के सामने गा कर, उन दोनों बालकों ने जानकीजी की रामचन्द्र-सम्बन्धिनी वियोग-व्यथा को कुछ कुछ कम कर दिया।

गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय नामक तीनों अग्निओं के समान तेजस्वी अन्य भी—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक—तीनों रघुवंशियों की गर्भवती पत्नियों के, अपने अपने पति के संयोग से, दो दो पुत्र हुए।

इधर शत्रुघ्न को मथुरा में रहते बहुत दिन हो गये। अतएव, अयोध्या को लौट कर अपने बड़े भाई के दर्शन करने के लिए उनका मन उत्कण्ठित हो उठा। उन्होंने मथुरा और विदिशा का राज्य तो अपने विद्वान् पुत्र शत्रुघाती और सुबाहु को सौंप दिया और आप अयोध्या को लौट चले। उन्होंने कहा:—"अब की दफ़े वाल्मीकि के आश्रम की राह से न जाना चाहिए। वहां जाने और ठहरने से मुनिवर की तपस्या में विघ्न आता है।" इस कारण, सीताजी के सुतों का गाना सुनने में निमग्न हुए हरिणोंवाले वाल्मीकिजी के आश्रम को छोड़ कर वे उसके पास से निकल गये।

प्रजा ने जब सुना कि लवणासुर को मार कर शत्रुघ्न आ रहे हैं तब उसे बड़ी खुशी हुई। सब लोगों ने अयोध्या के प्रत्येक गली कूचे को तोरण और बन्दनवार आदि से खूब ही सजाया। इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले कुमार शत्रुघ्न ने जिस समय अयोध्यापुरी में प्रवेश किया उस समय पुरवासियों के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने शत्रुघ्न को बड़ी ही आदरपूर्ण दृष्टि से देखा। यथासमय शत्रुघ्न रामचन्द्रजी की सभा में गये। उस समय रामचन्द्रजी अपने सभासदों से घिरे हुए बैठे थे। सीता का परित्याग करने के कारण, वे, उस समय, एक मात्र पृथ्वी के ही पति थे। लवणासुर के शत्रु शत्रुघ्न ने बड़े भाई को देख कर भक्तिभावपूर्वक प्रणाम किया। कालनेमि के वध से प्रसन्न हुए इन्द्र ने जिस तरह विष्णु भगवान् की प्रशंसा की थी उसी तरह रामचन्द्रजी ने भी शत्रुघ्न की प्रशंसा की। शत्रुघ्न पर वे बहुत प्रसन्न हुए और उनसे प्रेमपूर्वक कुशल-समाचार पूछे। शत्रुघ्न ने उनसे और तो सब बातें कह दीं; पर लव-कुश के जन्म का वृत्तान्त न बताया। बात यह थी कि वाल्मीकि ने उन्हें आज्ञा दे दी थी कि तुम इस विषय में रामचन्द्रजी से कुछ न कहना; किसी समय मैं स्वयं ही यह वृत्तान्त उन्हें सुनाऊँगा। इसीसे, इस विषय में, शत्रुघ्न को चुप रहना पड़ा।

एक दिन की बात सुनिए। किसी ग्रामीण ब्राह्मण का पुत्र, युवा होने के पहले ही, अकस्मात् मर गया। वह ब्राह्मण, उसे गोद में लिये हुए, राजा रामचन्द्र के यहाँ आया। वहाँ, द्वार पर, उसने लड़के को गोद से उतार कर रख दिया और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। वह बोला:—

"अरी पृथ्वी! तेरे दुर्भाग्य का क्या ठिकाना। तू बड़ी ही अभागिनी है। दशरथ के बाद रामचन्द्र के हाथ में आने से तेरी बड़ी ही दुर्दशा हो रही है। तेरे कष्ट दिन पर दिन बढ़ते ही जाते हैं!!!"

रामचन्द्रजी ने उस ब्राह्मण से उसके शोक का कारण पूछा। उसने सारा हाल कह सुनाया। रामचन्द्रजी तो प्रजा के पालन और असहायों के रक्षक थे। ब्राह्मण के पुत्र की मृत्यु का हाल सुन कर वे बहुत लज्जित हुए। उन्होंने मन ही मन कहा:—

"अब तक तो इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के देश पर अकाल-मृत्यु के पैर नहीं पड़े थे। मामला क्या है, जो इस ब्राह्मण का बेटा अकाल ही में काल का कौर हो गया।"

उन्होंने उस दुःखदग्ध ब्राह्मण को बहुत कुछ आसा-भरोसा दिया और उससे कहा:—

"आप घबराइए नहीं। ज़रा देर आप यहाँ ठहरिए। आपका दुःख दूर करने का मैं कुछ उपाय करना चाहता हूँ।"

यह कह कर उन्होंने यमराज पर चढ़ाई करने का विचार किया। तत्काल ही उन्होंने कुवेर के पुष्पक विमान को याद किया। याद करते ही वह रामचन्द्रजी के सामने आकर उपस्थित हो गया। उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र साथ लिये। फिर वे विमान पर सवार हो गये। उन्हें लेकर विमान उड़ चला।

रामचन्द्रजी कुछ ही दूर गये होंगे कि आकाशवाणी हुई। उन्होंने सुना कि सामने ही कोई कह रहा है:—

"हे राजा! तेरे राज्य में कुछ दुराचार हो रहा है। उसका पता लगा कर उसे दूर कर दे तो तेरा काम बन जाय। उसके दूर होते ही तू कृतकृत्य हो जायगा।"

रामचन्द्रजी ने इस आकाश-वाणी को सच समझा। उन्हें इस पर

विश्वास हो गया । अतएव, अपने राज्य के वर्णाश्रम-सम्बन्धी विकार को दूर करने का निश्चय करके उन्होंने विमान को बड़े वेग से उड़ाया । रामचन्द्रजी की आज्ञा से वह इतने वेग से उड़ा कि उसकी पताका, हवा के झोंकों से लहराने और फहराने पर भी, निश्चल सी मालूम होने लगी । दूर दूर तक वे विमान पर बैठे हुए दुराचार का कारण ढूँढ़ते फिरे । कोई दिशा ऐसी न बची जहाँ वे न गये हों । अन्त को, ढूँढ़ते ढूँढ़ते, उन्हें एक तपस्वी देख पड़ा । अपना मुँह पृथ्वी की तरफ़ किये हुए, एक पेड़ की डाल से वह लटक रहा था । उसके नीचे आग जल रही थी, धुएँ से उसकी आँखें लाल हो रही थीं । धुआँ पीनेवाले उस तपस्वी से रामचन्द्रजी ने उसका नाम, धाम और कुल आदि पूछा । उसने उत्तर दिया:—

"मेरा नाम शम्बुक है । जाति का मैं शूद्र हूँ । स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से मैं तपस्या कर रहा हूँ—मैं देवता हो जाना चाहता हूँ ।"

यह सुन कर वर्णों और आश्रमों को अपनी अपनी मर्य्यादा के भीतर रखनेवाले राजा रामचन्द्र ने कहा कि तू तपस्या का अधिकारी नहीं । तेरे ही कारण मेरी प्रजा को दुःख पहुँच रहा है । तू मार डालने योग्य है । तेरा सिर काटे बिना मैं न रहूँगा । यह कह कर उन्होंने शस्त्र उठाया और आग की चिनगारियों से झुलसी हुई उसकी डाढ़ीवाले सिर को—पाला पड़ने से कुम्हलाये हुए केसरवाले कमल फूल की तरह—कण्ठरूपी नाल से काट दिया । स्वयं राजा के हाथ से मारे जाने पर उस शूद्र ने पुण्यात्माओं की गति पाई—जिस गति को पुण्यशील महात्मा ही पाते हैं वही उसको प्राप्त हो गई । यद्यपि वह घोर तपस्या कर रहा था तथापि उसकी तपस्या से वर्णाश्रम-धर्म के नियमों का उल्लङ्घन होता था । अतएव, यदि रामचन्द्रजी के हाथ से उसकी मृत्यु न होती तो वह अपनी तपस्या से उस गति का कदापि अधिकारी न होता ।

मार्ग में महा-तेजस्वी अगस्त्य मुनि रामचन्द्रजी को मिले । उनको मुनिवर ने—शरत्काल को चन्द्रमा के समान—आपही कृपा करके अपने दर्शन दिये । अगस्त्य मुनि के पास, देवताओं के धारण करने योग्य, एक आभूषण था । उसे उन्होंने समुद्र से पाया था—उस समुद्र से जिसे उन्होंने पी कर फिर पेट से निकाल दिया था । अपने जीवदान के पलटे में ही

समुद्र ने मानों उसे मुनिवर को प्रदान किया था। इसी अनमोल आभूषण को अगस्त्य मुनि ने रामचन्द्र को दे दिया। रामचन्द्रजी ने उसे अपने बाहु पर धारण कर लिया—उस बाहु पर जो किसी समय जानकीजी का कण्ठ-पाश बनता था; परन्तु जिसका यह काम बहुत दिनों से बन्द हो गया था। जानकीजी का तो परित्याग ही हो चुका था, बन्द न हो जाय तो क्या हो। उस दिव्य आभूषण को धारण करके रामचन्द्रजी तो पीछे अयोध्या को लौटे; उस ब्राह्मण का मरा हुआ बालक उसके पहले ही जी उठा।

पुत्र के जी उठने पर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। उसने देखा कि रामचन्द्रजी तो यमराज से भी अधिक बली और प्रभुताशाली हैं। यदि वे ऐसे न होते तो यमराज के घर से मेरे पुत्र को किस तरह ला सकते। अतएव, पहले उसने रामचन्द्रजी की जितनी निन्दा की थी उससे कहीं अधिक उनकी स्तुति की। स्तुति से उसने निन्दा का सम्पूर्ण निवारण कर दिया।

इस घटना के उपरान्त रामचन्द्रजी ने अश्वमेध-यज्ञ करने का निश्चय किया और घोड़ा छोड़ा। उस समय उन पर राक्षसों, बन्दरों और मनुष्यों के स्वामियों ने भेंटों की इस तरह वर्षा की जिस तरह कि मेघ अनाज की फ़सल पर पानी की वर्षा करते हैं। रामचन्द्रजी का निमन्त्रण पाकर बड़े बड़े ऋषि और मुनि—पृथ्वी के ही रहनेवाले नहीं, किन्तु नक्षत्रों तक के रहनेवाले—हर दिशा और हर लोक से आकर उनके यहाँ उपस्थित हुए। अयोध्या के बाहर, चारों तरफ़, उन लोगों ने अपने अपने आसन लगा दिये। उस समय फाटकरूपी चार मुखवाली अयोध्या—तत्काल ही सृष्टि की रचना किये हुए ब्रह्माजी की चतुर्मुखी मूर्त्ति के सदृश—शोभायमान हुई। सीताजी का परित्याग करके रामचन्द्रजी ने उन पर कृपा ही सी की। उनका परित्याग भी प्रशंसा के योग्य ही हुआ। क्योंकि अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लेने पर, यज्ञशाला में बैठे हुए रामचन्द्रजी ने, सीता ही की सोने की प्रतिमा बना कर, अपने पास बिठाई। उन्होंने दूसरी स्त्री को ग्रहण ही न किया। इससे सीताजी पर रामचन्द्र का सचमुच ही अनन्य प्रेम प्रकट हुआ। धन्य वह स्त्री जिसका स्वामी उसे छोड़ कर भी उसकी प्रतिमा अपने पास रक्खे!

रामचन्द्रजी का यज्ञ बड़े ही ठाट-बाट से हुआ। शास्त्र में जितनी सामग्री

की आज्ञा है उससे भी अधिक सामग्री से यज्ञ किया गया। उसमें किसी तरह का विघ्न न हुआ। यज्ञ-आदि पुण्य कार्य्यों में राक्षस ही अधिक विघ्न डालते हैं। परन्तु रामचन्द्रजी के यज्ञ में विभीषण आदि राक्षस ही रक्षक थे। फिर भला क्यों न वह निर्विघ्न समाप्त हो?

यज्ञ में वाल्मीकि मुनि भी आये थे। अपने साथ वे जानकीजी के दोनों पुत्र, लव और कुश, को भी लाये थे। उन्हें महर्षि ने आज्ञा दी कि मेरी रची हुई रामायण तुम अयोध्या में गाते फिरो। लव-कुश ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। उन्होंने अयोध्या में घूम घूम कर, यहाँ वहाँ, खूब ही उसे गाया। एक तो रामचन्द्रजी का पावन चरित, दूसरे महामुनि वाल्मीकिजी की रचना, तीसरे किन्नर-कण्ठ लव-कुश के मुख से गाया जाना! भला फिर उसे सुन कर सुननेवाले क्यों न मोहित हों? जिस जिसने उन दोनों बालकों का गाना सुना उस उसका मन उन्होंने मोह लिया। गाना उनका जैसा मधुर था, मूर्त्ति भी उनकी वैसी ही मधुर थी। अतएव, जो लोग रूपमाधुर्य्य और गानविद्या के ज्ञाता थे उन्हें लव-कुश के दर्शन और उनका गाना सुनने से अवर्णनीय आनन्द हुआ। उन्होंने सारा हाल रामचन्द्रजी से कह सुनाया। उन्हें भी बड़ा कुतूहल हुआ। अतएव, उन्होंने लव-कुश को बुला कर उन्हें देखा भी और भाइयों सहित उनका गाना भी सुना। जिस समय लव-कुश ने रामचन्द्रजी की सभा में रामायण गाना आरम्भ किया उस समय सभासदों की आँखों से आनन्द के आँसुओं की वर्षा होने लगी। सारी सभा ने इतनी एकाग्रता से गाना सुना कि वह चित्र लिखी सी निश्चल बैठी रह गई। उस समय वह उस वन-भूमि के सदृश मालूम होने लगी जिसके वृक्षों से, प्रातःकाल, ओस टपक रही हो, और, हवा न चलने से, जिसके वृक्ष बिना हिले डुले निस्तब्ध खड़े हों।

लव-कुश को देख कर, एक और कारण से भी, सब लोग अचम्भे में आ गये। लव-कुश और रामचन्द्र में उन्हें बहुत ही अधिक सदृशता मालूम हुई। बालवयस और मुनियों की सी वेशभूषा को छोड़ कर, अन्य सभी बातों में, वे दोनों भाई रामचन्द्र के तुल्य देख पड़े। परन्तु लोगों के अचम्भे का, इससे भी बढ़ कर, एक और भी कारण हुआ। वह यह था

कि उनके मधुर गान पर प्रसन्न होकर रामचन्द्र ने यद्यपि उन्हें बड़े बड़े और बहुमूल्य उपहार दिये; परन्तु उन्हें लेने में उन दोनों भाइयों ने बेहद निर्लोभता दिखाई। अतएव, उनके गान-कौशल पर लोग जितना चकित न हुए थे उससे अधिक चकित वे उनकी निस्पृहता पर हुए।

रामचन्द्र ने प्रसन्न होकर स्वयं ही उनसे पूँछा:—"यह किस कवि की रचना है और किसने तुम्हें गाना सिखाया है?"

रामचन्द्रजी के इस प्रश्न के उत्तर में उन दोनों भाइयों ने महर्षि वाल्मीकि का नाम बताया।

यह सुन कर रामचन्द्रजी के आनन्द का ठिकाना न रहा। वे तुरन्त अपने भाइयों को साथ लेकर, वाल्मीकिजी के पास गये; और, एकमात्र अपने शरीर को छोड़ कर अपना सारा राज्य उन्हें दे डाला। इस पर परमकारुणिक वाल्मीकिजी ने उनसे कहा:—"मिथिलेश-नन्दिनी की कोख से उत्पन्न हुए ये दोनों बालक आपही के पुत्र हैं। अब आप कृपा करके सीता को ग्रहण कर लें।"

रामचन्द्रजी बोले:—

"तात! आपकी बहू, मेरी आँखों के सामने ही, अग्नि में अपनी विशुद्धता का परिचय दे चुकी है। मैं उसे सर्व्वथा शुद्ध समझता हूँ। परन्तु दुरात्मा रावण के यहाँ रहने के कारण, यहाँ की प्रजा ने उस पर विश्वास न किया। अब यदि मैथिली, किसी तरह, अपनी चरित-सम्बन्धिनी शुद्धता पर प्रजा को विश्वास दिला दे तो मैं, आपकी आज्ञा से, उसे पुत्र सहित ग्रहण कर लूँगा।"

रामचन्द्र की इस प्रतिज्ञा को सुन कर वाल्मीकिजी ने शिष्यों के द्वारा जानकीजी को—नियमों के द्वारा अपनी अर्थ-सिद्धि की तरह—आश्रम से बुला भेजा।

दूसरे दिन, रामचन्द्रजी ने पुरवासियों को एकत्र किया और जिस निमित्त सीताजी बुलाई गई थीं उसकी सिद्धि के लिए उन्होंने वाल्मीकिजी को बुला भेजा। दोनों पुत्रों सहित सीताजी को साथ लेकर, महामुनि वाल्मीकिजी, परम-तेजस्वी रामचन्द्रजी के सामने, उपस्थित हुए। उस समय वे ऐसे मालूम हुए जैसे स्वर और संस्कार से युक्त गायत्री ऋचा को

लेकर वे भासमान् भास्कर के सामने उपस्थित हुए हों। उस अवसर पर, सीताजी गेरुवे वस्त्र धारण किये हुए थीं और नीचे, पृथ्वी की तरफ़, देख रही थीं। दृष्टि उनकी अपने पैरों पर थी। उनका इस तरह का शान्त शरीर ही मानों यह कह रहा था कि वे सर्व्वथा शुद्ध हैं; उन पर किसी तरह का सन्देह करना भूल है।

ज्योंही लोगों ने सीताजी को देखा त्योंही उनकी दृष्टि नीचे को हो गई। उन्होंने सीताजी के दृष्टि-पथ से अपनी आँखें हटा लीं। पके हुए धानों की तरह, सबके सब, सिर झुका कर, जहाँ के तहाँ, स्तब्ध खड़े रह गये। महर्षि वाल्मीकि तो रामचन्द्रजी की सभा में, आसन पर, बैठ गये; पर सीताजी खड़ी ही रहीं। सर्वत्र निस्तब्धता हो जाने पर वाल्मीकि-जी ने सीताजी को आज्ञा दी:—

"बेटी! तेरे चरित के सम्बन्ध में अयोध्यावासियों को जो संशय उत्पन्न हुआ है उसे, अपने पति के सामने ही, दूर कर दे।"

वाल्मीकिजी की आज्ञा सुनते ही उनका एक शिष्य दौड़ा गया और पवित्र जल ले आया। उससे आचमन करके सीताजी, इस प्रकार, सत्य वाणी बोलीं:—

"हे माता! हे मही-देवी! अपने पति के सम्बन्ध में यदि मुझसे कर्म से तो क्या, वाणी और मन से भी, कभी व्यभिचार न हुआ हो तो तू इतनी कृपा कर कि अपने भीतर मुझे समा जाने दे!"

परम सती सीताजी के मुँह से ये शब्द निकले ही थे कि तत्काल ही पृथ्वी फट गई और एक बहुत बड़ा गढ़ा हो गया। उससे प्रखर प्रकाश का एक पुञ्ज, बिजली की प्रभा के सदृश, निकल आया। उस प्रभा-मण्डल के भीतर, शेषनाग के फनों के ऊपर, एक सिंहासन रक्खा हुआ था। उस पर समुद्ररूपिणी मेखला धारण करनेवाली प्रत्यक्ष पृथ्वी देवी विराजमान थीं। उस समय सीताजी अपने पति की तरफ़ इकटक देख रही थीं। उन्हें, उसी दशा में, उनकी माता पृथ्वी ने अपनी गोद में उठा लिया और लेकर पाताल में प्रवेश कर गईं। रामचन्द्रजी उन्हें सीता को ले जाते देख—"नहीं नहीं"—कहते ही रह गये।

उस समय धन्वाधारी रामचन्द्रजी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने

पृथ्वी से सीताजी को छीन लाना चाहा। परन्तु गुरु ने, दैव शक्ति की प्रबलता का वर्णन करके, और, बहुत कुछ समझा बुझा कर, उनके कोप को शान्त कर दिया।

यज्ञ समाप्त होने पर, आये हुए ऋषियों और मित्रों का खूब आदर-सत्कार करके रामचन्द्र ने उन्हें अच्छी तरह बिदा किया; पर लव-कुश को उन्होंने अपने ही यहाँ रख लिया। जिस स्नेह की दृष्टि से वे अबतक सीताजी को देखते थे उसी दृष्टि से वे अब उनके पुत्र लव-कुश को देखने लगे।

भरतजी के मामा का नाम युधाजित् था। उन्होंने प्रजापालक रामचन्द्रजी से यह सिफ़ारिश की कि सिन्धु-देश का ऐश्वर्य्यशाली राज्य भरत को दे दिया जाय। रामचन्द्रजी ने इस बात को मान कर भरत को सिन्धु-देश का राजा बना दिया। भरत ने उस देश में जाकर वहाँ के निवासी गन्धर्वों को युद्ध में ऐसी करारी हार दी कि उन बेचारों को हाथ से हथियार रख कर एक मात्र वीणा ही ग्रहण करनी पड़ी। राज-पाट का झंझट छोड़ कर वे अपना गाने बजाने का पेशा करने को लाचार हुए। सिन्धु-देश में अपना दब-दबा जमा कर भरतजी ने वहाँ की तक्षशिला नामक एक राजधानी में तो अपने पुत्र तक्ष का राज्याभिषेक कर दिया और पुष्कलावती नामक दूसरी राजधानी में दूसरे पुत्र पुष्कल का। भरतजी के ये दोनों पुत्र बहुगुण-सम्पन्न, अतएव, राजा होने के सर्वथा योग्य थे। उनका अभिषेक करके भरतजी अयोध्या को लौट आये।

अब रह गये लक्ष्मणजी के पुत्र अङ्गद और चन्द्रकेतु। उन्हें भी उनके पिता ने, रामचन्द्रजी की आज्ञा से, कारापथ नामक देश का राजा बना दिया। वे भी अङ्गदपुरी और चन्द्रकान्ता नामक राजधानियों में राज्य करने लगे।

इस तरह लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के पुत्रों को राजा बना कर और प्रत्येक को अलग अलग राज्य देकर, रामचन्द्रजी और उनके भाई निश्चिन्त हो गये।

बूढ़ी होने पर, रामचन्द्र आदि की मातायें—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी—शरीर छोड़ कर पति-लोक को पधारीं। माताओं के मरने पर, नरेश-शिरोमणि रामचन्द्रजी और उनके भाइयों ने प्रत्येक की श्राद्ध आदि और्ध्वदेहिक क्रियायें, क्रम से, विधिपूर्वक, कीं।

एक दिन की बात है कि मृत्यु महाराज, मुनि का वेश धारण करके, रामचन्द्रजी के पास आये और बोले:—

"महाराज! मैं आप से एकान्त में कुछ कहना चाहता हूँ। आप यह प्रतिज्ञा कीजिए कि जो कोई हम दोनों को बातचीत करते देख लेगा उसका आप परित्याग कर देंगे।"

रामचन्द्रजी ने कहा:—"बहुत अच्छा। मुझे मञ्जूर है।"

तब काल ने अपना असली रूप प्रकट करके कहा कि अब आपके स्वर्ग-गमन का समय आ गया। अतएव, ब्रह्मा की आज्ञा से, आपको वहाँ जाने के लिए अब तैयार हो जाना चाहिए।

इतने में रामचन्द्रजी के दर्शन की इच्छा से दुर्वासा ऋषि राजद्वार पर आ पहुँचे। लक्ष्मणजी, उस समय, द्वारपाल का काम कर रहे थे। काल से रामचन्द्रजी ने जो प्रतिज्ञा की थी उसका भेद लक्ष्मणजी को मालूम था। परन्तु दुर्वासा के शाप के डर से उन्हें, ऋषि के आगमन की सूचना देने के लिए, रामचन्द्रजी के पास जाना पड़ा। जाकर उन्होंने देखा तो रामचन्द्रजी एकान्त में बैठे हुए काल पुरुष से बातें कर रहे थे। फल यह हुआ कि की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण का त्याग कर दिया।

लक्ष्मणजी योगविद्या में पारङ्गत थे। वे पूरे योगी थे। अतएव वे सरयू के किनारे चले गये और योग-द्वारा शरीर छोड़ कर बड़े भाई की प्रतिज्ञा को भङ्ग न होने दिया।

लक्ष्मण के पहलेही स्वर्गगामी हो जाने से रामचन्द्रजी का तेज एक चतुर्थांश कम हो गया। अतएव, तीन पैर के धर्म्म की तरह वे पृथ्वी पर शिथिल होकर किसी तरह अपने दिन पूरे करने लगे। अपने लीला-समापन का समय समीप आया जान उन्होंने अपने बड़े बेटे कुश को, जो शत्रुरूपी हाथियों के लिए अंकुश के सदृश था, कुशावती में स्थापित कर के उसे वहाँ का राजा बना दिया। और, मधुर तथा मनोहर वचनों के प्रभाव से सज्जनों की आँखों से आँसू टपकाने वाले दूसरे बेटे लव को शरावती नामक नगरी में स्थापित करके वहाँ का राज्य उसे दे दिया।

इस प्रकार अपने दोनों पुत्रों को राजा बना कर स्थिर-बुद्धि रामचन्द्रजी ने स्वर्ग जाने की तैयारी कर दी। उन्होंने भरत और शत्रुघ्न को साथ

लेकर और अग्निहोत्र की आग के पात्र को आगे करके, उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। यह बात अयोध्या से न देखी गई। उसने कहा:— "जब मेरे स्वामी रामचन्द्रजी ही यहाँ से चले जा रहे हैं तब मेरा ही यहाँ अब क्या काम ? मैं भी उन्हीं के साथ क्यों न चल दूँ।" अतएव, स्वामी पर अत्यन्त प्रीति के कारण, निर्जीव घरों को छोड़ कर, वह भी रामचन्द्रजी के पीछे चल दी—सारे अयोध्यावासी रामचन्द्रजी के साथ चल दिये और अयोध्या उजाड़ हो गई। रामचन्द्रजी के मार्ग को, कदम्ब की कलियों के समान अपने बड़े बड़े आँसुओं से भिगोती हुई, अयोध्या की प्रजा जब चलदी, तब रामचन्द्रजी के मन की बात जान कर, उनके सेवक राक्षस और कपि भी उसी पथ के पथिक हो गये। वे भी रामचन्द्रजी के पीछे पीछे रवाना हुए।

इतने में एक विमान स्वर्ग से आकर उपस्थित हो गया। भाइयों सहित रामचन्द्रजी तो उस पर सवार हो गये। रहे वे लोग जो उनके पीछे पीछे आ रहे थे; सो उनके लिए भक्तवत्सल रामचन्द्रजी ने सरयू को ही स्वर्ग की सीढ़ी बना दी। सरयू का अवगाहन करते ही, रामचन्द्रजी की कृपा से, वे लोग स्वर्ग को पहुँच गये। नदियों मे जिस जगह गायें उतरती हैं वह जगह गोप्रतर कहलाती है। जिस समय रामचन्द्रजी के अनन्त अनुयायी तैर कर सरयू को पार करने लगे उस समय इतनी भीड़ और इतनी रगड़ा-रगड़ हुई कि गौवों के उतरनेही का जैसा दृश्य दिखाई देने लगा। इस कारण, तब से, उस पवित्र तीर्थ का नामही गोप्रतर हो गया।

सुग्रीव आदि तो देवताओं के अंश थे। इससे, स्वर्ग पहुँचने पर, जब उन्हें उनका असली रूप मिल गया तब रामचन्द्रजी ने देव-भाव को पाये हुए अपने पुरवासियों के लिए एक जुदेही स्वर्ग की रचना कर दी। उनके लिए एक स्वर्ग अलगही बनाया गया।

देवताओं का रावणवधरूपी कार्य्य करनेही के लिए भगवान् ने रामचन्द्रजी का अवतार लिया था। अतएव, जब वह कार्य्य सम्पन्न हो गया तब विभीषण को दक्षिणी और हनूमान् को उत्तरी पर्वत पर, अपनी कीर्ति के दो स्तम्भों के समान, संस्थापित करके, विष्णु के अवतार रामचन्द्रजी, सारे लोकों की आधार-भूत अपनी स्वाभाविक मूर्त्ति में, लीन हो गये।

सोलहवाँ सर्ग।

—:०:—

कुश की राज्यप्राप्ति, अयोध्या का फिर से बसना, ग्रीष्म का आगमन और जलविहार आदि।

रामचन्द्र आदि चारों भाइयों के दो दो पुत्र मिला कर सब आठ भाई हुए। इन रघुवंशी वीरों में उम्र के लिहाज़ से और गुणों के भी लिहाज़ से कुश ही सब से बड़ा था। अतएव, उसके अन्य सातों भाइयों ने उसी को श्रेष्ठता दी और उत्तमोत्तम पदार्थों का अधिकांश भी उसी के पास जाने दिया। भाई भाई में प्रीति का होना रघुवंशियों के कुल की रीति ही थी। अतएव, इन लोगों में, किसी भी वस्तु के लिए, कभी भी, परस्पर झगड़ा-फ़िसाद न हुआ। ये आठों भाई बड़े ही प्रतापी हुए। जिस तरह समुद्र अपनी तटवर्त्तिनी भूमि से कभी आगे नहीं बढ़ता उसी तरह इन आठों भाइयों ने भी, अपने राज्य की सीमा का उल्लङ्घन करके, कभी अपने अन्य भाइयों की राज्य की सीमा के भीतर क़दम न रक्खा। विशेष करके जङ्गली हाथियों को पकड़ने, नदियों पर पुल बनवाने, खेती और बनिज-व्यापार की रक्षा करने आदि ही में इन्होंने अपने पुरुषार्थ का उपयोग किया; और, इन कामों में इन्हें सफलता भी हुई। चतुर्भुज विष्णु के अवतार रामचन्द्रजी से उत्पन्न हुआ, इन लोगों का वंश, सामयोनि-सुरगजों के समान, आठ शाखाओं में बँट कर, खूब फैल गया। सामवेद का गान करते समय ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए सुरगजों के वंश की तरह इनके वंश की भी बहुत बाढ़ हुई। इनके वंश ने बाढ़ में भी सुरगजों की बराबरी की और दान में भी। सुरगज जिस तरह दान (मद की धारा) बहाने में निरन्तर प्रवृत्त रहते हैं उसी तरह इनका

वंश भी दान देने (ख़ैरात करने) में सदा ही प्रवृत्त रहा । इस वंश के नरेश बड़े ही दानी हुए ।

एक दिन की बात सुनिए । आधी रात का समय था । दीपक मन्द मन्द जल रहे थे । सब लोग सो रहे थे । केवल राजा कुश अपने सोने के कमरे में जाग रहा था । उस समय उसे, प्रोषितपतिका के वेश में, अकस्मात्, एक ऐसी स्त्री देख पड़ी जिससे वह बिलकुल ही अपरिचित था—जिसे उसने कभी पहले न देखा था । उसकी वेशभूषा परदेशी पुरुषों की स्त्रियों के सदृश थी । वह इन्द्र-तुल्य तेजस्वी, शत्रुओं पर विजय पाने वाले, सज्जनों के लिए भी अपनी ही तरह अपने राज्य की ऋद्धियाँ सुलभ कर देने वाले, बहु-कुटुम्बी, राजा कुश के सामने, जय-जयकार करके, हाथ जोड़ खड़ी हो गई ।

दर्पण के भीतर छाया की तरह उस स्त्री को बन्द घर के भीतर घुस आई देख, दशरथ-नन्दन के बेटे कुश को बड़ा विस्मय हुआ । उसने मन में कहा कि दरवाज़े तो सब बन्द हैं, यह भीतर आई तो किस रास्ते आई ! आश्चर्य्य-चकित होकर उसने अपने शरीर का ऊपरी भाग पलँग से कुछ ऊपर उठाया और उस स्त्री से इस प्रकार प्रश्न करने लगा:—

"क्या तू योगविद्या जानती है जो दरवाज़े बन्द रहने पर भी तू इस गुप्त स्थान में आ गई ? तेरे आकार और रंग-ढंग से तो यह बात नहीं सूचित होती; क्योंकि तेरा रूप दीन-दुखियों का सा है; और, योगियों को कभी दुःख का अनुभव नहीं होता । तू तो शीत के उपद्रव से मुरझाई हुई कमलिनी का सा रूप धारण किये हुए है । हे कल्याणी ! बता तू कौन है ? किस की स्त्री है ? और, किस लिए मेरे पास आई है ? परन्तु, इन प्रश्नों का उत्तर देते समय तू इस बात को न भूलना कि रघुवंशी जितेन्द्रिय होते हैं । दूसरे की स्त्री की तरफ़ वे कभी आँख उठा कर नहीं देखते; उनका मन पर-स्त्री से सदा ही विमुख रहता है ।"

यह सुन कर वह बोली:—

"हे राजा ! आपके पिता जिस समय अपने लोक को जाने लगे उस समय वे अपनी निर्दोष पुरी के निवासियों को भी अपने साथ लेते गये । अतएव, वह उजाड़ हो गई । मैं उसी अनाथ अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी

हूँ। एक दिन वह था जब मैं प्रखर-प्रतापी और विश्वविख्यात राजाओं की राजधानी थी। मेरे यहाँ नित नये उत्सव हुआ करते थे। अपनी विभूति से मैं अलकापुरी को भी कुछ न समझती थी। परन्तु हाय! वही मैं, आज, तुझ सर्वशक्तिसम्पन्न रघुवंशी के होते हुए भी, इस दीन दशा को पहुँच गई हूँ। मेरी बस्ती के परकोटे टूट-फूट गये हैं। उसके मकानों की छतें गिर पड़ी हैं। उसके बड़े बड़े सैकड़ों महल खँडहर हो गये हैं। बिना मालिक के इस समय उसकी बड़ी ही दुर्दशा है। आज कल वह डूबते हुए सूर्य्य और प्रचण्ड पवन के छितराये हुए मेघों वाली सन्ध्या की होड़ कर रही है। कुछ दिन और ऐसी दशा रहने से उसके भग्नावशेषों का भी नामोनिशान न रह जायगा; सन्ध्या-समय के बादलों की तरह वे भी विनष्ट हो जायँगे।

"जिन राजमार्गों में दीप्तिमान नूपुरों का मनोहारी शब्द करती हुई स्त्रियाँ चलती थीं वहाँ अब शोर मचाती हुई गीदड़ी फिरा करती हैं। चिल्लाते समय उनके मुँह से आग की*चिनगारियाँ निकलती हैं। उन्हीं के उजेले में वे मुर्दा जानवरों का पड़ा पड़ाया मांस ढूँढ़ा करती हैं।

"वहाँ की बावलियों का कुछ हाल न पूछिए। जल-विहार करते समय उनका जो जल, नवीन नारियों के हाथों का आघात लगने से, मृदङ्ग के समान गम्भीर ध्वनि करता था वही जल, अब, जङ्गली भैंसों के सींगों से ताड़ित होकर, अत्यन्त कर्णकर्कश शब्द करता है।

"बेचारे पालतू मोरों की भी बुरी दशा है। पहले वे बाँस की छतरियों पर आनन्द से बैठते थे। पर उनके टूट कर गिर जाने से उन्हें अब पेड़ों पर ही बैठना पड़ता है। मृदङ्गों की गम्भीर ध्वनि को मेघ-गर्जना समझ कर पहले वे मोद-मत्त होकर नाचा करते थे। पर, अब वहाँ मृदङ्ग कहाँ? इससे उन्होंने नाचना ही बन्द कर दिया है। दावाग्नि की चिनगारियों से उनकी पूँछें तक जल गई हैं। कुछ ही बाल उनमें अब बाकी हैं। हाय हाय! घरों में बड़े सुख से रहने वाले ये मोर, इस समय, जङ्गली मोरों से भी बुरी दशा को प्राप्त हो रहे हैं।

"आप जानते हैं कि अयोध्या की सड़कों पर, जगह जगह, सीढ़ियाँ

---

*किंवदन्ती है कि शृगालियाँ जिस समय ज़ोर से चिल्लाती हैं उस समय उनके मुँह से आग निकलती है।

बनी हुई हैं। उन पर, पहले, रम्यरूप रमणियों के महावर लगे हुए, कमल-कोमल पैरों का सञ्चार होता था। पर, आज कल, बड़े बड़े बाघ, मृगों को तत्काल मार कर, उनका लोहू लगे हुए अपने पञ्जे, सीढ़ियों पर रखते हुए, उन्हीं सड़कों पर बेखटके घूमा करते हैं।

"अयोध्या की दीवारों आदि पर जो चित्रकारी है उसकी भी दुर्गति हो रही है। कहीं कहीं दीवारों पर हाथियों के चित्र हैं। उनमें यह भाव दिखाया गया है कि हाथी कमल-कुञ्जों के भीतर खड़े हैं और हथनियाँ उन्हें मृणाल-तन्तु तोड़ तोड़ कर दे रही हैं। परन्तु अब वह पहली अयोध्या तो है नहीं। अब तो वहाँ शेर घूमा करते हैं। अतएव वे जब इन चित्र-लिखित हाथियों को देखते हैं तब उन्हें सजीव समझ कर उन पर टूट पड़ते हैं और उनके मस्तकों को अपने नाखूनों से विदीर्ण कर डालते हैं। इन क्रोध से भरे हुए शेरों के प्रहारों से उन चित्रगत हाथियों की रक्षा करने वाला, हाय! वहाँ अब कोई नहीं।

"खम्भों पर खुदी हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ वहाँ कैसी भली मालूम होती थीं। परन्तु, अब, उनका रंग, कहीं कहीं, उड़ गया है और उनमें बेहद धुँधला-पन आ गया है। जिन खम्भों पर ये मूर्त्तियाँ हैं उन पर साँप लिपटे रहते हैं। वे अपनी केंचुलें वहीं, मूर्त्तियों पर ही, छोड़ देते हैं। वे केंचुलें, इस समय, उन मूर्त्तिमती स्त्रियों की चोलियाँ बन रही हैं।

"अयोध्या के विशाल महलों की भी दशा, इस समय, बहुत ही बुरी है। उन पर घास उग रही है। पलस्तर का चूना काला पड़ गया है; उस पर काई लग गई है। इस कारण, मोतियों की लड़ी के समान निर्म्मल भी चन्द्र-किरणें, अब, उन पर नहीं चमकतीं।

"हाय! हाय! अपने फूल-बागों की लताओं की दुर्गति तो और भी मुझ से नहीं देखी जाती। एक समय था जब विलासवती बालायें उनकी डालों को इतनी दयादृष्टि से देखती थीं कि टूट जाने के डर से उन्हें धीरे धीरे झुका कर उनके फूल चुनती थीं। परन्तु, आज कल, उनकी उन्हीं डालों को जङ्गली बन्दर—पुलिन्द नामक असभ्य म्लेच्छों की तरह—तोड़ा-मरोड़ा करते हैं और उन्हें तरह तरह की पीड़ा पहुँचाते रहते हैं।

"मेरी पुरी के झरोखों पर नज़र डालने से न तो रात को उनसे दीपक

का प्रकाश ही दिखाई देता है और न दिन को कमनीय कान्ताओं की मुख-कान्ति ही का कहीं पता चलता है। ये बातें तो दूर रहीं, अब तो उन झरोखों से धुवाँ भी नहीं निकलता। वे, सारे के सारे, इस समय, मकड़ियों के जालों से ढक रहे हैं।

"सरयू को देख कर तो मुझे और भी दुःख होता है। उसके किनारे किनारे बनी हुई फूस और पत्तों की शालायें सूनी पड़ी हैं। घाटों पर पूजा-पाठ करने वालों का कहीं नामोनिशान तक नहीं है—पूजा की सामग्री कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं दिखाई देती। स्नान के समय शरीर पर लगाने के लिए लाये गये सुगन्धित पदार्थों की अब कहीं रत्ती भर भी सुगन्धि नहीं आती। सरयू की यह दुर्गति देख मेरा कलेजा फटा जाता है।

"अतएव, कारणवश धारण की हुई मानुषी देह को छोड़ कर वैष्णवी मूर्त्ति का स्वीकार करनेवाले अपने पिता की तरह—इस कुशावती नगरी को छोड़ कर आपको मेरा स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि मैंही आपके वंश के नरेशों की परम्परा-प्राप्त राजधानी हूँ। मेरा निरादर करना आपको योग्य नहीं।"

कुश ने अयोध्या के प्रणयानुरोध को प्रसन्नतापूर्वक मान लिया और बोला—"बहुत अच्छी बात है; मैं ऐसा ही करूँगा।" इस पर स्त्रीरूपिणी अयोध्या का मुख-कमल खिल उठा और वह प्रसन्नता प्रकट करती हुई अन्तर्धान हो गई।

प्रातःकाल होने पर, कुश ने, रात का वह अद्भुत वृत्तान्त, सभा में, ब्राह्मणों को सुनाया। वे लोग, सुन कर, बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा की बड़ी बड़ाई की। वे बोले:—

"रघुकुल की राजधानी ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर आपको अपना स्वामी बनाया। इसलिए आप धन्य हैं।"

राजा कुश ने कुशावती को तो वेदवेत्ता ब्राह्मणों के हवाले कर दिया; और, रनिवास-सहित आप, शुभ मुहूर्त्त में, अयोध्या के लिए रवाना हो गया। उसकी सेना भी उसके पीछे पीछे चली। अतएव वह मेघ-मण्डली को पीछे लिये हुए पवन के सदृश शोभायमान हुआ। उस समय उसकी वह सेना, उसकी चलती हुई राजधानी के समान, मालूम हुई। राजधानी

में उपवन होते हैं; उसकी सेनारूपिणी राजधानी में भी फहराती हुई हज़ारों ध्वजायें उपवन की बराबरी कर रही थीं। राजधानी में घरही घर दिखाई देते हैं। उसकी सेना में भी रथरूपी ऊँचे ऊँचे घरों का जमघट था। राजधानी में विहार करने के लिए शैलों के समान ऊँचे ऊँचे स्थान रहते हैं; उसकी सेना में भी भीमकाय गजराजरूपी शैल-शिखरों की कमी न थी। अतएव, कुश की सेना को जाते देख ऐसा मालूम होता था कि वह सेना नहीं; किन्तु उसकी राजधानी ही चली जा रही है।

छत्ररूपी निर्म्मल मण्डल धारण किये हुए राजा कुश की आज्ञा से उसका कटक उसकी पहली निवास-भूमि, अर्थात् अयोध्या, की ओर क्रम क्रम से अग्रसर होने लगा। उस समय उसका वह चलायमान कटक—उदित हुए, अतएव अमल मण्डलधारी, चन्द्रमा की प्रेरणा से तट की ओर चलायमान महा-सागर के सदृश—मालूम होने लगा। कुश की विशाल सेना की विशाल सेना की चाल ने पृथ्वी को पीड़ित सा कर दिया। ज्यों ज्यों राजा कुश अपनी संख्यातीत सेना को साथ लिये हुए आगे बढ़ने लगा त्यों त्यों पृथ्वी की पीड़ा भी बढ़ने सी लगी। वह उस पीड़ा को सहने में असमर्थ सी हो कर, धूल के बहाने, आकाश को चढ़ सी गई। उसने सोचा, आसमान में चली जाने से शायद मेरा क्लेश कुछ कम हो जाय। कुश का कटक इतना बड़ा था कि उसके छोटे से भी छोटे अंश को देख कर यही मालूम होता था कि वह पूरा कटक है। अतएव, रात भर किसी जगह रहने के बाद, प्रातःकाल, आगे बढ़ने के लिए तैयारी करते समय उसकी टोलियों को चाहे कोई देखे; चाहे आगे के पड़ाव पर, संध्या समय, उतरते हुए उन्हें कोई देखे; चाहे मार्ग में चलते समय उन्हें कोई देखे—देखने वाले को वे टोलियाँ पूरे ही कटक सी मालूम होती थीं। सेनानायक कुश की सेना में हाथियों और घोड़ों की गिनती ही न थी। हाथी मद से मतवाले हो रहे थे। उनकी कनपटियों से मद की धारा बहती थी। उसके संयोग से मार्ग की धूल को कीचड़ का रूप प्राप्त हो जाता था। परन्तु हाथियों के पीछे जब सवारों की सेना आती थी तब घोड़ों की टापों के आघात से उस कीचड़ की फिर भी धूल हो जाती थी।

धीरे धीरे कुश का वह कटक विन्ध्याचल के नीचे, उसकी तराई में,

पहुँच गया। वहाँ उसके कई भाग कर दिये गये। प्रत्येक भाग को इस बात का पता लगाने की आज्ञा हुई कि रास्ता कहाँ कहाँ से है और किस रास्ते जाने से आराम मिलेगा। अतएव, सेना की कितनीही टोलियाँ तराई में रास्ता ढूँढ़ने लगीं। उनका तुमुल नाद विंध्याचल की कन्दराओं तक के भीतर घुस गया। फल यह हुआ कि नर्म्मदा के घोर नाद की तरह, सेना के व्योमव्यापी नाद ने भी विन्ध्य-पर्वत की गुफ़ाओं को गुञ्जायमान कर दिया। वहाँ पर किरात लोगों की बस्ती अधिक थी। वे लोग तरह तरह की भेंटें लेकर कुश के पास उपस्थित हुए। पर राजा ने उनकी भेंटों को केवल प्रसन्नतासूचक दृष्टि से देख कर ही लौटा दिया। यथासमय वह विन्ध्याचल के पार गया। पार करने में एक बात यह हुई कि पर्वत के पास गेरू आदि धातुओं की अधिकता होने के कारण उसके रथ के पहियों की हालें लाल हो गईं।

रास्ते में एक तो कटक के ही चलने से बेहद कोलाहल होता था। इस पर तुरहियाँ भी बजती थीं। अतएव दोनों का नाद मिल कर ऐसा घनघोर रूप धारण करता था कि पृथ्वी और आकाश को एक कर देता था।

विन्ध्य-तीर्थ में आकर कुश ने गङ्गा में हाथियों का पुल बाँध दिया। इस कारण पूर्व-वाहिनी गङ्गा, जब तक वह अपनी सेना-सहित उतर नहीं गया, पश्चिम की ओर बहती रही। हाथियों के यूथों ने धारा के बीच में खड़े होकर उसके बहाव को रोक दिया। अतएव लाचार होकर गङ्गाजी को उलटा बहना पड़ा। इस जगह हंस बहुत थे। कुश की सेना को उतरते देख वे वहाँ न ठहर सके। डर के मारे वे आकाश को उड़ गये। जिस समय वे अपने पंख फैला कर उड़े उस समय वे, राजा कुश के ऊपर, बिना यत्न के ही, चमर सा करते चले गये। नावों से हिलते हुए जल वाली गङ्गाजी को पार करके कुश ने भक्तिभावपूर्वक उसकी वन्दना की। उसे, उस समय, इस बात का स्मरण हो आया कि इसी भागीरथी के पवित्र जल की बदौलत कपिल-मुनि के कोपानल से भस्म हुए उसके पूर्वजों को स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी।

इस तरह कई दिन तक चलने के बाद नरनाथ कुश सरयू के तट पर पहुँच गया। वहाँ उसे यज्ञकर्त्ता रघुवंशी राजाओं के गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञ-स्तम्भ, वेदियों पर खड़े हुए, देख पड़े। कुश के कुल की राजधानी

अयोध्या के उपवन वहाँ से दूर न थे। उन उपवनों की वायु ने देखा कि कुश थका हुआ है और उसकी सेना भी श्रम से क्लान्त है। अतएव, सरयू की शीतल लहरों को छूकर और फूलों से लदे हुए वृक्षों की शाखाओं को हिला कर वह आगे बढ़ कर कुश से मिलने के लिए दौड़ आई।

पुरवासियों के सखा, शत्रुओं के हृदयों को बाणों से छेदने वाले, अपने कुल में ध्वजा के सदृश उन्नत, महाबली कुश ने, उस समय, फहराती हुई पताकावाली अपनी सेना को अयोध्या के इर्द गिर्द उतार दिया। सेना को, इस प्रकार, आराम से ठहरा कर उसने असंख्य सामग्री इकट्ठी कराई। फिर उसने हज़ारों कारीगर—बढ़ई, लुहार, मेसन, चित्रकार आदि—बुला कर उजड़ी हुई अयोध्या का जीर्णोद्धार करने की उन्हें आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाकर उन्होंने अयोध्यापुरी को—जल बरसा कर ग्रीष्म की तपाई हुई भूमि को बादलों की तरह—फिर से नई कर दिया। तदनन्तर, उस रघुवंशी वीर ने सैकड़ों सुन्दर सुन्दर देव-मन्दिरों से सुशोभित पुरी में प्रवेश करने के पहले, वास्तुविधि के ज्ञाता विद्वानों को बुलाया। उन्होंने, राजा की आज्ञा से, पहले तो उपवास किया; फिर, पशुओं का बलिदान देकर यथाशास्त्र पुरी की पूजा की।

शास्त्र में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार, हवन और पूजन आदि हो चुकने पर, कुश ने अयोध्या के राज-महल में—प्रेयसी के हृदय में प्रेमी के सदृश—प्रवेश किया। अपने मन्त्री, सेनापति, कोशाध्यक्ष आदि बड़े बड़े अधिकारियों को भी, उनकी प्रधानता और पद के अनुसार, बड़े बड़े महल और मकान देकर, उसने उन सब का भी यथोचित सम्मान किया। घुड़सालों में घोड़े बाँध दिये गये। गजसालों में, यथानियम गड़े हुए खम्भों से, हाथी बाँध दिये गये। बाज़ार की दुकानों में बिक्री की चीज़ें भी यथास्थान रख दी गईं। उस समय सजी हुई अयोध्या—सारे अङ्गों में आभूषण धारण किये हुए सुन्दरी स्त्री के समान—मालूम होने लगी। उजड़ने के पहले वह जैसी थी वैसी ही फिर हो गई। उसकी पहली शोभा उसे फिर प्राप्त हो गई। रघुवंशियों की इस मनोरमणीय नगरी में निवास करके, मैथिली नन्दन कुश ने न अमरावती ही को कुछ समझा और न अलकापुरी ही को। इन दोनों नगरियों का राज्य पाकर उनका स्वामी

होने की इच्छा उसके मन में न उत्पन्न हुई। उसने अलका के स्वामी कुवेर और अमरावती के स्वामी इन्द्र के वैभव से भी अपने वैभव को अधिक समझा। फिर, भला, क्यों उसका जी इन लोगों की राजधानियों में निवास करने को चाहे?

इतने में ग्रीष्म-ऋतु का आगमन हुआ। यह वह ऋतु है जिसमें रत्न टँके हुए डुपट्टे ओढ़े जाते हैं; लम्बे लम्बे हार धारण किये जाते हैं; और, वस्त्र इतने बारीक पहने जाते हैं कि साँस चलने ही से उड़ जायँ। कुश की प्रियतमाओं को ऐसे ही वस्त्र और ऐसे ही हार धारण करने की शिक्षा देने ही के लिए मानों ग्रीष्म ने, इस समय, आने की कृपा की।

ग्रीष्म का आगमन होते ही भगवान् भास्कर, अगस्त्य के चिह्न वाले अयन, अर्थात् दक्षिणायन, से प्रस्थान करके उत्तर दिशा के पास आ गये। अतएव, बहुत दिनों के बाद, सूर्य्य का समागम होने से, उत्तर दिशा के आनन्द की सीमा न रही। उसने आनन्द से शीतल हुए आँसुओं की वृष्टि के सदृश, हिमालय के हिम की धारा बहा दी। गरमी पड़ते ही हिमालय का बर्फ़ गल कर बहने लगा। इधर दिन का ताप बढ़ने लगा; उधर रात भी धीरे धीरे क्षीण होने लगी। अतएव, इस समय, दिन-रात की दशा उस पति-पत्नी के जोड़े के सदृश हो गई जिसने विरुद्ध आचरण करके पहले तो एक दूसरे को अप्रसन्न कर दिया हो; पर अलग हो जाने पर, पीछे से, जो पछताने बैठा हो। घर की बावलियों का जल, सिवार जमी हुई सीढ़ियों को छोड़ता हुआ, दिन पर दिन, नीचे जाने लगा। फल यह हुआ कि वह स्त्रियों की कमर तक ही रह गया और कमलों के नाल जल के ऊपर निकले हुए दिखाई देने लगे। उपवनों में, सायङ्काल फूलने वाली चमेली की कलियाँ जिस समय खिलीं, सारा वन उनकी सुगन्धि से महक उठा। अतएव, सब कहीं से भौंरे दौड़ पड़े और एक एक फूल पर पैर रख कर इस तरह गुञ्जार करने लगे मानों वे फूलों की गिनती कर रहे हों—मानों, वे यह कह रहे हों कि एक का रस ले लिया, दो का रस ले लिया, तीन का रस ले लिया; अभी इतने और बाक़ी हैं।

कामिनियों के कमनीय कपोलों पर बेहद पसीना निकलने लगा। इस कारण उनके कान पर रक्खा हुआ सिरस का फूल यद्यपि कान से गिर पड़ा तथापि

उसके केसर, पसीना निकले हुए कपोल पर, ऐसे चिपक गये कि बड़ी देर में वह वहाँ से छूट कर ज़मीन पर पहुँच सका। जब गरमी बहुत पड़ने लगी तब, दोपहर की लू से बचने के लिए, अमीर ऐसे मकानों में रहने लगे जिनमें जल के फ़ौवारे चल रहे थे। वहाँ पर चन्दन छिड़की हुई और पिचकारी आदि यन्त्रों के द्वारा जल-धारा से भिगोई हुई पत्थर की बहुमूल्य शिलाओं पर सोकर, उन्होंने, किसी तरह, गरमी से अपनी जान बचाई। स्नान करके स्त्रियाँ अपने गीले केश, सुगन्धित चूर्ण आदि उनमें लगाने और सायङ्काल खिलने वाली चमेली के फूल गूँथने के लिए, खुले ही छोड़ देने लगीं। ऐसे केशों को देख कर उनके पतियों का प्रेम उन पर पहले की भी अपेक्षा अधिक हो गया।

इस ऋतु में अर्जुन नामक वृक्ष की मञ्जरी बहुत ही शोभायमान हुई। पराग के कणों से परिपूर्ण हो जाने के कारण उसमें एक प्रकार की लालिमा आ गई। उसे देख कर ऐसा मालूम होने लगा जैसे रतिपति को भस्म करने पर भी महादेवजी का क्रोध शान्त न हुआ हो। अतएव उन्होंने काम के धनुष की प्रत्यञ्चा भी तोड़ डाली हो और यह वही टूटी हुई प्रत्यञ्चा हो, अर्जुन की मञ्जरी नहीं।

इस ऋतु में रसिक जनों को अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। परन्तु ग्रीष्म ने मनोहारी सुवास से परिपूर्ण आम की मञ्जरी, पुरानी मदिरा और पाटल के नये फूलों की प्राप्ति कराकर उन सारे कष्टों का प्रतीकार कर दिया। इन पदार्थों के सेवन से होने वाले सुख ने ग्रीष्म-सम्बन्धी अन्य सारे दुःखों का विस्मरण करा दिया।

इस महासन्तापकारी समय में, उदय को प्राप्त हुआ वह राजा और चन्द्रमा, ये दोनों ही प्रजा के बहुतही प्यारे हुए। राजा तो इस लिए कि वह अपनी पादसेवा से प्रजाजनों के दुःख और दरिद्र आदि से सम्बन्ध रखने वाला सारा ताप दूर करनेवाला था। और, चन्द्रमा इसलिए कि वह अपनी पाद-सेवा (किरण-स्पर्श) से उन लोगों का उष्णता-सम्बन्धी सारा ताप नाश करनेवाला था।

ग्रीष्म की गरमी से तङ्ग आकर राजा कुश की इच्छा हुई कि रनिवास को साथ लेकर सरयू में जलविहार करना चाहिए। सरयू में स्नान करना, उस समय, सचमुचही अत्यन्त सुखदायक था। उसके तीर पर जो लतायें

थीं उनसे गिरे हुए फूल उसमें बह रहे थे और लहरों के लोभी मत्त राज-हंस उसमें कलोलें कर रहे थे। जल-विहार का निश्चय करके पहले तो चक्रधारी भगवान् विष्णु के समान प्रभाववाले राजा कुश ने जाल डलवा कर सरयू के सारे मगर और घड़ियाल निकलवा डाले। फिर उसके तीर पर सैकड़ों तम्बू उसने तनवा दिये। तदनन्तर उसने अपनी प्रभुता और महिमा के अनुसार, राजसी ठाठ से, उसमें विहार करना आरम्भ कर दिया।

राजा कुश के रनिवास की स्त्रियाँ किनारे पर लगे हुए पट-मण्डपों से एकही साथ निकल पड़ीं और पैरों में पहने हुए नूपुरों का शब्द करती हुई नदी की सीढ़ियों से नीचे उतरने लगीं। उस समय वे इस तरह पास पास भिड़ कर उतरीं कि एक दूसरी के भुजबन्द परस्पर रगड़ गये। जहाँ वे जल में कूद कर मनमाना विहार करने लगीं वहाँ नदी के भीतर कलोलें करने वाले हंस भयभीत होकर भाग गये।

स्त्रियों में परस्पर छींटों की मार होने लगी। यह देख कर राजा का जी ललचा उठा। उसने अपने लिए एक नाव मँगाई। उसी पर बैठ कर वह उन स्त्रियों के नहाने का तमाशा देखने लगा। उस समय उसके पास खड़ी हुई एक किरात-कान्ता उस पर चमर कर रही थी। मौज में आकर राजा उससे इस प्रकार कहने लगा:—

"देख, मेरे रनिवास की सैकड़ों स्त्रियाँ किस तरह प्रमोदमत्त होकर विहार कर रहीं हैं। उनके अङ्गों पर लगे हुए सुगन्धित पदार्थ—चन्दन, कस्तूरी आदि—छूट कर लहरों के साथ बहते चले जा रहे हैं। उनके मिश्रण से सरयू का जल—लाल, पीले बादल बिखरे हुए सन्ध्या-समय के सदृश—रङ्ग-बिरङ्गी शोभा दिखा रहा है। नावों के हिलाये हुए सरयू के सलिल ने मेरे अन्तःपुर की सुन्दरी नारियों की आँखों के जिस अञ्जन को धो डाला था उसी को उसने फिर उन्हें लौटा सा दिया है। इनकी आँखों में यौवन के मद से छाई हुई लालिमा की शोभा को सरयू के कम्पमान जल ने जो बढ़ा दिया है उससे यही मालूम होता है कि उसने उनका अञ्जन फिर उन्हीं को दे दिया और कह दिया—लो तुम्हारा अञ्जन तुम्हीं को मुबारक रहे; मुझे न चाहिए। पानी और अञ्जन का साथ कितने दिन तक रह सकता है?

इन लोगों के शरीर के कुछ अवयव बहुत भारी हैं। उनके भारी-

पन के कारण, तैरते समय, ये आसानी से आगे नहीं बढ़ सकतीं। फिर भी, जल में खेल-कूद का इन्हें इतना चाव है कि दुःख सह कर भी ये गाढ़े भुजबन्द बँधी हुई अपनी बाहों से तैर रही हैं। वारि-विहार करते समय इन लोगों के सिरस फूल के गहने इनके कानों से गिर गये हैं। उन्हें नदी की धारा में बहते देख मछलियों को बड़ा धोखा होता है। क्योंकि उन्हें सिवार बहुत पसन्द है। अतएव इन गहनों को सिवार ही समझ कर मछलियाँ इन्हें पकड़ने दौड़ती हैं और धोखा खाती हैं। उमङ्ग में आकर ये स्त्रियाँ अपने हाथों से जल को कैसा उछाल रही हैं। ज़ोर जल उछाले जाने के कारण, मोती के समान बड़े बड़े जल-कणों की वर्षा इनके वक्षःस्थल पर हो रही है। इससे, यद्यपि इनके हार टूट कर गिरनेही चाहते हैं तथापि इन्हें इस बात की कुछ ख़बर ही नहीं। जल-कणों और हार के मोतियों में तुल्यता होने के कारण स्त्रियों को इसका ज्ञानही नहीं कि उनके हार टूट रहे हैं या साबित हैं। गहरी नाभि की शोभा की उपमा जल की भौंरों की शोभा से दी जाती है, भौंहों की तरङ्गों से दी जाती है और वक्षोजों की चकवा-चकवी के जोड़े से दी जाती है। रूप और अवयवों की उपमा का यह सारा सामान, इस समय, इन विलासवती जल-विहारिणी रमणियों के पासही मौजूद है। इनके अवयव आदि के उपमान ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं। वारिरूपी मृदङ्ग बजा कर ये गाती भी जाती हैं। उसे सुन कर, पूँछें ऊपर उठाये हुए तीरवर्त्ती मोर, अपनी मधुर कूक से, इनके गीत-वाद्य की प्रशंसा सी कर रहे हैं। आहा! जलरूप मृदङ्ग की ध्वनि जो ये कर रही हैं वह कानों को बहुतही प्यारी मालूम होती है। भीगने के कारण इनकी बारीक साड़ी इनके गोरे गोरे बदन पर चिपक सी गई है। उसी के ऊपर, इनकी कमर में, करधनी पड़ी है। उसकी घुँघुरुओं के कुन्दों के भीतर पानी भर गया है। अतएव घुँघुरु—चन्द्रमा की चाँदनी से ढके हुए तारों की तरह—मौन सा धारण किये हुए अपूर्व शोभा पा रहे हैं। पानी उछालने में ये एक दूसरी की स्पर्धा कर रही हैं। कोई भी नहीं चाहती कि मैं इस काम में किसी से हार जाऊँ। इस कारण, घमण्ड में आकर, ये अपने हाथ से पानी की धारा उछाल कर बड़े ज़ोर से अपनी सखियों के मुँह पर मारती हैं। इस मार से

इनके खुले हुए बाल भींग जाते हैं। अतएव कुमकुम लगे हुए बालों की सीधी नोकों से ये तरुणी नारियाँ पानी की लाल लाल बूँदों की वर्षा कर रही हैं। इनके बाल खुल गये हैं; इनके शरीर पर काढ़े गये केसर-कस्तूरी आदि के बेल बूटे धुल गये हैं; और, इनके मोतियों के कर्णफूल खुल कर नीचे लटक गये हैं—जल-क्रीड़ा के कारण यद्यपि इनके मुख पर व्याकुलता के ये चिह्न दिखाई दे रहे हैं, तथापि इनका मुख फिर भी सुन्दर ही मालूम होता है।"

यहाँ तक अपने रनिवास की रमणियों के वारि-विहार का वर्णन कर चुकने पर, कुश का भी मन सरयू में स्नान करने के लिए चञ्चल हो उठा। अतएव, वह विमान के समान बनी हुई नौका से उतर पड़ा और छाती पर हिलता हुआ हार धारण किये हुए वह भी अपनी नारियों के साथ जल-विहार करने लगा। उस समय वह ऐसा मालूम हुआ जैसे उखाड़ी हुई कमलिनी को कन्धे पर डाले हुए जङ्गली हाथी, हथिनियों के साथ, जल में खेल रहा हो। जब वह सुस्वरूप और कान्तिमान राजा भी जल में कूद कर विहार करने लगा तब उन सौन्दर्य्यवती स्त्रियों की सुन्दरता और भी बढ़ गई—उसके संयोग से उनकी शोभा और चारुता चौगुनी हो गई। मोती स्वभाव ही से सुन्दर होते हैं। तिस पर यदि कहीं उनसे चमकते हुए इंद्रनीलमणि का संयोग हो जाय तो फिर क्या कहना है। राजा को पाकर वे विशालनयनी नारियाँ दूने उत्साह से जलक्रीड़ा करने लगीं। सोने की पिचकारियों में लाल-पीला रङ्ग भर भर कर वे बड़े प्रेम से राजा को भिगोने लगीं। जिस समय कुश पर, इस प्रकार, सब तरफ़ से रङ्ग पड़ पड़ कर नीचे गिरने लगा उस समय उसकी शरीर-शोभा बहुत ही बढ़ गई—ऐसा मालूम होने लगा जैसे गिरिराज हिमालय से गेरू आदि धातु मिले हुए झरने झर रहे हों। रनिवास की स्त्रियों के साथ उसने उस श्रेष्ठ सरिता में घंटों विहार करके, अप्सराओं के साथ आकाश-गङ्गा में विहार करने वाले सुरेश्वर इन्द्र को भी मात कर दिया।

इस जल-विहार में एक दुर्घटना हो गई। जिस अलौकिक आभूषण को रामचन्द्रजी ने महामुनि अगस्त्य से पाया था वह इस समय कुश के पास था। जल-विहार करते समय वह उसे पहने हुए था। रामचन्द्रजी ने राज्य

के साथ हो उसे भी कुश के हवाले कर दिया था। दैवयोग से वह नदी में गिर कर डूब गया और कुश ने न जाना। यह एक प्रकार का भुजवन्द था। इसमें यह गुण था कि इसके बाँधनेवाले को सामने समर में कोई भी न हरा सकता था।

स्त्रियों के साथ इच्छापूर्वक जल-विहार करके कुश तीर पर लगे हुए अपने तम्बू में लौट आया। वहाँ आते ही कपड़े तक वह बदल न पाया था कि उसे अपनी भुजा, उस दिव्य आभूषण से सूनी, देख पड़ी। उस आभूषण का इस तरह खो जाना कुश से न सहा गया। इसका कारण लोभ न था। लोभ तो उसे छू तक न गया था। क्योंकि वह विद्वान् और समझदार था—तुच्छ फूल और बहुमूल्य भूषण को वह तुल्य समझता था। बात यह थी कि वह आभूषण उसके पिता रामचन्द्रजी का धारण किया हुआ था और युद्ध में विजय को वशीभूत करने की शक्ति रखता था। इसीसे उसे उसके खो जाने का दुःख हुआ।

नदी में घुस कर डुबकी लगानेवाले सैकड़ों मछुवों को उसने तत्काल ही हुक्म दिया कि खोये हुए आभूषण को ढूँढ़ निकालो। राजाज्ञा पाकर उन लोगों ने रत्ती रत्ती सरयू ढूँढ़ डाली। पर उनका सारा श्रम व्यर्थ गया। वह आभूषण न मिला। तब, लाचार होकर, वे राजा के पास गये और अपनी विफलता का हाल कह सुनाया। परन्तु कहते समय उन लोगों ने अपने चेहरों पर उदासीनता या भय का कोई चिह्न न प्रकट किया। वे बोले:—

"महाराज! जहाँ तक हम से हो सका हमने ढूँढ़ा। यत्न करने में हम लोगों ने कोई कसर नहीं की। परन्तु जल में खोया हुआ आपका वह सर्वोत्तम आभरण न मिला। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि सरयू-कुण्ड के भीतर रहने वाला कुमुद नामक नाग, लोभ में आकर, उसे ले गया है और वह उसी के पास है। उसके पास न होता तो वह ज़रूर ही हम लोगों को मिल जाता।"

यह सुन कर प्रवल पराक्रमी कुश जल-भुन गया। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं। उसने तुरन्त ही धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और नदी के तट पर जाकर नागराज कुमुद को मारने के लिए तरकस से गरुड़ास्त्र

निकाला। उस अस्त्र के धनुष पर रक्खे जाते ही कुण्ड के भीतर खलबली मच गई। मारे डर के वह क्षुब्ध हो उठा और तरङ्गरूपी हाथ जोड़ कर, तट को गिराता हुआ—गड्ढे में गिरे हुए जङ्गली हाथी की तरह—बड़े ज़ोर से शब्द करने लगा। उसके भीतर मगर आदि जितने जलचर थे सब बेतरह भयभीत हो गये। तब कुमुद ने अपनी ख़ैर न समझी। कुश के बाण-सन्धान करते ही उसके होश ठिकाने आगये। अतएव, वह उस कुण्ड से—मथे जाते हुए समुद्र से लक्ष्मी को लिये पारिजात-वृक्ष की तरह—अपनी बहन को आगे किये हुए सहसा बाहर निकल आया। कुश ने देखा कि खोये हुए आभूषण को नज़र करने के लिए हाथ में लिये हुए वह नाग सामने खड़ा है। तब उसने गरुड़ास्त्र को धनुष से उतार लिया। बात यह है कि सज्जनों का कोप, नम्रता दिखाने पर, शीघ्रही शान्त हो जाता है।

कुमुद भी अस्त्र-विद्या में निपुण था। वह जानता था कि गरुड़ास्त्र कैसा भीषण अस्त्र है। अपने प्रबल प्रभाव से शत्रुओं का अंकुश बन कर, उन्हें अपने अधीन रखनेवाले कुश के प्रचण्ड पराक्रम से भी वह अनभिज्ञ न था। यह बात भी उससे छिपी न थी कि कुश त्रिलोकीनाथ रामचन्द्र का पुत्र है। अतएव, मान और प्रतिष्ठा से उन्नत हुए भी अपने सिर को उसने मूर्द्धाभिषिक्त महाराज कुश के सामने अवनत करने ही में अपनी कुशल समझी। कुण्ड से निकलते ही उसने सिर झुका कर कुश को प्रणाम किया और कहा:—

"महाराज, मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि कारणवश मनुष्य का अवतार लेने वाले भगवान् विष्णु के आप पुत्र हैं। पुत्र क्या आप उनकी दूसरी मूर्त्ति हैं; क्योंकि पुत्र तो आत्मा का प्रतिबिम्ब ही होता है। अतएव, आप सर्व्वथा मेरे द्वारा आराधना किये जाने योग्य हैं। फिर भला यह कैसे सम्भव था कि मैं कोई बात आपके प्रतिकूल करके आपका अप्रीति-भाजन बनता। आपको मैं कदापि अप्रसन्न नहीं कर सकता। बात यह हुई कि यह लड़की गेंद खेल रही थी। हाथ के आघात से एक बार इसकी गेंद ऊपर को ऊँची चली गई। उसे यह सिर उठाये देख रही थी कि इतने में आपका विजयशील भूषण, आकाश से गिरती हुई उल्का की तरह, बड़े वेग के साथ कुण्ड से नीचे गिरता हुआ दिखाई दिया। इस

कारण कुतूहल में आकर इसने उसे उठा लिया। सो इसे आप अब अपनी बलवती भुजा पर फिर धारण कर लें—उस भुजा पर जो आपके घुटनों तक पहुँचती है, जो धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ का चिरस्थायी चिह्न धारण किये हुए है, और जो पृथ्वी की रक्षा के लिए अर्गला का काम देती है। मेरी छोटी बहन, इस कुमुद्वती, ने सचमुच ही आपका भारी अपराध किया है। अतएव, आपके चरणों की चिरकाल सेवा करके यह उस अपराध की मार्ज्जना करने की इच्छुक है। मेरी प्रार्थना है कि आप इसे अपनी अनुचरी बनाने में आनाकानी न करें।"

इस प्रकार प्रार्थना करके कुमुद ने वह आभूषण कुश के हवाले कर दिया। उसे पाकर और कुमुद की शालीनता देख कर कुश ने कहा:—

"मैं आपको अपना सम्बन्धी ही समझता हूँ। आप सर्वथा प्रशंसा-योग्य हैं।"

तब बन्धु-बान्धवों सहित कुमुद ने, अपने कुल का वह कन्यारूपी भूषण, विधिपूर्व्वक, कुश को भेंट कर दिया। कुश ने धर्म्माचरण के निमित्त, यथाशास्त्र, कुमुद्वती से विवाह किया। जिस समय ऊन का मङ्गलसूचक कङ्कण धारण किये हुए कुमुद्वती के कर को कुश ने, प्रज्वलित पावक की साक्षी करके, ग्रहण किया उस समय पहले तो देवताओं की बजाई हुई तुरहियों की ध्वनि दिशाओं के छोर तक छा गई, फिर आश्चर्य्यकारक मेघों के बरसाये हुए महा-सुगन्धित फूलों से पृथ्वी पूर्ण हो गई।

इस प्रकार त्रिभुवनगुरु रामचन्द्रजी के औरस पुत्र, मैथिलीनन्दन, कुश, और तक्षक के पाँचवें बेटे कुमुद का, पारस्परिक सम्बन्ध हो गया। इस सम्बन्ध के कारण अपने बाप तक्षक के मारने वाले सर्प-शत्रु गरुड़ के डर से कुमुद को छुटकारा मिल गया। उधर पुरवासियों के प्यारे कुश के राज्य में भी सर्पों का उपद्रव शान्त हो गया। कुमुद की आज्ञा से सर्पों ने कुश की प्रजा को काटना बन्द कर दिया। और, विष्णु के अवतार रामचन्द्रजी के पुत्र, कुश, की आज्ञा से गरुड़ ने सर्पों को सताना छोड़ दिया। अतएव कुश सर्पभयरहित पृथ्वी का सुख से शासन करने लगा।

———

सत्रहवाँ सर्ग।

—:०:—

राजा अतिथि का वृत्तान्त।

रात के चौथे पहर से बुद्धि को जैसे विशद-भाव की प्राप्ति होती है वैसेही कुश से कुमुद्वती को अतिथि नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। प्रतापी पिता का पुत्र होने से वह भी बड़ा ही तेजस्वी हुआ। उत्तर और दक्षिण, दोनों, मार्गों को सूर्य्य की तरह, उसने भी अपने पिता और माता, दोनों, के कुलों को पवित्र कर दिया। उसके बहुदर्शी और विद्वान् पिता ने पहले तो उसे क्षत्रियोचित शिक्षा देकर युद्धविद्या और राजनीति में निपुण कर दिया; फिर, राजाओं की कन्याओं के साथ उसका विवाह किया। कुश जैसा शूरवीर, जितेन्द्रिय और कुलीन था पुत्र भी भगवान् ने उसे वैसाही शूरवीर, जितेन्द्रिय और कुलीन दिया। अतएव, कुश को ऐसा मालूम होने लगा कि मैं एक नहीं, अनेक हूँ। अर्थात् पुत्र में अपने ही से सब गुण होने के कारण उसे उसकी आत्मा, एक से अधिक हो गई सी, जान पड़ने लगी।

इन्द्र की सहायता करना रघुवंशी राजाओं के कुल की रीति ही थी। अतएव, कुश को भी इन्द्र की सहायता के लिए अमरावती जाना पड़ा। वहाँ उसने दुर्जय नामक दैत्य के साथ महा घोर संग्राम करके उसे मार डाला। परन्तु उस दैत्य के हाथ से उसे भी अपने प्राण खोने पड़े। चाँदनी जैसे कुमुदों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा का अनुगमन करती है वैसेही नागराज कुमुद की बहन कुमुद्वती भी कुमुदानन्द (पृथ्वी की प्रीति से आनन्दित होने वाले) कुश का अनुगमन कर गई—पति के साथ वह सती हो गई। इस लोक से उन दोनों के प्रस्थान कर जाने पर कुश को तो इन्द्र के आधे सिंहासन का भोग प्राप्त हुआ और कुमुद्वती को इन्द्राणी की सखी

बनने का सौभाग्य। कुमुद्वती को तो इन्द्राणी के पारिजात का एक अंश भी मिला। अतएव, वे दोनों ही, इन्द्र और इन्द्राणी के समान ऐश्वर्य का उपभोग करने लगे।

जिस समय कुश लड़ाई पर जा रहा था उस समय वह अपने बूढ़े बूढ़े मन्त्रियों से कह गया था कि यदि मैं युद्ध से लौट कर न आऊँ तो मेरे पीछे अयोध्या का राज्य अतिथि को दिया जाय। इस आज्ञा को स्मरण करके मन्त्रियों ने अतिथि को ही अयोध्या का राजा बनाना चाहा। उन्होंने कारीगरों को आज्ञा दी कि कुमार अतिथि का राज्याभिषेक करने के लिए, चार खम्भों पर खड़ा करके, एक नये मण्डप की रचना करो और उसके बीच में एक ऊँची सी वेदी बनाओ। इस आज्ञा का तत्काल ही पालन किया गया। सब तैयारियाँ हो चुकने पर, जब कुमार अतिथि अपने पैतृक सिंहासन पर विराजमान हुआ तब तीर्थों के जल से भरे हुए सोने के कलश साथ ले लेकर मन्त्री लोग उसके सामने उपस्थित हुए। अभिषेक की क्रिया आरम्भ कर दी गई। तुरहियाँ हृदयहारिणी गम्भीर ध्वनि करने लगीं। उन्हें बजते सुन लोगों ने यह अनुमान किया कि राजा अतिथि का सदा ही कल्याण होगा; उसकी सुख-सम्पदाओं में कभी त्रुटि न होगी। दूब, जौ के अंकुर, बरगद की छाल और कोमल पल्लव थाली में रख कर, बूढ़े बूढ़े सजातियों ने पहले अतिथि पर आरती उतारी। तदनन्तर वेदवेत्ता ब्राह्मण, पुरोहित को आगे करके, विजय देनेवाले अथर्ववेद के मन्त्र पढ़ कर अतिथि का अभिषेक करने के लिए आगे बढ़े—उस अतिथि का जिसके भाग्य में सदा ही विजयी होना लिखा था। अभिषेक-सम्बन्धी पवित्र जल की बहुत बड़ी धारा जिस समय शब्द करती हुई उसके सिर पर गिरने लगी उस समय ऐसा मालूम होने लगा जैसे त्रिपुर के वैरी शङ्कर के सिर पर गङ्गा की धारा हहराती हुई गिर रही हो। अभिषेक होता देख वन्दीजनों ने अतिथि की स्तुति से पूर्ण गीत गाना आरम्भ कर दिया। उस स्तुति को सुन कर—चातकों के द्वारा स्तुति किये गये मेघ के सदृश—वह महत्ता को पहुँचा हुआ सा दिखाई दिया। सन्मंत्रों से पवित्र किये गये विविध जलों से स्नान करते समय उसकी कान्ति—मेंह से भिगोई गई बिजली की आग की कान्ति के सदृश—और भी अधिक हो गई।

अभिषेक की क्रिया समाप्त होने पर राजा अतिथि ने स्नातक ब्राह्मणों को अपार धन दिया। उस धन से उन लोगों ने जाकर एक एक यज्ञ भी कर डाला और यज्ञ की दक्षिणा के लिए भी उन्हें और किसी से कुछ न माँगना पड़ा। यज्ञ का सारा ख़र्च अतिथि के दिये हुए धन से ही निकल गया। राजा अतिथि के अपार दान से सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणों ने उसे जो आशीर्वाद दिया उसे बेकार पड़ा रहना पड़ा। बात यह थी कि उस आशीर्वाद से जो फल प्राप्त होने वाले थे वे फल तो अतिथि को, अपने ही पूर्वजन्म के अर्जित कर्म्मों की बदौलत, प्राप्त थे। इस कारण ब्राह्मणों के आशीर्वाद के फल, उसके लिए, उस समय, व्यर्थ से हो गये। आगे, किसी जन्म में, उनके विपाक का शायद मौक़ा आवे।

राज्याधिकार पाकर राजा अतिथि ने आज्ञा दी कि जितने क़ैदी क़ैदख़ानों में हैं सब छोड़ दिये जायँ; जिन अपराधियों को वध दण्ड मिला है वे वध न किये जायँ; जिनको बोझ ढोने का काम दिया गया है उनसे बोझ न ढुलाया जाय; जो गायें दूध देती हैं वे दुही न जायँ—उनका दूध उनके बछड़ों ही के लिए छोड़ दिया जाय। मनोरञ्जन के लिए तोते आदि पक्षी भी, जो उसके महलों में पींजड़ों के भीतर बन्द थे, उसने छोड़ दिये। छूट कर वे आनन्द से यथेच्छ विहार करने लगे।

इसके बाद स्नान करके और सुगन्धित धूप से बाल सुखा कर, वह राज-भवन के भीतर रक्खे हुए हाथीदाँत के चमचमाते हुए बहुमूल्य सिंहासन पर, जिस पर सुन्दर बिछौना बिछा हुआ था, वस्त्राभूषण पहनने और शृङ्गार करने के लिए, जा बैठा। तब कपड़े लत्ते पहनाने और शृङ्गार करने वाले सेवक, पानी से अच्छी तरह अपने हाथ धोकर, तुरन्त ही उसके पास जाकर उपस्थित हुए और अनेक प्रकार के शृङ्गारों और वस्त्राभूषणों से उसे ख़ूब ही अलंकृत किया। पहले तो उन्होंने मोतियों की माला से उसके केश-कलाप बाँधे। फिर उनमें जगह जगह फूल गूँथे। इसके पीछे उसके सिर पर प्रभा-मण्डल विस्तार करने वाली पद्मरागमणि धारण कराई। तदन्तर कस्तूरी मिले हुए सुगन्धित चन्दन का लेप शरीर पर कर के गोरोचना से बेल-बूटे बनाये। जिस समय सारे आभूषण पहन कर और कण्ठ में माला डाल कर उसने हंसों के चिह्न वाले (हंस कढ़े हुए) रेशमी वस्त्र धारण किये

उस समय उसकी सुन्दरता बहुत ही बढ़ गई—उसकी वेश-भूषा राजलक्ष्मी-रूपिणी दुलहिन के दूल्हे के अनुरूप हो गई। शृङ्गार हो चुकने पर सोने का आईना उसके सामने रक्खा गया। उसमें उसका प्रतिविम्ब, सूर्य्योदय के समय प्रभापूर्ण सुमेरु में कल्पवृक्ष के प्रतिबिम्ब के सदृश, दिखाई दिया।

इस प्रकार सज कर राजा अतिथि अपनी सभा में जाने के लिए उठा। उसकी सभा कुछ ऐसी वैसी न थी। देवताओं की सभा से वह किसी बात में कम न थी। राजा के चलते ही चमर, छत्र आदि राज-चिह्न हाथ में लेकर, उसके सेवक भी जय-जयकार करते हुए उसके दाहने बायें चले। सभा-स्थान में पहुँच अतिथि अपने बाप-दादे के सिंहासन पर, जिसके ऊपर चँदोवा तना हुआ था, बैठ गया। यह वह सिंहासन था जिसकी पैर रखने की चौकी पर सैकड़ों राजाओं ने अपने मुकुटों की मणियाँ रगड़ी थीं और जिनकी रगड़ से वह घिस गई थी। उसके वहाँ विराजने से श्रीवत्स-चिह्नवाला वह उतना बड़ा मङ्गल-स्थान ऐसा शोभित हुआ जैसा कि कौस्तुभमणि धारण करने से श्रीवत्स, अर्थात् भृगु-चरण, से चिह्नित विष्णु भगवान् का वक्षःस्थल शोभित होता है। प्रतिपदा का चन्द्रमा यदि एक बार ही पूर्णिमा का चन्द्रमा हो जाय—अर्थात् रेखामात्र उदित होकर वह सहसा पूर्णता को पहुँच जाय—तो जैसे उसकी कान्ति बहुत विशेष हो जायगी वैसेही बाल्यावस्था के अनन्तर ही महाराज-पद पाने से अतिथि की कान्ति भी बहुत विशेष होगई।

राजा अतिथि बड़ा ही हँसमुख था। जब वह बोलता था मुसकरा कर ही बोलता था। उसकी मुखचर्य्या सदा ही प्रसन्न देख पड़ती थी। अतएव, उसके सेवक उससे बहुत खुश रहते थे। वे उसे विश्वास की साक्षात् मूर्त्ति समझते थे। वह इन्द्र के समान ऐश्वर्य्यशाली राजा था। जिस हाथी पर सवार होकर वह अपनी राजधानी की सड़कों पर निकलता था वह ऐरावत के समान बलवान् था। उसकी पताकायें कल्पद्रुम की बराबरी करने वाली थीं। इन कारणों से उसने अपनी पुरी, अयोध्या, को दूसरा स्वर्ग बना दिया। उसके शासन-समय में एक मात्र उसी के सिर पर शुभ्र छत्र लगता था। और राजाओं को छत्र धारण करने का अधिकार ही न था। परन्तु उसके उस एक ही छत्र ने, उसके पिता कुश के वियोग

का सन्ताप, जो सारे संसार में छा गया था, एकदम ही दूर कर दिया। पहले राजा के वियोग-जन्य आतप से बचने के लिए सब को अलग अलग छाता लगाने की ज़रूरत ही न हुई। धुवाँ उठने के बाद आग की लपट निकलती है और उदय होने के बाद सूर्य्य की किरणें ऊपर आती हैं। जितने तेजस्वी हैं सब का यही हिसाब है—सब के सब, उत्थान होने के पहले, कुछ समय अवश्य लेते हैं। परन्तु, अतिथि ने तेजस्वियों की इस वृत्ति का उल्लङ्घन कर दिया। वह ऐसा तेजस्वी निकला कि गुणों के प्रकाश के साथ ही उसकी तेजस्विता का भी प्रकाश सब कहीं फैल गया। यह नहीं कि और तेजस्वियों की तरह, पहले उसके गुणों का हाल लोगों को मालूम होता, फिर, उसके कुछ समय पीछे, कहीं उसकी तेजस्विता प्रकट होती।

पुरुषों ही ने नहीं, स्त्रियों तक ने उसे अपना प्रीति-पात्र बनाया। उन्होंने भी उस पर अपनी प्रीति और प्रसन्नता प्रकट की। जिस तरह शरत्काल की रातें निर्म्मल तारों के द्वारा ध्रुव का अनुगमन करती हैं—उसे बड़ी उत्कण्ठा से देखती हैं—उसी तरह अयोध्या की स्त्रियों ने भी अपने प्रीति-प्रसन्न नेत्रों से उसका अनुगमन किया—उसे बड़े चाव से देखा। वे उसे रास्ते में जाते देख देर तक उत्कण्ठापूर्ण दृष्टि से देखा कीं। स्त्रियों की बात जाने दीजिए, देवी-देवताओं तक ने उस पर अपना अनुग्रह दिखाया। वह था भी सर्वथा अनुग्रहणीय। अयोध्या में सैकड़ों बड़े बड़े विशाल मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्त्तियाँ स्थापित थीं, जिनकी पूजा-अर्चा बड़े भक्ति-भाव से होती थी। वे देवता, राजा अतिथि पर अपना अनुग्रह प्रकट करने के लिए, अपनी अपनी प्रतिमाओं के भीतर उपस्थित होकर वास करने लगे। उन्होंने कहा कि अयोध्या में राजा के पास रहने से, उस पर कृपा करने के बहुत मौके मिलेंगे; दूर रहने से यह बात न होगी। इसी से उन्होंने, अयोध्या में, अपनी मूर्त्तियों के भीतर ही रहने का कष्ट उठाया।

राजा अतिथि का राज्याभिषेक हुए अभी बहुत दिन न हुए थे। अभी उसके बैठने की वेदी पर पड़ा हुआ अभिषेक का जल भी न सूख पाया था। परन्तु इतने ही थोड़े समय में उसका प्रखर प्रताप समुद्र के किनारे तक

पहुँच कर वेतरह तपने लगा। एक तो कुलगुरु वशिष्ठ के मन्त्र ही, अपने प्रभाव से, उसके सारे काम करने में समर्थ थे। दूसरे, उस धनुपधारी के शरों की शक्ति भी वहुत वढ़ी चढ़ी थी। फिर भला, उन दोनों के एकत्र होने पर, संसार में ऐसी कौन साध्य वस्तु थी जो उसे सिद्ध न हो सकती ?

अतिथि अद्वितीय न्यायी था। धर्म्मज्ञों का वह हृदय से आदर करता था। धर्म्मशास्त्र के पारङ्गत पण्डितों के साथ वैठ कर, प्रति दिन, वह स्वयं ही वादियों और प्रतिवादियों के पेचीदा से भी पेंचीदा अभियोग सुन कर उनका फ़ैसिला करता था। इस काम में वह आलस्य को अपने पास तक न फटकने देता था।

अपने कर्म्मचारियों और सेवकों पर भी उसका वड़ा प्रेम था। वे भी उसे भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। जो कुछ उन्हें माँगना होता था, निःसङ्कोच वे माँग लेते थे। उनकी प्रार्थनाओं को प्रसन्नतापूर्वक सुन कर वह इस तरह उनकी पूर्त्ति करता था कि प्रार्थियों को शीघ्र ही उनका वाञ्छित फल मिल जाता था। अतएव उसके सारे अधिकारी, कर्मचारी और सेवक उसके क्रीतदास से हो गये। यही नहीं, प्रजा भी उस पर अत्यन्त अनुरक्त हो गई। सावन के महीने की वदौलत नदियाँ जैसे वढ़ जाती हैं वैसे ही अतिथि के पिता कुश की वदौलत उसकी प्रजा की वढ़ती हुई थी। परन्तु पिता के अनन्तर जव अतिथि राजा हुआ तव उसके राज्य में, भादों के महीने में नदियों ही की तरह, प्रजा की पहले से भी अधिक वढ़ती हो गई।

जो कुछ उसने एक दफ़े मुँह से कह दिया वह कभी मिथ्या न हुआ। जो वस्तु जिसे उसने एक दफ़े दे डाली उसे फिर कभी उससे न ली। जो कह दिया सो कह दिया; जो दे दिया सो दे दिया। हाँ, एक वात में उसने इस नियम का उल्लङ्घन अवश्य किया। वह वात यह थी कि शत्रुओं को उखाड़ कर उन्हें उसने फिर जमा दिया। चाहिए यह था कि जिनको एक दफ़े वह उखाड़ देता उन्हें फिर न जमने देता। परन्तु, इस सम्वन्ध में, उसने अपने नियम के प्रतिकूल काम करने ही में अपना गौरव समझा। क्योंकि, शत्रु का पराजय करके उसे फिर उसका राज्य दे देना ही अधिक

महत्ता का सूचक है । यौवन, रूप और प्रभुता—इनमें से एक के भी होने से मनुष्य मतवाला हो जाता है; उसमें मद आ जाता है । परन्तु अतिथि में यद्यपि ये तीनों बातें मौजूद थीं तथापि वे सब मिल कर भी उसके मन में मद न उत्पन्न कर सकीं ।

इस प्रकार उसकी प्रजा का प्रेम, उसके अनुपम गुणों के कारण, प्रति दिन, उस पर बढ़ता ही चला गया । फल यह हुआ कि नया पौधा जैसे अच्छी ज़मीन पाने पर अपनी जड़ जमा लेता है वैसे ही अतिथि ने, नया राज्य पाने पर भी, अपनी प्रजा के हृदय में अपने लिए दृढ़तापूर्वक स्थान प्राप्त कर लिया । फिर क्या था । प्रजा का प्यारा हो जाने से वह शत्रुओं के लिए दुर्जय हो गया ।

अतिथि ने बाहरी वैरियों की तादृश परवा न की । उसने सोचा कि बाहरी शत्रु दूर रहते हैं और सदा शत्रुता का व्यवहार नहीं करते । फिर यह भी नहीं कि सभी बाहरी राजा शत्रुवत् व्यवहार करें । अतएव उनको वशीभूत करने की कोई जल्दी नहीं । जल्दी तो आभ्यन्तरिक शत्रुओं को वशीभूत करने की है । क्योंकि वे शरीर के भीतर ही रहते हैं और सब के सब सदा ही शत्रु-सदृश व्यवहार करते हैं । यही समझ कर पहले उसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर नामक इन छः शत्रुओं को जीत लिया ।

लक्ष्मी यद्यपि स्वभाव ही से चञ्चल है; वह एक ही जगह बहुत दिन तक नहीं रहती । तथापि सदा प्रसन्न रहने वाले हँसमुख अतिथि का सा मनमाना आश्रय पर—कसौटी पर सोने की रेखा के समान—वह उसके यहाँ अचल हो गई । अतिथि को छोड़ कर उसने और कहीं जाना ही न चाहा ।

अतिथि राजनीति का भी उत्तम ज्ञाता था । बिना वीरता दिखाये ही कूट-नीति से काम निकालने को उसने निरी कायरता समझा और बिना नीति का अवलम्बन किये केवल वीरता से कार्य्यसिद्धि करने को उसने पशुओं का सा व्यवहार समझा । अतएव जब ज़रूरत पड़ी तब उसने इन दोनों ही के संयोग से काम निकाला— वीरता भी दिखाई और नीति को भी न छोड़ा । उसने नगर नगर और गाँव गाँव में अपने गुप्तचर-रूपी किरण छोड़ दिये । फल यह हुआ कि जैसे निरभ्र सूर्य्य से कोई बात छिपी नहीं रहती वैसे

ही उसके राज्य में उससे भी कोई बात छिपी न रही। जहाँ कहीं जो कुछ हुआ सब उसको ज्ञात हो गया।

राजनीति और धर्म्मशास्त्र में जिस घड़ी जो काम करने की आज्ञा राजाओं को है वह काम उसने उसी घड़ी किया। चाहे रात हो चाहे दिन, जिस समय का जो काम था उसी समय उसने कर डाला। इस नियम में कभी उससे त्रुटि न होने पाई।

मन्त्रियों के साथ यद्यपि वह प्रति दिन मन्त्रणा करता था—यद्यपि कोई दिन ऐसा न जाता था कि वह अपने मन्त्रियों के साथ गुप्त विचार न करता हो—तथापि, गुप्त मन्त्रणाओं के सम्बन्ध में प्रति दिन परस्पर विचार और वाद-विवाद होने पर भी, उनका लवलेश भी बाहर के लोगों को न मालुम होता था। बात यह थी कि मन्त्रणाओं के बाहर निकलने के द्वार उसने बड़ी ही दृढ़ता से बन्द कर दिये थे। उसने प्रबन्ध ही ऐसा कर दिया था कि उसकी गुप्त बातें मन्त्रियों के सिवा और किसी को मालूम न हों।

अनेकों जासूस जो उसने रख छोड़े थे उनमें यह विशेषता थी कि उन्हें एक दूसरे का कुछ भी हाल न मालूम था। उनका काम शत्रुओं की ख़बर रखनाही न था, मित्रों की भी ख़बर रखने की उन्हें आज्ञा थी। अतिथि को उनसे शत्रुओं और मित्रों, दोनों, का क्षण क्षण का हाल मालूम हो जाता था। सोने के समय अतिथि आनन्द से सोता ज़रूर था; परन्तु उस समय भी वह अपने जासूसों की बदौलत जागा हुआ ही सा रहता था। क्योंकि, उसके सोते समय जो घटनायें होती थीं उनकी भी रिपोर्ट उस तक पहुँच जाती थी।

शत्रुओं पर आक्रमण करने की उसमें यथेष्ट शक्ति थी। वह किसी बात में निर्बल न था। परन्तु, फिर भी, उसने बड़े बड़े दृढ़ क़िले बनवाये थे। उन्हीं में वह रहता था। इसका कारण भय न था। हाथियों के मस्तक विदीर्ण करनेवाला सिंह क्या भय से थोड़े ही गिरि-गुहा के भीतर सोता है? वह तो उसका स्वभावही है। इसी तरह क़िले बनवाना और उनमें रहना अतिथि का स्वभावही था। डर से वह ऐसा न करता था।

जितने काम वह करता था ख़ूब सोच समझ कर करता था। काम भी वह वही करता था जिनसे उसे विश्वास हो जाता था कि सुख, समृद्धि

और कल्याण की प्राप्ति होगी। फिर, किसी काम का आरम्भ करके वह उसे देखता रहता था। इससे उसमें कोई विघ्न न आता था। उसके सारे उद्योग—गर्भ में ही पकनेवाले धानों की तरह—भीतरही भीतर परिपक्व होते रहते थे। अच्छी तरह परिपाक हो चुकने पर कहीं उनका पता और लोगों को लगता था। इतना चतुर और इतना ऐश्वर्य्यवान् होने पर भी उसने कभी कुमार्ग में पैर न रक्खा। सदा सुमार्ग ही का उसने अवलम्बन किया। समुद्र बढ़ता है तब क्या वह मनमानी जगह से थोड़ेही बह निकलता है। बहता है तो नदी के मुहाने से ही बहता है, और कहीं से नहीं।

सुमार्गगामी होने के सिवा अतिथि ने प्रजारञ्जन को भी अपना बहुत बड़ा कर्त्तव्य समझा। प्रजा की अरुचि और अप्रसन्नता दूर करने की यद्यपि उसमें पूर्ण शक्ति थी—यद्यपि वह इतना सामर्थ्यवान् था कि प्रजा के असन्तोष और वैराग्य को तत्कालही दूर कर सकता था—तथापि उसने ऐसा कोई कामही न होने दिया जिससे उसकी प्रजा अप्रसन्न होती और जिसके दुष्परिणाम का उसे प्रतीकार करना पड़ता। ऐसाही उचित भी था। किसी रोग की रामबाण औषध पास होने पर भी उस रोग को न उत्पन्न होने देनाही बुद्धिमानी है।

राजनीतिज्ञ राजा अतिथि यद्यपि बड़ा पराक्रमी और बड़ा शक्तिशाली था, तथापि उसने अपने से कमज़ोरही शत्रु पर चढ़ाइयाँ कीं। अपने से अधिक बलवान् पर तो क्या, समबल वाले वैरी पर भी उसने कभी चढ़ाई न की। दावानल, पवन की सहायता पाने पर भी, जलाने के लिए पानी को नहीं ढूँढ़ता फिरता। वह चाहे कितनाही प्रज्वलित क्यों न हो, और उसे चाहे कितनेही प्रचण्ड पवन की सहायता क्यों न मिले, पानी को वह नहीं जला सकता। इसी से वह उसे ढूँढ़ कर जलाने की चेष्टा नहीं करता। और, यदि, मूर्खतावश चेष्टा करे भी, तो भी उलटा उसी की हानि हो—पानी स्वयं ही उसे बुझा दे। अतिथि को तो राजनीति का उत्तम ज्ञान था। इससे उसने भी इसी दावानलवाली नीति का अवलम्बन किया।

धर्म्म, अर्थ और काम—इन तीनों को अतिथि ने समदृष्टि से देखा। न किसी पर उसने विशेष अनुरागही प्रकट किया और न किसी पर विशेष विरागही प्रकाशित किया। न उसने अर्थ और काम से धर्म्म को

बाधा पहुँचने दी और न धर्म्म से अर्थ और कामही की हानि होने दी। इसी तरह न उसने अर्थ से काम को और न काम से अर्थ को ही क्षतिग्रस्त होने दिया। तीनों को उसने एक सा समझा; किसी के साथ पक्षपात न किया।

मित्र भी उसने बहुत समझ बूझ कर बनाये। उसने सोचा कि हीनों को मित्र बनाने से वे कुछ भी उपकार नहीं कर सकते और बलवानों को मित्र बनाने से वे उपद्रव करने लगते हैं। अतएव मध्यम शक्ति वालों ही को मित्र बनाना चाहिए। यही समझ कर उसने ऐसों को मित्र बनाया जो न तो हीन ही थे और न बलवान् ही थे।

यदि किसी पर चढ़ाई करने की आवश्यकता जान पड़ी तो बिना सोचे समझे कभी उसने युद्ध-यात्रा न की। पहले उसने अपनी और अपने शत्रु की सेना के बलाबल का विचार किया; फिर देश और काल आदि का। तदनन्तर, यदि उसने सब बातें अपने अनुकूल देखीं और शत्रु उसे अपने से कमज़ोर मालूम हुआ, तो वह उस पर चढ़ गया। अन्यथा चुपचाप अपने घर बैठा रहा।

राजा के लिए ख़ज़ाने की बड़ी ज़रूरत होती है। जिसके पास ख़ज़ाना नहीं वह निर्बल समझा जाता है; अन्य नरेश उससे नहीं डरते और उसका समुचित आदर भी नहीं करते। ख़ज़ाने से राजाही को नहीं, और लोगों को भी बहुत आसरा रहता है। देखिए न, चातक जल भरे मेघही की स्तुति करते हैं, निर्जल मेघ की नहीं। यही सोच कर अतिथि ने ख़ूब अर्थ-सञ्चय करके अपना ख़ज़ाना बढ़ाया। लोभ के वशीभूत होकर उसने ऐसा नहीं किया। सिर्फ़ यह जान कर धनसञ्चय किया कि उससे बहुत काम निकलता है।

अपने वैरियों के उद्योगों पर उसने सदा कड़ी नज़र रक्खी। जहाँ उसने देखा कि कोई उसके प्रतिकूल कुछ उद्योग कर रहा है तहाँ उसके उद्योग को उसने तुरन्तही विफल कर दिया। पर उसने अपने उद्योगों को शत्रुओं के द्वारा ज़रा भी हानि न पहुँचने दी। इसी तरह वह अपनी कमज़ोरियों को तो छिपाये रहा, पर जिस बात में शत्रुओं को कमज़ोर देखा उसी को लक्ष्य करके उन पर उसने प्रहार किया।

दण्डधारी राजा अतिथि ने अपनी विपुल सेना को सदाही प्रसन्न

और सन्तुष्ट रक्खा। यहाँ तक कि उसने उसे अपने शरीर के सदृश समझा; जितनी परवा उसने अपने शरीर की की उतनीही सेना की भी। सच तो यह है कि उसकी सेना और उसकी देह दोनों तुल्य थीं भी। जिस तरह उसके पिता ने पाल पोस कर उसकी देह को बड़ा किया था उसी तरह उसने सेना की भी नित्य वृद्धि की थी। जिस तरह उसने शस्त्र-विद्या सीखी थी उसी तरह उसकी सेना ने भी सीखी थी। जिस तरह युद्ध करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था उसी तरह सेना भी युद्ध ही के लिए थी।

सर्प के सिर की मणि पर जैसे कोई हाथ नहीं लगा सकता वैसेही अतिथि की प्रभाव, उत्साह और मन्त्र नामक तीनों शक्तियों पर भी उसके शत्रु हाथ न लगा सके—उन्हें खींच न सके। परन्तु अतिथि ने अपने शत्रुओं की इन तीनों शक्तियों को इस तरह खींच लिया जिस तरह कि चुम्बक लोहे को खींच लेता है।

अतिथि के राज्य में व्यापार-वाणिज्य की बड़ी वृद्धि हुई। वणिक्‌लोग बड़ी बड़ी नदियों को बावलियों की तरह और बड़े बड़े दुर्गम वनों को उपवनों की तरह पार कर जाने लगे। ऊँचे ऊँचे पर्वतों पर वे घर की तरह बेखटके घूमने लगे। चोरों, लुटेरों और डाकुओं का कहीं नामोनिशान तक न रह गया। चोरों से प्रजा के धन-धान्य की और विघ्नों से तपस्वियों के तप की उसने इस तरह रक्षा की कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जितने वर्ण और ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ आदि जितने आश्रम थे सब ने उसे अपनी अपनी सम्पत्ति और तपस्या का छठा अंश प्रसन्नतापूर्वक दे दिया।

पृथ्वी तक ने उसका अंश उसे देने में आना कानी न की। वह था पृथ्वी का रक्षक। अतएव रक्षा के बदले पृथ्वी से उसे ज़रूर कुछ मिलना चाहिए था। इसी से पृथ्वी ने खानों से उसे रत्न दिये, खेतों से अनाज दिया और वनों से हाथी दिये। इस प्रकार पृथ्वी ने अतिथि का वेतन कौड़ी कौड़ी चुका दिया।

सन्धि, विग्रह आदि छः प्रकार के गुण हैं और मूल, भृत्य आदि छः प्रकार के बल भी हैं। कार्त्तिकेय के समान पराक्रमी राजा अतिथि को इन गुणों और इन बलों के प्रयोग का उत्तम ज्ञान था। अपनी अभीष्ट-सिद्धि

के लिए जिस समय जिस गुण या जिस बल के प्रयोग की आवश्यकता होती थी उस समय उसी का वह प्रयोग करता था। इस कारण उसे सदा ही सफलता होती थी। गुणों और बलों की तरह साम, दान आदि चार प्रकार की राजनीतियों की प्रयोग-विधि का भी वह उत्तम ज्ञाता था। मन्त्री, सेनापति, कोशाध्यक्ष आदि अट्ठारह प्रकार के कर्म्मचारियों में से जिसके साथ जिस नीति का अवलम्बन करने से वह कार्य्य-सिद्धि की विशेष सम्भावना समझता था उसी को काम में लाता था। फल यह होता था कि जिस उद्देश से जो काम वह करता था उसमें कभी विघ्न न आता था।

राजा अतिथि युद्ध-विद्या में भी बहुत निपुण था। वह कूट-युद्ध और धर्म्म-युद्ध दोनों की रीतियाँ जानता था। परन्तु महाधार्म्मिक होने के कारण उसने कभी कूट-युद्ध न किया; जब किया तब धर्म्म-युद्ध ही किया। जीत भी सदा उसी की हुई। बात यह है कि जीत वीर-गामिनी है। जो वीर होता है उसके पास वह—अभिसारिका नायिका की तरह—आपही चली जाती है। अतिथि तो बड़ा ही शूर-वीर था। अतएव, हर युद्ध में, जीत स्वयं ही जा जा कर उसके गले पड़ी। परन्तु जीत को बहुत दफ़े उसके पास जाने का कष्ट ही न उठाना पड़ा। राजा अतिथि का प्रताप-वृत्तान्त सुन कर ही उसके शत्रुओं का सारा उत्साह भग्न हो गया। अतएव अतिथि को उनके साथ युद्ध करने की बहुत ही कम आवश्यकता पड़ी। युद्ध उसे प्रायः दुर्लभ सा होगया। मद की उग्र गन्ध के कारण मतवाले हाथी से और हाथी जैसे दूर भागते हैं वैसे ही अतिथि के शत्रु भी उसके प्रतापपुञ्ज की प्रखरता के कारण सदा उससे दूर ही रहे। उन्होंने उसका मुक़ाबला ही न किया।

बहुत बढ़ती होने पर सागर और शशाङ्क दोनों को क्षीणता प्राप्त होती है। उनकी बढ़ती सदा ही एक सी नहीं बनी रहती। परन्तु राजा अतिथि की बढ़ती सदा एक रस ही रही। चन्द्रमा और महासागर की वृद्धि का तो उसने अनुकरण किया; पर उनकी क्षीणता का अनुकरण न किया। वह बढ़ कर कभी क्षीण न हुआ।

अतिथि की दानशीलता भी अद्वितीय थी। कोई भी साक्षर सज्जन, चाहे वह कितना ही दरिद्री क्यों न हो, यदि उसके पास याचक बन कर

गया तो उस ऐश्वर्य्यशाली ने उसे इतना धन दिया कि वह याचक स्वयं ही दाता बन गया—उसका आचरण मेघों का सा हो गया। मेघ जैसे पहले तो समुद्र के पास याचक बन कर जल लेने जाते हैं, पर पीछे से उसी जल का दान वे दूसरों को देते हैं, वैसे ही अतिथि के याचक भी उससे अनन्त धनराशि पा कर और उसे औरों को देकर दाता बन गये।

अतिथि ने जितने काम किये सब स्तुतियोग्य ही किये। कभी उसने कोई काम ऐसा न किया जो प्रशंसायोग्य न हो। परन्तु, सर्व्वथा प्रशंसनीय होने पर भी, यदि कोई उसकी स्तुति करता तो वह लज्जित होकर अपना सिर नीचा कर लेता। वह प्रशंसा चाहता ही न था। प्रशंसकों और स्तुतिकर्त्ताओं से वह हार्दिक द्वेष रखता था। तिस पर भी उसका यश कम होने के बदले दिन पर दिन बढ़ता ही गया। उदित हुए सूर्य्य की तरह अपने दर्शन से प्रजा के पाप, और तत्त्वज्ञान के उपदेश से प्रजा के अज्ञानरूपी तम, को दूर करके उसने अपने प्रजा-वर्ग को सदा के लिए अपने अधीन कर लिया। उसके गुणों पर उसके शत्रु तक मोहित हो गये। कलाधर की किरणें कमलों के भीतर, और दिनकर की किरणें कुमुद-कोशों के भीतर, नहीं प्रवेश पा सकतीं। परन्तु अतिथि जैसे महागुणी के गुणों ने उसके वैरियों के हृदयों तक में प्रवेश पा लिया।

अतिथि ने साधारण राजाओं के लिए अति दुष्कर अश्वमेध-यज्ञ भी कर डाला। इस कारण उसे दिग्विजय करना पड़ा। यद्यपि नीति में लिखा है कि छल से भी वैरी को जीतना चाहिए। अश्वमेध जैसे कार्य्य के निमित्त युद्ध करने में इस नीति के अनुसार काम करना तो और भी अधिक युक्तिसङ्गत था। तथापि राजा अतिथि ने धर्म्म के अनुकूल ही युद्ध करके दिग्विजय किया। अधर्म्म और अन्याय का उसने एक बार भी अवलम्बन न किया।

इस प्रकार सदा ही शास्त्रसम्मत मार्ग पर चलने के कारण अतिथि का प्रभाव इतना बढ़ गया कि वह—देवताओं के देवता इन्द्र के समान—राजाओं का भी राजा हो गया।

राजा अतिथि को इन्द्र आदि चार दिक्पालों, पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों और महेन्द्र आदि सात कुल-पर्व्वतों के सदृश ही काम करते देख,

साधर्म्य के कारण, सब लोग अतिथि को पाँचवाँ दिक्पाल, छठा महाभूत और आठवाँ कुल-पर्व्वत कहने लगे।

राजा अतिथि के प्रताप और प्रभाव का सर्वत्र सिक्का बैठ गया। देवता लोग जैसे देवेन्द्र की आज्ञा को सिर झुका कर मानते हैं वैसे ही शासनपत्रों में दी गई राजा अतिथि की आज्ञा को, देश-देशान्तरों तक के भूपाल, अपने छत्रहीन सिर झुका झुका कर, मानने लगे। अश्वमेध-यज्ञ में उसने ऋत्विजों को इतना धन देकर उनका सम्मान किया कि वह भी कुवेर कहा जाने लगा—उसके और कुवेर के काम में कुछ भी अन्तर न रह गया।

राजा अतिथि के राजत्व-काल में इन्द्र ने यथासमय जल बरसाया। रोगों की वृद्धि रोक कर यम ने अकालमृत्यु को दूर कर दिया। जहाज़ों और नावों पर आने जाने वालों के सुभीते के लिए वरुण ने जलमार्गों को हर तरह सुखकर और सुरक्षित बना दिया। अतिथि के पूर्व्वजों के लिहाज़ से कुवेर ने भी उसके ख़ज़ाने को ख़ूब भर दिया। अतएव यह कहना चाहिए कि दिक्पालों ने—दण्ड के डर से अतिथि के वशीभूत हुए लोगों के सदृश ही—उसके साथ व्यवहार किया। अर्थात् वे भी उसके अधीन से होकर उसके काम करने लगे।

अठारहवाँ सर्ग।

—:o:—

अतिथि के उत्तरवर्त्ती राजाओं की वंशावली।

शत्रुओं का संहार करनेवाले अतिथि का विवाह निषधनरेश की कन्या से हुआ था। वही उसकी प्रधान रानी थी। उसी की कोख से उसे निषध नाम का एक पुत्र मिला। बल में वह निषधपर्व्वत से किसी तरह कम न था। अतिथि ने जब देखा कि मेरा पुत्र महापराक्रमी है और ना की रक्षा का भार उठा सकता है तब उसे उतना ही आनन्द हुआ तना कि सुवृष्टि के योग से परिपाक को पहुँचे हुए धान के खेत देख कर सानों को होता है। अतएव उसने निषध को राजा बना दिया और प शब्द, रूप, रस आदि का सुख चिरकाल तक भोग कर, अपने कुमुद-दृश शुभ्र कर्म्मों से पाये हुए स्वर्ग को चला गया।

कुश के पौत्र निषध के लोचन कमल के समान सुन्दर थे; उसका हृदय ासागर के समान गभीर था; और उसकी भुजायें नगर के फाटक की ला (लोह-दण्ड) के समान लम्बी और पुष्ट थीं। वीरता में तो उसकी ावरी करनेवाला कोई था ही नहीं। पिता के अनन्तर एकच्छत्र राजा कर उसने बड़ी ही योग्यता से ससागरा पृथ्वी का शासन किया।

निषध के नल नामक पुत्र हुआ। उसके मुख की कान्ति कमल के ान और तेज अनल के समान था। पिता के पश्चात् रघुवंश की राज-मी उसे ही प्राप्त हुई। उसने अपने वैरियों के सेना-समूह को इस तरह -भ्रष्ट कर डाला जिस तरह कि हाथी नरकुल को तोड़ मरोड़ कर फेंक ा है।

नभश्चरों, अर्थात् गन्धर्व्वादिकों, के द्वारा गाये गये यशवाले राजा नल

ने नभ नामक पुत्र पाया। उसका शरीर नभस्तल (आकाश) के समान श्याम था। नभोमास, अर्थात् सावन के महीने, की तरह वह अपनी प्रजा का प्यारा हुआ।

नल बड़ा ही धर्मिष्ठ था। अतएव नभ के बड़े होने पर जब नल ने देखा कि वह राजा होने योग्य है तब उत्तर-कोशल का राज्य उसे दे दिया। इस समय नल बूढ़ा हो चला था। बुढ़ापा आ गया देख उसने परलोक बनाने का विचार किया। उसने सोचा कि अब ऐसा काम करना चाहिए जिसमें फिर देह धारण करने का कष्ट न उठाना पड़े। यह निश्चय करके वह मृगों के साथ वन में विहार करने के लिए चला गया—वह वान-प्रस्थ हो गया।

राजा नभ के पुण्डरीक नामक पुत्र हुआ। पुण्डरीक नाम का दिग्गज जैसे अन्य हाथियों के लिए अजेय है वैसे ही कुमार पुण्डरीक भी, बड़े होने पर, अन्य राजाओं के लिए अजेय हो गया। पिता के शान्तिपूर्व्वक शरीर छोड़ने पर राज-लक्ष्मी ने उसका इस तरह सेवन किया जिस तरह कि पुण्डरीक (सफ़ेद कमल) लिये हुए लक्ष्मी पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) का सेवन करती है।

पुण्डरीक बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसका धन्वा कभी विफल न गया। जिस काम के लिए उसने उसे उठाया उसे करके ही छोड़ा। इस पुण्डरीक नामक अमोघधन्वा राजा के क्षेमधन्वा नामक बड़ा ही शान्तिशील पुत्र हुआ। ज्योंही वह प्रजाजनों की रक्षा करने और उन्हें क्षेमपूर्व्वक रखने योग्य हुआ त्योंही पिता पुण्डरीक ने उसे पृथ्वी सौंप दी और आप पहले से भी अधिक शान्त बन कर तपस्या करने चला गया।

क्षेमधन्वा के देवताओं के समान प्रभावशाली देवानीक नामक पुत्र हुआ। वह ऐसा प्रतापी हुआ कि देवताओं तक में उसकी प्रसिद्धि हुई—स्वर्ग तक में उसके यशोगीत गाये गये। वीर वह इतना हुआ कि रण में कभी पीछे न रहा; सदा सेना के आगे ही उसने क़दम रक्खा। उसने अपने पिता क्षेमधन्वा की बड़ी सेवा की। ऐसा गुणी और सुशील पुत्र पा कर पिता ने अपने भाग्य को हृदय से सराहा। उधर पुत्र देवानीक ने भी, अपने ऊपर पिता का अपार प्रेम देख कर, अपने को धन्य माना।

क्षेमधन्वा में संख्यातीत गुण थे। गुणों की वह साक्षात् खानि था।

धार्मिक भी वह बड़ा था। अनेक यज्ञ वह कर चुका था। चारों वर्णों की रक्षा का बोझ बहुत काल तक सँभालने के बाद जब उसने देखा कि मेरा पुत्र, सब बातों में, मेरे ही सदृश है तब उस बोझ को उसने उसके कन्धे पर रख दिया और आप यज्ञ करनेवालों के लोक को प्रस्थान कर गया—स्वर्ग-लोक को सिधार गया।

देवानीक का पुत्र बड़ाही जितेन्द्रिय और मधुरभाषी हुआ। अपने मृदु भाषण से उसने अपनों की तरह परायों को भी अपने वश में कर लिया। मित्र ही नहीं, शत्रु भी उसे प्यार की दृष्टि से देखने लगे। मीठे वचनों की महिमा ही ऐसी है। उनसे, और तो क्या, एक बार डरे हुए हिरन भी वश में कर लिये जा सकते हैं। इस राजा का नाम अहीनगु था। इसके भुज-बल में ज़रा भी हीनता न थी। यह बड़ा बली था। हीनजनों (नीचों) की इसने कभी सङ्गति न की। उन्हें इसने सदा दूर ही रक्खा। इस कारण, युवा होने पर भी, यह अनेक अनर्थकारी व्यसनों से विहीन रहा। इस प्रबल पराक्रमी राजा ने न्यायपूर्वक सारी पृथ्वी का शासन किया। यह बड़ा ही चतुर था। मनुष्यों के पेट तक की बातें यह जान लेता था। साम, दान, दण्ड और भेद नामक चारों राजनीतियों का सफलतापूर्वक प्रयोग करके यह चारों दिशाओं का स्वामी बन बैठा। पिता देवानीक के पश्चात् पृथ्वी पर इसका अवतार आदि-पुरुष भगवान् विष्णु के अवतार के समान था।

शत्रुओं को हरानेवाले अहीनगु की परलोकयात्रा हो जाने पर—उसके स्वर्गलोक चले जाने पर—राज-लक्ष्मी उसके पुत्र पारियात्र की सेवा करने लगी। उसका सिर इतना उन्नत था कि पारियात्र नामक पर्वत की ऊँचाई को भी उसने जीत लिया था। इसी से उसका नाम पारियात्र हुआ।

उसके बहुत ही उदारशील पुत्र का नाम शिल हुआ। उसकी छाती शिला की पटिया के समान विशाल थी। उसने अपने शिलीमुखों (बाणों) से अपने सारे वैरियों को जीत लिया। तथापि, यदि किसी ने उसकी वीरता की प्रशंसा की तो उसे सुन कर उसने शालीनता से सदा ही अपना सिर नीचा कर लिया। उसके प्रशंसनीय पिता पारियात्र ने उसे विशेष बुद्धिमान् देख कर, तरुण होते ही, युवराज बना दिया। उसने मन में कहा कि राजा

तो एक प्रकार के बँधुवे हैं । राजकीय कार्यों में वे सदा बँधे से रहते हैं। इस कारण उन्हें सुखोपभोग के लिए कभी छुट्टी ही नहीं मिलती । अतएव कुमार शिल को राज्य का भार सौंप कर आप अनेक प्रकार के सुख भोगने लगा । चिरकाल तक वह विषयों के उपभोग में लगा रहा । तिस पर भी उसकी तृप्ति न हुई । उसकी सुन्दरता और शक्ति क्षीण न हुई थी कि जरा (वृद्धावस्था) ने उस पर आक्रमण किया । औरों के साथ राजा को विहार करते देख जरा को ईर्ष्या उत्पन्न हुई । जरा में स्वयं विहार करने की शक्ति न थी । अतएव उसकी ईर्ष्या व्यर्थ थी । तथापि, फिर भी, जरा से न रहा गया—दूसरों का सुख उससे न देखा गया । फल यह हुआ कि पारियात्र को औरों से छुड़ा कर उसे वह परलोक को हर ले गई । वह बुढ़ापे का शिकार हो गया ।

राजा शिल का पुत्र उन्नाभ नाम से प्रसिद्ध हुआ । उसकी नाभि बड़ी गहरी थी । वह कमल-नाभ (विष्णु) के समान प्रभावशाली था। अपने प्रताप और पौरुष से वह सारे राजाओं के मण्डल की नाभि बन बैठा । सबको अपने अधीन करके आप चक्रवर्ती राजा हो गया ।

उसके अनन्तर वज्रणाभ नामक उसका पुत्र राजा हुआ । वज्रधारी इन्द्र के समान प्रभाव वाला वह राजा जिस समय समर में वज्र के सदृश घोर घोष करता उस समय चारों तरफ़ हाहाकार मच जाता । वह वज्र अर्थात् हीरेरूपी आभूषण धारण करने वाली सारी पृथ्वी का पति हो गया और चिरकाल तक उसका उपभोग करके, अंत समय आने पर, अपने पुण्यों से प्राप्त हुए स्वर्ग को सिधारा ।

वज्रणाभ की मृत्यु के अनन्तर, समुद्र-पर्य्यन्त फैली हुई पृथ्वी ने, खानियों से नाना प्रकार के रत्नरूपी उपहार लेकर, शङ्खण नामक उसके पुत्र की शरण ली । इस राजा ने भी अपने शत्रुओं को जड़ से उखाड़ कर और बहुत दिन तक राज्य करके परलोक का रास्ता लिया ।

उसके मरने पर सूर्य्य के समान तेजस्वी और अश्विनीकुमार के समान सुन्दर उसके पुत्र को पिता की राजपदवी प्राप्त हुई । दिग्विजय करते करते वह महासागर के तट तक चला गया । वहाँ उसके सैनिक और अश्व (घोड़े) कई दिन तक ठहरे रहे । इसीसे इतिहासकार उसे व्युषिताश्व नाम से

पुकारते हैं। पृथ्वी के उस ईश्वर ने विश्वेश्वर (महादेव) की आराधना करके विश्वसह नामक पुत्र के रूप में अपनी आत्मा को प्रकट किया। उसका पुत्र सारे विश्व का प्यारा और सारी विश्वम्भरा (पृथ्वी) का पालन करने योग्य हुआ।

परम नीतिज्ञ विश्वसह राजा ने हिरण्यनाभ नाम का पुत्र पाया। हिरण्याक्ष के वैरी विष्णु के अंश से उत्पन्न होने के कारण वह अत्यन्त बलवान् हुआ। पवन की सहायता पाकर हिरण्यरेता (अग्नि) जैसे पेड़ों को असह्य हो जाता है वैसे ही इस बलवान् पुत्र की सहायता पाकर विश्वसह अपने वैरियों को असह्य हो गया। पुत्र की बदौलत विश्वसह पितरों के ऋण से छूट गया। अतएव उसने अपने को बड़ा ही भाग्यशाली समझा। उसने सोचा कि जितने सुख इस जन्म में मैंने भोगे हैं वे सब अनन्त और अविनाशी नहीं हैं। इस कारण ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे मुझे अनन्त सुखों की प्राप्ति हो। अतएव बूढ़े होने पर उसने गाँठों तक लम्बी भुजाओं वाले अपने पुत्र को तो राजा बना दिया और आप वृक्षों की छाल के कपड़े पहन कर वनवासी हो गया।

हिरण्यनाभ बड़ा नामी राजा हुआ। उत्तर-कोशल के सूर्यवंशी राजाओं का वह भूषण समझा गया। उसने कौशल्य नामक औरस पुत्र पाया, जो दूसरे चन्द्रमा के समान—आँखों को आनन्द देनेवाला हुआ। महायशस्वी कौशल्य की कीर्त्ति-कौमुदी का प्रकाश ब्रह्मा की सभा तक पहुँचा। उसके महाब्रह्मज्ञानी ब्रह्मिष्ठ नामक पुत्र हुआ। उसी को अपना राज्य देकर राजा कौशल्य ब्रह्मगति को प्राप्त हो गया—वह मुक्त हो गया।

ब्रह्मिष्ठ अपने वंश में शिरोमणि हुआ। उसने बड़ी ही योग्यता से प्रजा का पालन और पृथ्वी का शासन किया। उसके शासन और प्रजा-पालन में कभी किसी तरह का विघ्न न हुआ। उसके सुशासन के चिह्न पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हो गये। ऐसे प्रजापालक राजा को पाकर, आँखों से आनन्द के आँसू बहाती हुई प्रजा ने, चिरकाल तक, सुख और सन्तोष का उपभोग किया।

राजा ब्रह्मिष्ठ के पुत्र नाम का एक नामी पुत्र हुआ। उसने विष्णु के समान सुन्दर रूप पाया। उस कमल-पत्र-समान सुन्दर नेत्रवाले पुत्र ने

अपने पिता की अलौकिक सेवा करके अपनी आत्मा को पुनीत कर दिया। इस कारण उसका पिता, ब्रह्मिष्ठ, पुत्रवानों में सब से अधिक भाग्यशाली समझा गया। ब्रह्मिष्ठ ने जब देखा कि अब मेरे वंश के डूबने का डर नहीं तब उसने विषयोपभोग की तृष्णा छोड़ दी। सदैव योगक्रियाओं से अपने चित्त को शुद्ध कर वह पुष्कर नामक तीर्थ को चला गया। वहाँ स्नान करके वह ब्रह्मपद को प्राप्त हो गया। उसने इस लोक में इतने इन्द्र-कार्य्य किये थे कि यह बात पहलेही से मालूम सी हो गई थी कि कुछ दिनों पर वह इन्द्र का सख्य ही प्राप्त हो जायगा। वही हुआ। इन्द्र का मित्र बन कर वह इन्द्रही के समान दिव्यसुख भोगने लगा।

राजा पुत्र की रानी ने, पौष की पूर्णमासी के दिन, पुष्य नाम का पुत्र प्रसव किया। उसकी कान्ति पद्मराग-मणि की कान्ति से भी अधिक उज्ज्वल हुई। पुष्य नक्षत्र के समान उस राजा के उदित होने पर, उसकी प्रजा को सब तरह की तुष्टि और पुष्टि प्राप्त हुई। पुष्य बड़ाही सुत्राम-सदृश राजा हुआ। जब उसकी रानी के पुत्र हुआ तब उसने पृथ्वी का भार अपने पुत्रही को दे दिया। बात यह हुई कि यह राजा जन्म-मरण से व्याकुल हो गया था। यह न चाहता था कि फिर उसका जन्म हो। इस लिए ब्रह्मवेत्ता जैमिनि का यह शिष्य हो गया। जैमिनिजी त्रिकाल योगी थे। उनसे योग-विद्या का अध्ययन करके, अन्तकाल आने पर, राजा पुष्य ने समाधि-द्वारा शरीर छोड़ दिया। उसकी इच्छा भी सफल हो गई। वह मुक्त हो गया और फिर कभी उसका जन्म न हुआ।

उसके अनन्तर ध्रुव के समान कीर्तिशाली उसके ध्रुवसन्धि नामक पुत्र ने अयोध्या का राज्य पाया। यह बड़ाही सत्यप्रतिज्ञ राजा हुआ। उसके सामने उसके सभी शत्रुओं को सिर झुकाना पड़ा। उसने इस योग्यता से राज्य किया कि उसके वैरियों को जो हुई सन्धियों में कभी किसी को दोष निकालने का मौक़ा न मिला। जो सन्धि एक दफ़े हुई वह वैसीही अटल बनी रही। कभी उसके संशोधन की आवश्यकता न पड़ी।

उसके द्वितीया के चन्द्रमा के समान दर्शनीय सुदर्शन नाम का पुत्र हुआ। मृगों के समान बड़ी बड़ी आँखों वाले ध्रुवसन्धि को आखेट से बड़ा प्रेम था। फल यह हुआ कि वनों में सिंह के समान उस बलवान्

राजा ने शिकार खेलते समय सिंह से मृत्यु पाई । उस समय उसका पुत्र सुदर्शन बहुत छोटा था ।

ध्रुवसन्धि के स्वर्गगामी होने पर अयोध्या की प्रजा अनाथ हो गई । उसकी दीन दशा को देख कर ध्रुवसन्धि के मंत्रियों ने, एकमत होकर, उसके कुल के एक मात्र तन्तु सुदर्शन को विधिपूर्वक अयोध्या का राजा बना दिया । ध्रुवसन्धि के वही एक पुत्र था । अतएव उसे राजा बना देने के सिवा अयोध्या की प्रजा को सनाथ करने का और कोई उपाय ही न था । उस बाल-राजा को पाने पर रघुकुल की दशा नवीन चन्द्रमा वाले आकाश से, अथवा अकेले सिंह-शावक वाले वन से, अथवा एकमात्र कमल-कुड्मल वाले सरोवर से उपमा देने योग्य हो गई ।

जिस समय शिशु सुदर्शन ने अपने सिर पर किरीट और मुकुट धारण किया उस समय अयोध्या की प्रजा को बहुत सन्तोष हुआ । सब लोगों ने कहाः—"कुछ हर्ज नहीं जो हमारा राजा अभी बालक है । किसी दिन तो वह अवश्यही तरुण होगा । और, तरुण होने पर वह अवश्यही पिता की बराबरी करेगा । क्योंकि, हाथी के बच्चे के समान छोटा भी बादल का टुकड़ा, सामने की पवन पाकर, क्या सभी दिशाओं में नहीं फैल जाता ?"

सुदर्शन की उम्र, उस समय, यद्यपि केवल छः ही वर्ष की थी तथापि वह हाथी पर सवार होकर नगर में कभी कभी घूमने के लिए राजमार्ग से निकलने लगा । जिस समय वह निकलता, राजसी पोशाक में बड़ी सज-धज से निकलता और महावत उसे थाँभे रहता । उसे जाते देख अयोध्या-वासी, उसके बालवयस का कुछ ख़याल न करके, उसका उतनाही गौरव करते जितना कि वे उसके पिता का किया करते थे ।

जिस समय सुदर्शन अपने पिता के सिंहासन पर आसीन होता उस समय, शरीर छोटा होने के कारण, सिंहासन की सारी जगह उससे व्याप्त न हो जाती । वह बीच में बैठ जाता और आस पास सिंहासन ख़ाली रह जाता । परन्तु शरीर से वह छोटा था तो क्या हुआ, तेजस्विता में वह बहुत बढ़ा चढ़ा था । उसके शरीर से सुवर्ण के समान चमकीला तेज जो निकलता था वह चारों तरफ़ इतना फैल जाता था कि उससे सारा सिंहासन भर सा जाता था । अतएव उसका कोई भी अंश ख़ाली न मालूम होता

था। सिंहासन पर बैठकर वह महावर लगे हुए अपने पैर नीचे लटका देता। पर वे सोने की उस चौकी तक न पहुँचते जो सिंहासन के नीचे पैर रखने के लिए रक्खी रहती थी। वह बच्चा था ही। अतएव पैर छोटे होने के कारण ऊपरही कुछ दूर लटके रह जाते। सैकड़ों अधीन राजा अपने रत्नखचित और उच्च मुकुट झुका झुका कर उन्हीं छोटे छोटे पैरों की वन्दना करते। मणि छोटी होने पर भी, अपनी प्रकृष्ट प्रभा के कारण, जैसे 'महानील' मणि ही कहलाती है—उसका 'महानील' नाम मिथ्या नहीं होता—वैसेही, यद्यपि सुदर्शन निरा बालक था, तथापि प्रभावशाली होने के कारण, 'महाराज' की पदवी उसके विषय में मिथ्या न थी—वह सर्वथा उसके योग्यही थी।

जिस समय सभा में आकर सुदर्शन बैठता उस समय उसके दोनों तरफ़ चमर चलने लगते और उसके सुन्दर कपोलों पर लटके हुए काकपक्ष बहुतही भले मालूम होते। इस बाल-राजा के मुख से जो वचन निकलते उनका सर्वत्र परिपालन होता; कोई भी ऐसा न था जो उनका उल्लङ्घन कर सकता। समुद्र के तट तक उसकी आज्ञा के अक्षर अक्षर का पालन होता।

उसके सिर पर ज़री का बहुमूल्य पट्टवस्त्र और ललाट पर मनोहारी तिलक बहुतही शोभा पाता। बालपन के कारण उसके मुख पर मुसकराहट सदाही विराजमान रहती। उसके प्रभाव का यह हाल था कि जिस तिलक से उसने अपने ललाट की शोभा बढ़ाई उसी से उसने अपने शत्रुओं की स्त्रियों के ललाट सूने कर दिये—शत्रुओं का संहार करके उनकी स्त्रियों को विधवा कर डाला।

उसका शरीर सिरस के फूल से भी अधिक सुकुमार था। उसके अङ्ग इतने कोमल थे कि आभूषणों का बोझ भी उसे कष्टदायक ज्ञात होता था। तिस पर भी स्वभावही से वह इतना सामर्थ्यशाली था कि पृथ्वी का अत्यन्त भारी बोझ उठाने में भी उसे प्रयास न पड़ा।

सुदर्शन जब कुछ बड़ा हुआ तब उसने विद्याध्ययन आरम्भ किया। उससे पट्टी पर लिखी हुई वर्णमाला का अभ्यास कराया जाने लगा। जब तक वह उस अक्षरमालिका को पूरे तौर पर ग्रहण करे तब तक वह विद्यावृद्ध पुरुषों की संगति से दण्डनीति के सारे फलों से युक्त हो गया। लिखना-

पढ़ना अच्छी तरह जानने के पहलेही वह दण्डनीति का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके न्यायासन पर बैठने योग्य हो गया।

राज-लक्ष्मी यह चाहती थी कि वह सुदर्शन के वक्षःस्थल में निवास करे। परन्तु बालक होने के कारण सुदर्शन की छाती कम चौड़ी थी। अतएव वह लक्ष्मी के निवास के लिए काफ़ी न थी। यह देख कर लक्ष्मी उसके युवा होने की राह बड़े चाव से देखने लगी। परन्तु उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ी हुई थी कि तब तक ठहरना उसके लिए असह्य हो गया। अतएव सुदर्शन के छोटेपन के कारण लज्जित सी होती हुई उसने, सुदर्शन के छत्र की छाया के बहाने, उसे गले से लगाया।

वयस कम होने के कारण न सुदर्शन की भुजायें रथ के जुवे के समान लम्बी और पुष्ट थीं, न धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ के चिह्नही उन पर थे, और न खड्ग की मूठही उन्होंने तब तक स्पर्श की थी—तथापि वे इतनी प्रभावशालिनी थीं कि उन्होंने बड़ी ही योग्यता से पृथ्वी की रक्षा की; इस काम को उन्होंने बहुत ही अच्छी तरह किया। बात यह है कि तेजस्वियों की वयस नहीं देखी जाती।

जैसे जैसे दिन बीतने लगे वैसेही वैसे सुदर्शन के शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी बढ़ने और पुष्ट होने लगे। यही नहीं, किन्तु, उसके वंश के जो स्वाभाविक गुण थे वे भी उसमें वृद्धि पाने लगे। थे वे पहले भी, परन्तु सूक्ष्मरूप में थे। वयस की वृद्धि के साथ बढ़ते बढ़ते वे बहुत अधिक हो गये। ये वे गुण थे जिन्हें सब लोग बहुत पसन्द करते थे और जिन्हें देख कर प्रजा प्रसन्न होती थी।

सुदर्शन के अध्यापकों को उसे पढ़ाने में कुछ भी परिश्रम न पड़ा। जो कुछ उसे पढ़ाया जाता उसे वह इतना शीघ्र याद कर लेता जैसे वह पूर्वजन्म का उसका पढ़ा हुआ हो। बस उसका वह स्मरण सा करके हृदयस्थ कर लेता। इस प्रकार, बहुतही थोड़े दिनों में, उसने त्रिवर्ग—अर्थात् धर्म्म, अर्थ और काम—की प्राप्ति का मूल कारण त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति नामक तीनों विद्यायें प्राप्त कर लीं। यही नहीं, किन्तु अपने बाप-दादे के प्रजावर्ग और मन्त्रिमण्डल पर भी उसने अपनी सत्ता जमा ली। साधारण शास्त्र-ज्ञान की प्राप्ति के साथ साथ उसने धनुर्विद्या का भी

अच्छा अभ्यास कर लिया। जिस समय वह अपने शरीर के अगले भाग—अर्थात् छाती—को तान कर, केशकलाप का जूड़ा सिर पर ऊँचा बाँध कर और बायें घुटने को झुका कर धनुष पर बाण चढ़ाता और उसे कान तक खींचता था उस समय उसकी शोभा देखतेही बनती थी।

यथासमय सुदर्शन को नया यौवन प्राप्त हुआ—वह यौवन जो नारियों के नेत्रों को पीने के लिए शहद है, जो मनसिजरूपी वृक्ष का अनुरागरूपी कोमल-पल्लव-धारी फूल है, जो सारे शरीर का बिना गढ़ा हुआ गहना है, और जो भोग-विलास का सर्वोत्तम साधन है।

सुदर्शन के युवा होने पर उसके मन्त्रियों ने सोचा कि अब राजा का विवाह करना चाहिए, जिसमें उसके विशुद्ध वंश की वृद्धि हो। अतएव उन्होंने सम्बन्ध करने योग्य राजाओं के यहाँ, चारों तरफ़, दूतियाँ भेज दीं। ढूँढ़ ढूँढ़ कर वे रूपवती राजकन्याओं के चित्र ले आईं। उनमें से कई एक को चुन कर मन्त्रियों ने सुदर्शन का विवाह उनसे कराया। विवाह हो जाने पर देखने से मालूम हुआ कि वे राजकुमारियाँ जैसी चित्रों में चित्रित की गई थीं उससे भी अधिक रूपवती थीं। उनके साथ विवाह करने के पहलेही नव-युवक सुदर्शन राजलक्ष्मी और पृथ्वी का पाणिग्रहण कर चुका था। अतएव सुदर्शन के राजमन्दिर में आने पर वे विवाहिता राजकन्यायें लक्ष्मी और पृथ्वी की सौत बन कर रहने लगीं।

———

उन्नीसवाँ सर्ग।

—:०:—

अग्निवर्ण का आख्यान।

परम शास्त्रज्ञ और जितेन्द्रिय सुदर्शन ने बहुत काल तक राज्य किया। जब वह बूढ़ा हुआ तब अग्नि के समान तेजस्वी अपने पुत्र अग्निवर्ण को उसने अपना सिंहासन दे दिया और उसका राज्याभिषेक करके आप नैमिषारण्य को चला गया। वहाँ वह तपस्या करने लगा; परन्तु किसी फल की आशा से नहीं। निस्पृह होकर उसने तप में मन लगाया। नैमिषारण्य तीर्थ के जलाशयों में स्नान और आचमन आदि करके उसने अयोध्या की बावलियों को, कुशासन बिछी हुई भूमि पर सो कर सुकोमल शैयाओं को, और पत्तों से छाई हुई कुटी में रह कर महलों को भुला दिया।

पिता का दिया हुआ राज्य पाकर अग्निवर्ण आनन्द से उसका उपभोग करने लगा। उसकी रक्षा के लिए उसे कुछ भी परिश्रम न उठाना पड़ा। बात यह थी कि उसके पिता ने अपने भुज-बल से सारे शत्रुओं को जीत कर अपना राज्य सर्वथा निष्कण्टक कर दिया था। अतएव पृथ्वी को कण्टक-रहित करने के लिए उसके पुत्र अग्निवर्ण को प्रयास करने की आवश्यकता ही न थी। उसका सुखपूर्वक भोग करना ही उसका एक मात्र काम रह गया था। वह युवा राजा दो चार वर्ष तक तो अपने प्रजापालन-रूपी कुलोचित धर्म्म का निर्वाह करता रहा। तदनन्तर वह काम मन्त्रियों को सौंप कर आप भोग-विलास में लिप्त हो गया।

उसके महलों में दिन रात तबला ठनकने लगा। बड़े बड़े जलसे होने लगे। आज जिस ठाठ-बाट से जलसा हुआ कल उससे दूने ठाठ-बाट से हुआ। नाच-तमाशे और गाने-बजाने ने दिन दूना रात चौगुना रङ्ग जमाया।

पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले जितने विषय-सुख हैं उनके सेवन में अग्निवर्ण चूर रहने लगा। बिना विषय-सेवा के एक क्षण भी रहना उसके लिए असह्य हो गया। दिन रात वह रनिवास ही में पड़ा रहने लगा।

अपनी प्रजा को अग्निवर्ण बिलकुल ही भूल गया। दर्शन के लिए उत्सुक प्रजा की उसने कुछ भी परवा न की। जब कभी मन्त्रियों ने उस पर बहुत ही दबाव डाला तब, उनके लिहाज़ से, यदि उसने अपनी दर्शनोत्कण्ठ प्रजा को दर्शन दिया भी तो खिड़की के बाहर सिर्फ़ अपना एक पैर लटका दिया; मुख न दिखलाया। नखों की लालिमा से विभूषित—बाल-सूर्य्य की धूप छुये हुए कमल के समान—उस पैर को ही नमस्कार करके उसके सेवकों को किसी तरह सन्तोष करना पड़ा।

खिले हुए कमलों से परिपूर्ण बावलियों में प्रवेश करके, उसकी रानियों ने, जल-क्रीड़ा करते समय, कमलों को बेतरह झकझोर डाला। उनके साथ वहीं, उन्हीं बावलियों में, बने हुए क्रीड़ा-गृहों में अग्निवर्ण ने आनन्द से जल-विहार किया। जल-क्रीड़ा करने से उसकी रानियों की आँखों में लगा हुआ अञ्जन और ओठों पर लगा हुआ लाख का रङ्ग धुल गया। अतएव उनके मुख अपने स्वाभाविक भाव को पहुँच कर और भी शोभनीय हो गये। उनकी स्वाभाविक सुन्दरता ने अग्निवर्ण को पहले से भी अधिक मोह लिया।

जल-विहार कर चुकने पर अग्निवर्ण ने मद्यपान की ठानी। अतएव, हाथी अपनी हथिनियों को साथ लिये हुए जिस तरह सरोजिनी-समुदाय के पास जाता है उसी तरह वह भी अपनी रानियों को साथ लिये हुए उस जगह गया जहाँ मद्यपान का प्रबन्ध पहले ही से कर रक्खा गया था। वहाँ, एकान्त में, उसने जी भर कर अत्यन्त मादक मद्य पिया। उसने उसके प्याले अपने हाथ से रानियों को भी पिलाये। रानियों ने भी उसे अपने हाथ से मद्य पिला कर उसके प्रेम का पूरा पूरा बदला चुकाया।

अग्निवर्ण ने वीणा बजाने में हद कर दी। वीणा से उसे इतना प्रेम हुआ कि उसने उस मनोहर स्वर वाली को एक क्षण के लिए भी गोद से दूर न होने दिया। वीणा ही क्यों, और बाजे बजाने में भी उसने बड़ी निपुणता दिखाई। जिस समय नर्त्तकियाँ नाचने-गाने लगतीं उस समय

वह कण्ठ में पड़ी हुई माला और हाथ में पहना हुआ कङ्कण हिलाते हुए इस निपुणता और मनोहरतापूर्वक बाजा बजाता कि गति भूली हुई नर्त्तकियों को, उनके गुरुओं के सामने ही, वह लज्जित कर देता। सङ्गीत-विद्या में वह नर्त्तकियों से भी बढ़ गया था। अतएव यदि गाने या भाव बताने में उनसे कोई भूल हो जाती तो तुरन्त ही वह उसे पकड़ लेता। गाने और नाचने में नर्त्तकियों को बहुत परिश्रम पड़ता। उनके मुख पर पसीने के बूँद छा जाते। इससे उनके ललाट पर लगे हुए तिकल धुल जाते। जब वे थक कर नाचना बन्द कर देतीं और बैठ जातीं तब उनके तिकल-हीन मुखमण्डल देख कर अग्निवर्ण के आनन्द की सीमा न रहती। उस समय वह अपने को इन्द्र और कुवेर से भी अधिक भाग्यशाली समझता।

धीरे धीरे अग्निवर्ण की भोगलिप्सा बहुत ही बढ़ गई। कभी प्रकट कभी अप्रकट रीति से वह नित नई वस्तुओं की चाह में मग्न रहने लगा। यह बात उसकी रानियों को पसन्द न आई। अतएव वे उससे अप्रसन्न होकर उसके इस काम में विघ्न डालने लगीं। उँगली उठा उठा कर उन्होंने उसे धमकाना, भौंहें टेढ़ी करके उस पर कुटिल कटाक्षों की वर्षा करना और अपनी मेखलाओं से उसे बार बार बाँधना तक आरम्भ किया। अग्निवर्ण उन्हें धोखा देकर मनमाने काम करता। इसीसे क्रुद्ध होकर वे उसके साथ ऐसा व्यवहार करतीं।

उसकी रानियाँ उसके अनुचित बरताव से तङ्ग आ गईं। अपने ऊपर राजा का बहुत ही कम प्रेम देख कर उनका हृदय व्याकुलता से व्याप्त हो गया। हाय हाय करती और सखियों से करुणापूर्ण वचन कहती हुई वे किसी तरह अपने दिन बिताने लगीं। यद्यपि अग्निवर्ण कभी कभी, छिप कर, उनकी ये करुणोक्तियाँ सुन लेता था तथापि रानियों के रोने धोने का कुछ भी असर उसके हृदय पर न होता था। नर्त्तकियों के पास बैठने उठने की उसे ऐसी आदत पड़ गई थी कि यदि रानियों के दबाव के कारण वह उनके पास तक न पहुँच पाता तो घर पर उनकी तसवीर ही खींच कर किसी तरह अपना मनोरञ्जन करता। तसवीर खींचते समय उसकी अँगुलियाँ पसीने से तर हो जातीं। अतएव तसवीर खींचने की शलाका उसके हाथ से गिर पड़ती। परन्तु फिर भी वह इस व्यापार से

विरत न होता। समझाने, बुझाने और धमकाने से कुछ भी लाभ न होता देख अग्निवर्ण की रानियों ने एक और उपाय निकाला। उन्होंने बनावटी प्रसन्नता प्रकट करके भाँति भाँति के उत्सव आरम्भ कर दिये। इस प्रकार, उत्सवों के बहाने, उन्होंने अग्निवर्ण का बाहर जाना बन्द कर दिया। उन्होंने कहा, लावो इस छली के साथ छल करके ही अपना काम निकालें। बात यह थी कि वे अपनी प्रेम-गर्विता सपत्नियों से बेहद रुष्ट थीं। इसी से उन्होंने इस प्रकार की धोखेबाज़ी से भी काम निकालना अनुचित न समझा।

रात भर तो वह न मालूम कहाँ रहता; प्रातःकाल घर आता। उस समय उसका रूप-रङ्ग देखते ही उसकी करतूत उसकी रानियों की समझ में आ जाती। तब अग्निवर्ण हाथ जोड़ कर उन्हें मनाने की चेष्टा करता। परन्तु उसकी इस चेष्टा से उनका दुःख कम होने के बदले दूना हो जाता। जब कभी रात को सोते समय, स्वप्न में, अग्निवर्ण के मुख से उसकी किसी प्रेयसी का नाम निकल जाता तब तो उसकी रानियों के क्रोध का ठिकाना ही न रहता। वे उससे बोलतीं तो एक शब्द भी नहीं; पर रो रोकर और अपने हाथ के कङ्कण इत्यादि तोड़ तोड़ कर उसका बेतरह तिरस्कार करतीं। यह सब होने पर भी वह अपनी कुचाल न छोड़ता। वह गुप्त लता-कुञ्जों में अपने लिए फूलों की सेजें बिछवाता और वहीं मनमाने भोग-विलास किया करता।

कभी कभी भूल से वह किसी रानी को अपनी किसी प्रेयसी के नाम से पुकार देता। इस पर उस रानी को मर्म्मभेदी वेदना होती। वह, उस समय, राजा को बड़े ही हृदयदाही व्यङ्ग्य वचन सुनाती। वह कहती:— "जिसका नाम मुझे मिला है यदि उसी का जैसा सौभाग्य भी मुझे मिलता तो क्या ही अच्छा होता!"

प्रातःकाल अग्निवर्ण की शय्या का दृश्य देखते ही बन आता। कहीं उस पर कुमकुम पड़ा हुआ देख पड़ता, कहीं टूटी हुई माला पड़ी देख पड़ती, कहीं मेखला के दाने पड़े देख पड़ते, कहीं महावर के चिह्न बने हुए दिखाई देते।

कभी कभी मौज में आकर, वह किसी प्रेयसी के पैरों में आप ही

महावर लगाने बैठ जाता। परन्तु मन उसका उसकी रूपराशि और अङ्ग-शोभा देखने में इतना लग जाता कि महावर अच्छी तरह उससे न लगाते बनता। जिस काम में मन नहीं लगता वह क्या कभी अच्छा बन सकता है?

अग्निवर्ण ने कुतूहल-प्रियता की हद कर दी। जिस समय उसकी कोई रानी, एकान्त में सामने दर्पण रख कर, अपना मुँह देखती उस समय वह चुपचाप उसके पीछे जाकर बैठ जाता और मुसकराने लगता। जब उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखाई देता तब बेचारी रानी, लाज के मारे, अपना सिर नीचा करके रह जाती।

कभी कभी अग्निवर्ण यह बहाना करके बाहर जाने लगता कि इस समय मुझे अपने एक मित्र का कुछ काम करना है। उसके लिए मेरा जाना अत्यावश्यक है। परन्तु उसकी रानियाँ उसकी एक न सुनतीं। वे कहतीं:—"हे शठ! हम तेरे छल-कपट को ख़ूब जानती हैं। इस तरह अब हम तुझे नहीं भाग जाने देंगी।" यह कह कर वे उसके केश पकड़ कर बलवत् रोक रखतीं। तिस पर भी वह कभी कभी रानियों को धोखा देकर, अँधेरी रात में, निकल ही जाता। जब इस बात की ख़बर दूतियों द्वारा रानियों को मिलती तब वे भी उसके पीछे दौड़ पड़तीं और रास्ते ही से यह कह कर उसे पकड़ लातीं कि तू इस तरह हम लोगों को धोखा देकर न जाने पावेगा।

अग्निवर्ण के लिए दिन तो रात हो गई और रात दिन हो गया। दिन भर तो वह सोता और रात भर जागता। अतएव वह चन्द्रविकासी कुमुदों से परिपूर्ण सरोवर की उपमा को पहुँच गया। क्योंकि वे भी दिन को बन्द रहते और रात को खिलते हैं।

जिन गानेवालियों के ओठों और जंघाओं पर व्रण थे उन्हीं से वह कहता कि ओठों पर रख कर बाँसुरी और जङ्घाओं पर रख कर वीणा बजाओ। जब वे उसकी आज्ञा का पालन करतीं और उसकी इस धूर्त्तता को लक्ष्य करके वक्रदृष्टि द्वारा उसे रिझातीं क्या—उलाहना देतीं तब वह मन ही मन बहुत प्रसन्न होता।

नाचने-गाने में तो वह प्रवीण था ही। एकान्त में वह कायिक, वाचिक

और मानसिक—तीनों प्रकार का अभिनय नर्त्तकियों को सिखाता। फिर मित्रों के सामने वह उनसे वही अभिनय कराता। अभिनय के समय वह बड़े बड़े नाट्याचार्य्यों को भी बुलाता और उन्हें अभिनय दिखाता। यह बात वह इसलिए करता जिसमें निपुण नाट्याचार्य्य भी उस अभिनय को देख कर अवाक् हो जायँ और उन्हें उन नर्त्तकियों से हार माननी पड़े। और उनसे हारना मानों उनके गुरु स्वयं अग्निवर्ण से हारना था।

वर्षा ऋतु आने पर वह उन कृत्रिम पर्वतों पर चला गया जहाँ मतवाले मोर कूक रहे थे। वहाँ पर कुटज और अर्जुन वृक्ष के फूलों की माला धारण करके और कदम्ब के फूलों के पराग का उबटन लगा कर उसने मनमाना विहार किया। उस समय उसने अपनी मानवती महिलाओं को मनाने की ज़रूरत न समझी। उसने कहा, मनाने का श्रम मैं व्यर्थ ही क्यों उठाऊँ। बादलों की गर्जना सुनते ही उनका मान आपही आप छूट जायगा।

कार्तिक का महीना लगने--शरद ऋतु आने—पर उसने चँदोवा तने हुए महलों में निवास किया और मेघमुक्त उज्ज्वल चाँदनी में हास-विलास करके अपनी आत्मा को कृतार्थ माना। सरयू उसके महलों के पास ही थी। उसके वालुकामय तट पर हंस बैठे हुए थे। अतएव, उसका हंसरूपी करधनीवाला तट नितम्ब के सदृश जान पड़ता था और ऐसा मालूम होता था कि सरयू अग्निवर्ण की प्रियतमाओं के विलास की होड़ कर रही है। अग्निवर्ण उसकी शोभा को अपने महलों की खिड़कियों से देख देख प्रसन्न होता।

जाड़े आने पर अग्निवर्ण ने अपनी प्रियतमाओं को अगर से सुवासित सुन्दर वस्त्र स्वयं धारण कराये। उन्हें पहनने पर उन स्त्रियों की कमरों में सोने की जो मेखलायें पड़ी थीं वे उन वस्त्रों के भीतर स्पष्ट झलकती हुई दिखाई देने लगीं। उन्हें देख कर अग्निवर्ण के आनन्द की सीमा न रही। वह, इस ऋतु में, अपने महलों के भीतरी भाग के कमरों में, जहाँ पवन की ज़रा भी पहुँच न थी, रहने लगा। वहाँ पवन का प्रवेश न होने के कारण, जाड़े की रातों ने, दीपकों की निश्चल-शिखारूपी दृष्टि से, अग्निवर्ण के भोग-विलास को आदि से अन्त तक देखा—देखा क्या मानों उसकी कामुकता की गवाह सी होगई।

वसन्त आने पर दक्षिण दिशा से मलयानिल चलने लगा। उसके चलते ही आम के वृक्ष कुसुमित हो गये। उनकी कोमल-पल्लव-युक्त मञ्जरियों को देखते ही अग्निवर्ण की अबलाओं के मान आपही आप छूट गये। उन्हें अग्निवर्ण का विरह दुःसह होगया। अतएव, वे उलटा अग्निवर्ण को ही मना कर उसे प्रसन्न करने लगीं। तब उसने झूले डला दिये। दासियाँ झुलाने लगीं और वह अपनी अबलाओं के साथ झूले का सुख लूटने लगा।

वसन्त बीत जाने पर अग्निवर्ण की प्रियतमाओं ने ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल शृङ्गार किया:—उन्होंने शरीर पर चन्दन का लेप लगा कर, मोती टके हुए सुन्दर आभूषण धारण करके, और, मणिजटित मेखलायें कमर में पहन कर, अग्निवर्ण को जी खोल कर रिझाया। अग्निवर्ण ने भी ग्रीष्म के अनुकूल उपचार आरम्भ कर दिये। आम की मञ्जरी डाल कर बनाया हुआ और लाल पाटल के फूलों से सुगन्धित किया हुआ मद्य उसने ख़ूब ही पान किया। अतएव, वसन्त चले जाने के कारण उसके शरीर में जो क्षीणता आ गई थी वह जाती रही और उसके मनोविकार फिर पूर्ववत् उच्छृङ्खल हो उठे।

इस प्रकार जिस ऋतु की जो विशेषता थी—जिसमें जैसे आहार-विहार की आवश्यकता थी—उसी के अनुसार अपने अपने शरीर को अलङ्कृत और मन को संस्कृत करके उसने एक के बाद एक ऋतु व्यतीत कर दी। इन्द्रियों के सुख-सेवन में वह यहाँ तक लीन हो गया कि और सारे काम वह एकदम ही भूल गया।

अग्निवर्ण के इस दशा को पहुँचने पर भी—उसके इतना प्रमत्त होने पर भी—दूसरे राजा लोग, अग्निवर्ण के प्रबल प्रभाव के कारण, उसे जीत न सके। परन्तु रोग उस पर अपना प्रभाव प्रकट किये बिना न रहा। अत्यन्त विषय-सेवा करते करते उसे क्षय-रोग हो गया। दक्ष के शाप से क्षीण हुए चन्द्रमा की तरह अग्निवर्ण को उस रोग ने क्षीण कर दिया। जब वैद्यों ने राजा के शरीर में रोग का प्रादुर्भाव देखा तब उन्होंने उसे बहुत कुछ समझाया बुझाया। परन्तु उसने उनकी एक न सुनी। कामोद्दीपक वस्तुओं के दोषों को जान कर भी उसने उनको न छोड़ा। बात यह है कि जब इन्द्रियाँ सुस्वादु विषयों के वशीभूत हो जाती हैं तब उन्हें छोड़ना कठिन

हो जाता है। अग्निवर्ण की कामुकता का फल यह हुआ कि राजयक्ष्मा, अर्थात् क्षय-रोग, ने अपना बड़ा ही भीषण रूप प्रकट किया। उसका मुँह पीला पड़ गया। शरीर पर धारण किये हुए दो एक छोटे छोटे आभूषण भी बोझ मालूम होने लगे। स्वर धीमा हो गया। बिना दूसरे के सहारे चार क़दम भी चलना कठिन हो गया। सारांश यह कि कामियों की जैसी दशा होनी चाहिए वैसीही दशा उसकी हो गई। अग्निवर्ण के इस प्रकार उग्र राज-रोग से पीड़ित होने पर उसका वंश विनाश की सीमा के बहुत ही पास पहुँच गया। वह चौदस के चन्द्रमावाले आकाश के समान, अथवा कीच मात्र बचे हुए ग्रीष्म के अल्प जलाशय के समान, अथवा नाम मात्र को जलती हुई ज़रा सी बत्तीवाले दीपक के समान होगया।

राजा की बीमारी की सुगसुग प्रजा को लग चुकी थी। अतएव, मन्त्री लोग डरे कि कहीं ऐसा न हो जो राजा को मर गया समझ प्रजा उपद्रव मचाने लगे। यह सोच कर उन्होंने राजा के उग्र रोग का सच्चा हाल यह कह कर प्रति दिन प्रजा से छिपाया कि राजा इस समय पुत्र के लिए एक यज्ञ कर रहा है; इसीसे वह प्रजा को दर्शन नहीं देता।

अग्निवर्ण के यद्यपि अनेक रानियाँ थीं तथापि उसे पवित्र सन्तति का मुख देखने को न मिला। एक भी रानी से उसे सन्तति की प्राप्ति न हुई। उधर उसका रोग दिन पर दिन बढ़ता ही गया। वैद्यों ने यद्यपि रोग दूर करने के यथाशक्ति बहुत उपाय किये तथापि उनका सारा परिश्रम व्यर्थ गया। दीपक जैसे प्रचण्ड पवन के झकोरे को नहीं जीत सकता वैसेही अग्निवर्ण भी अपने रोग को न जीत सका। रोग ने उसके प्राण लेकर ही कल की। तब मन्त्री लोग राजा के शव को महलों के ही उद्यान में ले गये और मृतक-कर्म के ज्ञाता पुरोहित को बुला भेजा। वहीं उन्होंने उसे चुपचाप जलती हुई चिता पर रख दिया और प्रजा से यह कह दिया कि राजा की रोगशान्ति के लिए उद्यान में एक अनुष्ठान हो रहा है।

तदनन्तर, मन्त्रियों को मालूम हुआ कि अग्निवर्ण की प्रधान रानी गर्भवती है। अतएव, उन्होंने प्रजा के मुखियों को बुलवाया। उन्होंने भी रानी को शुभ गर्भ के लक्षणों से युक्त पाया। तब सबने एकमत होकर

रानी को ही राज्य का अधिकार दे दिया—उसीको राजलक्ष्मी सौंप दी। वंश की विधि के अनुसार रानी का तुरन्त ही राज्याभिषेक हुआ। राजा की मृत्यु के कारण रानी की आँखों से गिरे हुए विपत्ति के उष्ण आँसुओं से जो गर्भ तप गया था उसे, राज्याभिषेक के समय, कनक-कलशों से छूटे हुए शीतल जल ने ठंढा कर दिया।

रानी की प्रजा बड़े चाव से उसके प्रसव-काल की राह देखने लगी। रानी भी अपने गर्भ को—पृथ्वी जैसे सावन के महीने में बोये गये बीजांकुर को धारण करती है—प्रजा के वैभव और कल्याण के लिए, बड़े यत्न से कोंख में धारण किये रही; और, सोने के सिंहासन पर बैठी हुई, बूढ़े बूढ़े मन्त्रियों की सहायता से, अपने पति के राज्य का विधिपूर्वक शासन भी करती रही। उसने इस योग्यता से शासन कार्य किया कि उसकी आज्ञा उल्लङ्घन करने का कभी किसी को भी साहस न हुआ।

इति